# भारत का आर्थिक संकट
# और समाधान

# भारत का आर्थिक संकट और समाधान

बिमल जालान

अनुवाद

नरेश 'नदीम'

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-0648-0

---

पहला संस्करण : 1993
दूसरी आवृत्ति : 2001 (*शक* 1923)

**रु. 40.00**
Original title : India's Economic Crisis : The Way Ahead
Hindi translation : Bharat Ka Aarthik Sankat Aur Samadhan
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित

---

*प्रतीक, मधु और निधि*

*के नाम*

*जो*

*हमारी छोड़ी धरोहर के उत्तराधिकारी होंगे*

# विषय-सूची

# मूल अंग्रेजी संस्करण की भूमिका

मैंने इस पुस्तक का आरंभ वाशिंगटन में 1989 में किया था। तब मैं अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के बोर्ड में भारत के कार्यकारी निदेशक के रूप में कार्य करता था। तब अनेक विकासशील देश, और खासकर लेटिन अमरीका और अफ्रीका के देश, गंभीर आर्थिक कठिनाइयों से जूझ रहे थे और कोष से वित्तीय सहायता चाहते थे। उनमें से अनेक देशों ने वाणिज्यिक बैंकों से भारी ऋण ले रखे थे, कुछ देश प्रतिकूल बाहरी घटनाओं से प्रभावित हुए थे और लगभग सभी अपनी आर्थिक नीतियों और विकास संबंधी रणनीतियों का पुनर्मूल्यांकन कर रहे थे। जांबिया, वेनेजुएला और स्पेन जैसे देशों के अनेक नेताओं ने, जिनका रुझान निश्चित रूप से समाजवादी था, यह घोषित कर दिया था कि वे राजकीय हस्तक्षेप में भारी कमी और बाजार पर अपेक्षाकृत अधिक निर्भरता के समर्थक हैं। सोवियत संघ, चीन, हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और वियतनाम में भी गंभीर आर्थिक परिवर्तन हो रहे थे। इन घटनाक्रमों के बीच भारत की आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत शांत लगती थी–कम से कम ऊपर से देखने पर। लेकिन सरकारी और सरकार से बाहर के अर्थशास्त्रियों को एहसास था कि अंदरूनी आर्थिक स्थिति काफी बिगड़ चुकी है–खास तौर पर वित्तीय स्थिति और भुगतान का संतुलन–और तत्काल कदम उठाने जरूरी हैं। मेरा मूल उद्देश्य यह था कि विकास के मुद्दों पर हाल में हुए अकादमिक अनुसंधानों और दूसरे विकासशील देशों के अनुभवों, दोनों की रोशनी में भारत की दीर्घकालीन विकास-रणनीति और नीतियों की गहराई से छानबीन करूं। मुझे लगता था कि भारत ने जिन आर्थिक रणनीतियों को चुना था, वे उसके विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में अपरिहार्य थीं। फिर भी, भारत की राजनीतिक अर्थव्यवस्था में घटित परिवर्तनों तथा हमारे अतीत के संचित अनुभवों के प्रकाश में कुछ बुनियादी मुद्दों पर पुनर्विचार करना अब आवश्यक था।

पुस्तक के लेखन में एक साल तक व्यवधान रहा। इसका कारण एक नये

आधिकारिक दायित्व का आ पड़ना था। इस काम को मैं फिर नयी दिल्ली में दिसंबर 1990 में आरंभ कर सका। इस बीच भारत में दो-दो सरकारें बदल चुकी थीं। अनेक ऐसी महत्वपूर्ण घरेलू घटनाएं भी घटीं जिन्होंने देश की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव डाला। अर्थव्यवस्था पहले ही कठिनाई की स्थिति से गुजर रही थी; खाड़ी युद्ध के बाद तो वह भारी वित्तीय संकट का शिकार हो गयी। इन घटनाक्रमों के कारण इस पुस्तक के केंद्रबिंदु और विषय-सामग्री में कुछ परिवर्तन आया। अब लगा कि तात्कालिक संकट पर तथा उसके मध्यकालिक समाधान के लिए आवश्यक नीतियों पर पहले से अधिक ध्यान देना आवश्यक है।

पुस्तक एक ऐसे अर्थशास्त्री के परिप्रेक्ष्य से लिखी गयी है जो प्रशासन और नीतिनिर्माण की प्रक्रिया से जुड़ा था। मेरी खोज भारत में विद्यमान बहुदलीय संसदीय लोकतंत्र की सीमाओं में रहते हुए समष्टिगत आर्थिक नीतियों और रणनीतियों की समस्याओं के कुछ व्यावहारिक समाधान पाने के लिए है। इसमें दूसरे देशों के अनुभवों और अकादमिक अनुसंधानों के परिणामों पर भी ध्यान देने की कोशिश की गयी है, लेकिन केंद्रबिंदु यही है कि **क्या संभव है** और **क्या किया जाना चाहिए**। अगर भारत की वर्तमान दशक की आर्थिक नीति संबंधी प्राथमिकताओं पर सहमति तैयार करने में यह पुस्तक थोड़ा भी योगदान दे सकी तो मैं अपने श्रम को पर्याप्त सार्थक समझूंगा। पुस्तक भारत के बारे में है। फिर भी, आशा है कि दूसरे विकासशील देशों और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अर्थशास्त्री भी इसके कुछ अंशों को रोचक पायेंगे।

मेरे ऊपर अपने अनेक मित्रों, सहकर्मियों और साथी अर्थशास्त्रियों का भारी बौद्धिक ऋण है। विशेष रूप से, प्रणव बर्धन और कौशिक बसु ने अल्प समय में ही पुस्तक का मसौदा पढ़ा और उस पर अपनी टिप्पणियां कीं। आनंदरूप रे, विनोद दूबे और ओक्टे येनल ने वाशिंगटन में पुस्तक के कुछ अध्यायों का एक मसौदा पढ़ने की कृपा की थी। श्रीनिवास मधुर, जगमोहन बजाज और डी. अमरनाथ ने अनेक प्रकार से मेरी अत्यधिक सहायता की। पुस्तक की त्रुटियों के लिए उत्तरदायी मैं स्वयं हूं।

हेफ्जी ओहल ने वाशिंगटन में कुछ अध्याय टाइप किए थे। दिल्ली में तामल चटर्जी ने बड़े सुंदर ढंग से पूरी पुस्तक को प्रेस के लिए तैयार किया। मैं दोनों का आभारी हूं।

पुस्तक में व्यक्त विचार सरकार अथवा आर्थिक सलाहकार परिषद्, जिसके साथ मैं इस समय जुड़ा हुआ हूं, के न होकर मेरे अपने हैं।

*नयी दिल्ली*
*15 मई 1991*

—बिमल जालान

## पुनश्च

पुस्तक के प्रेस में जाने के बाद भारत में एक बार फिर सरकार बदल चुकी है। नयी सरकार ने 21 जून, 1991 को सत्ता संभाली और कुछ ही समय के अंदर उसने अनेक नयी आर्थिक नीतियों की घोषणा की। दो चरणों में रुपये का अवमूल्यन, व्यापार-नीति में कुछ प्रमुख सुधार, विदेशी पूंजी निवेश संबंधी नियमों का उदारीकरण, और औद्योगिक लाइसेंस-प्रणाली की लगभग पूरी तरह समाप्ति ऐसे ही कुछ कदम थे। 24 जुलाई, 1991 को 1991-92 का बजट प्रस्तुत हुआ। इसमें राजकोषीय समायोजन संबंधी अनेक उपायों की घोषणा की गयी थी जिनमें उर्वरकों पर दी जाने वाली सहायिकियों में कटौती तथा निर्यात पर दिए जानेवाले नकद अनुदान की समाप्ति शामिल थे। आर्थिक नीतियों में होने वाले इन तथा अन्य परिवर्तनों को देखते हुए स्वाभाविक रूप से यह सवाल उठा कि क्या इस पुस्तक के एक नये संस्करण के लिए इसकी मूल सामग्री में संशोधन आवश्यक है।

सोच-विचार के बाद मैंने मूल सामग्री को ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया है (केवल टंकण की कुछ गलतियों को ही ठीक किया गया है)। जैसाकि मैंने पहले संस्करण की भूमिका में कहा था, मेरा प्रयास यह रहा है कि विकास की नीतियों और रणनीतियों के कुछ दीर्घकालीन प्रश्नों के प्रकाश में भारत की वर्तमान समस्याओं पर विचार किया जाए। मुझे लगा कि बहुत हाल के इन नीतिगत परिवर्तनों के कारण दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में संशोधन करने की कोई आवश्यकता नहीं, कारण कि इन नीतियों के निहितार्थ अभी सामने नहीं आए हैं। मुझे लगा कि पाठक के लिए भी इसकी छानबीन करना थोड़ा-बहुत रोचक होगा कि जो पुस्तक मई-जून 1991 के आम चुनावों से पहले प्रेस में भेजी गयी थी, क्या उसमें प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य सरकार द्वारा घोषित नयी नीतियों के अनुरूप था ? प्रस्तुत पुस्तक लिखते समय मुझे इन नयी नीतियों का कोई ज्ञान नहीं था और न ही अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के साथ सरकार की हाल की बातचीत का कोई ज्ञान था। मुझे आशा है कि यह पुस्तक वर्तमान दशक में भारत के लिए उपलब्ध आर्थिक नीति संबंधी विकल्पों पर तटस्थ विचार-विमर्श में अपना योगदान कर सकेगी।

*अक्तूबर 1991* —**बिमल जालान**

## हिंदी संस्करण का प्राक्कथन

इस पुस्तक के हिंदी अनुवाद में, अपरिहार्य कारणों से, लगभग दो वर्ष का विलंब हो गया है। इस बीच, भारतीय अर्थव्यवस्था में आमूल परिवर्तन हुआ है। 1990-91 का संकट समाप्त हो गया है और अर्थव्यवस्था का पर्याप्त उदारीकरण हुआ है। हमारी अर्थव्यवस्था को, जो केंद्र द्वारा निदेशित और अत्यधिक नियंत्रित थी, एक नया रुख देकर 'बाजारोन्मुख' और अपेक्षाकृत अधिक मुक्त बनाने के पक्ष में पर्याप्त बौद्धिक सहमति भी दिखाई दे रही है। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक ने, जो आर्थिक सुधारों की वर्तमान प्रक्रिया आरंभ होने के पहले ही 1991 में प्रकाशित हुई थी, अर्थव्यवस्था के प्रबंध के प्रति हमारे दृष्टिकोण में आए परिवर्तन में किंचित् योगदान अवश्य किया है।

यद्यपि अर्थव्यवस्था को सुधारने और सुस्थिर बनाने के लिए आरंभिक कदम उठाए जा चुके हैं पर हमें अब संवृद्धि की दीर्घकालीन दर को त्वरित करने, बचत में वृद्धि करने और निर्यातों को बढ़ाने के लिए उपाय करने की जरूरत है। साथ ही, संसाधनों के उपयोग की कुशलता को बढ़ाने और सरकारी कार्यकलाप को सार्वजनिक उद्यमों के वाणिज्यिक उत्पादन से हटाकर शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सामाजिक क्षेत्रों में अधिकाधिक निवेश की ओर उन्मुख करने की तत्काल आवश्यकता है। 1991 के संकट ने जहां इस पुस्तक में उठाए गए प्रश्नों पर विचार करने के लिए तात्कालिक प्रतिवेश उपलब्ध किया था वहां इसमें सुझाई गयी नीतियों और परिप्रेक्ष्य का महत्व दीर्घकालीन है।

अर्थव्यवस्था के सुधार के लिए कई साल तक लगातार कार्रवाई करनी होगी। मुझे आशा है कि प्रकाशन में होने वाले विलंब के बावजूद इस संस्करण के पाठकों को यहां प्रस्तुत सामग्री वर्तमान समस्याओं और भारत को उपलब्ध आर्थिक नीतिगत विकल्पों के संदर्भ में काफी उपयोगी और दिलचस्प लगेगी।

*5 अगस्त 1993* —बिमल जालान

# प्रस्तावना

वर्ष 1990-91 स्वाधीन भारत के आर्थिक इतिहास के सबसे कठिन वर्षों में से एक रहा है। दिसंबर 1989 में जब एक नयी सरकार सत्ता में आयी, तब राजकोषीय घाटा बहुत अधिक था और विदेशी मुद्राभंडार काफी कम था (यह केवल छह सप्ताहों के आयात का खर्च उठा सकता था)। मार्च 1990 में प्रस्तुत बजट ने राजकोषीय घाटे को कम करने और भुगतान-संतुलन की स्थिति में कुछ सुधार लाने का प्रयास किया। कुछ समय तक लगा कि आर्थिक स्थिति मे किंचित् सुधार हो रहा है। अगस्त 1990 तक रोजकोषीय घाटा पिछले वर्ष के मुकाबले काफी-कुछ कम हो चुका था। विदेशी मुद्राभंडार में भी जरा सी वृद्धि हुई (जबकि पिछले वर्ष इसके अनुरूपी काल में इसमें तेजी से कमी आयी थी)। लेकिन अगले कुछ महीनों में स्थिति नाटकीय ढंग से पलट गयी। 2 अगस्त 1990 को इराक ने कुवैत पर कब्जा कर लिया जिसके फलस्वरूप कच्चे तेल की कीमतें तेजी से चढ़ीं। छह सप्ताह के अंदर ही इसके दाम दोगुने हो चुके थे। खाड़ी-युद्ध तो बहुत दिनों तक नहीं चला मगर भारत की कमजोर अर्थव्यवस्था बुरी तरह लड़खडा गयी।

खाड़ी-युद्ध के प्रत्यक्ष आर्थिक प्रभाव घरेलू-सामाजिक-राजनीतिक घटनाक्रमों के कारण और भी प्रखर हो गये। सरकार ने 7 अगस्त 1990 को मंडल आयोग की रिपोर्ट को लागू करने की घोषणा की। इसके विरोध में छात्रों ने व्यापक आंदोलन किया और देश के अनेक भागों में कानून और व्यवस्था की स्थिति बिगड़ गयी। इसके बाद अयोध्या में राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद से जुड़ा विवाद उभरा। कोई चार सप्ताह तक विध्वंस, टकराव और गहरे तनाव की स्थिति रही। 7 नवंबर 1990 को सरकार का पतन इसका एक प्रत्यक्ष राजनीतिक परिणाम था। नवंबर के मध्य में एक और अल्पमत सरकार सत्ता में आयी। खाड़ी-संकट के साथ चला यह घटनाक्रम भारत की आर्थिक साध्यता में संसार के विश्वास को हिलाने के लिए काफी था।

देश के लिए विदेशों से ऋण लेना अधिकाधिक कठिन होता गया। अनिवासी भारतीयों द्वारा भेजे जाने वाले धन की मात्रा पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

नवे दशक में थोड़े समय के लिए ऐसा लगा था कि देश एक नये परिवर्तन के द्वार पर खड़ा है। 1988-89 के लिए भारत सरकार के आर्थिक सर्वेक्षण ने तो यहां तक घोषणा कर दी थी कि "भारतीय अर्थव्यवस्था संवृद्धि के एक नए मार्ग पर खड़ी है" (पृ. 1)। इस दशक की संवृद्धि-दर निश्चय ही पहले से अधिक थी और इलेक्ट्रानिकी जैसे अनेक जटिल उद्योगों के उत्पादन मे अच्छी-खासी वृद्धि के प्रमाण सामने आये थे। पूंजी बाजार उछाल पर था और 1985-90 के दौरान औद्योगिक संवृद्धि की औसत दर 8 प्रतिशत से अधिक थी। इस काल में नियंत्रण-प्रणाली का भी कुछ पुनर्मूल्यांकन किया गया था। अनेकों समितियां गठित की गयीं और उन्होंने व्यापार-नीति, सार्वजनिक क्षेत्र संबंधी नीति तथा 'भौतिक से वित्तीय नियंत्रण की दिशा में परिर्वतन लाने' के बारे में अपनी रिपोर्टें प्रस्तुत कीं (भारत सरकार 1978, 1979, 1985)। इनमें से प्रत्येक समिति ने सिफारिश की कि परिमाणात्मक नियंत्रणों के बजाय आर्थिक प्रबंध की राजकोषीय विधियों का व्यवहार किया जाए। इन समितियों की कई सिफारिशें लागू की गयीं और प्रत्यक्ष नियंत्रणों में पर्याप्त कमी आयी, खासकर औद्योगिक लाइसेंस-प्रथा के क्षेत्र में।

आज यह स्पष्ट है कि नवें दशक के इन नीतिगत परिवर्तनों के लाभ अस्थायी रहे हैं। औद्योगिक उत्पादन में हुई वृद्धि भुगतान-संतुलन के एक अभूतपूर्व संकट के कारण व्यर्थ होकर रह गयी है। विदेशी ऋण में काफी अधिक वृद्धि हुई है और चालू लेखा-घाटा भी बढ़ा है जिसने अर्थव्यवस्था को बाहरी और अंदरूनी झटकों के सामने काफी कमजोर बनाकर रख दिया है। विदेशी मुद्रा का भंडार पहले ही काफी कम था; सिंतबर से नवंबर 1990 के बीच इसमें लगभग 50 प्रतिशत की कमी आयी। विदेशी मुद्रा भंडार की इस गिरावट की दर में कमी लाने का मतलब था तेल तथा औद्योगिक कच्चे मालों और घटकों, दोनों के आयात में भरी कटौती करना। पेट्रोलियम उत्पादों के अंतराष्ट्रीय मूल्यों में हुई वृद्धि को पूरा करने के लिए उनके घरेलू मूल्य भी कसकर बढ़ाए गए। यह अपरिहार्य था। मगर इससे अर्थव्यवस्था में लागतों और कीमतों में वृद्धि हुई। 1990 के अंत तक आर्थिक स्थिति बहुत नाजुक हो चुकी थी। विदेशी मुद्राभंडार का पेंदा नजर आने लगा था, मुद्रास्फीति दो अंकों तक पहुंच चुकी थी और ऊपर ही चढ़ती जा रही थी तथा राजस्व घाटा तेजी से बढ़ रहा था। विरोधाभास यह है कि यह वित्तीय संकट तब आया था जब अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्र प्रत्यक्षतः काफी अच्छे परिणाम प्रदर्शित कर रहे थे। बढ़िया मानसून के कारण खेतिहर उत्पादन एक नयी ऊंचाई को पहुंच चुका था। औद्योगिक उत्पादन 8 प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी अधिक दर से बढ़ रहा था और निर्यात की स्थिति भी काफी अच्छी थी। लेकिन इस वित्तीय संकट का परिमाण ऐसा था कि महत्वपूर्ण क्षेत्रों की

उपलब्धिया विश्वास के डगमगाने और अंतर्राष्ट्रीय तरलता की कमी के कारण लगभग व्यर्थ हो गयीं।

18 जनवरी 1991 को भारत का विदेशी मुद्राभंडार मात्र 1666 करोड़ रुपयों का था। यह भारत जैसी बड़ी अर्थव्यवस्था मे केवल रोजमर्रा की नकदी की जरूरतें ही पूरी कर सकता था। अगर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से (लगभग 3200 करोड़ रुपयों* का) ऋण, जो जनवरी के मध्य में स्वीकृत हुआ, न मिला होता तो इसकी पूरी संभावना थी कि भारत अपने स्वातंत्र्योत्तर इतिहास में पहली बार अपनी अंतर्राष्ट्रीय देनदारियों के निर्वाह में चूक जाता।

1991 के आरंभ में आर्थिक स्थिति ऐसी ही निराशाजनक थी। भारत पहले भी बाहरी झटकों से प्रभावित हुआ था मगर पहले कभी अल्पकालीन स्थिति इतनी कठिनाई-भरी नही रही थी। ऐसी स्थिति पहले केवल 1958 मे आयी थी मगर उसमें एक अतर था। तब अंतर्राष्ट्रीय वातावरण विकास के अनुकूल था। प्रथम भारत सहायता सगठन 1959 मे बना था। दूसरी पंचवर्षीय योजना के लिए तब बहुपक्षीय संस्थाओं और द्विपक्षीय ऋणदाताओं, दोनो ने भारी सहायता दी थी। लेकिन 1991 में स्थिति बहुत बदली हुई है और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से पहले जैसा सहयोग नहीं मिल रहा है।

तात्कालिक आर्थिक संभावनाओं के सामने इस निराशाभाव की तह मे एक देशव्यापी भावना यह फैल गयी है कि हमने पिछले 40 वर्षों में अपनी अर्थव्यवस्था को जिस प्रकार चलाया है उसमें कही कुछ 'कमी' या दोष है। आर्थिक प्रगति अवश्य हुई है। लेकिन लगता है कि हमारी उपलब्धियां हमारी मूल आशाओं से काफी पीछे रह गयीं हैं। अर्थव्यवस्था एक से दूसरे सकट के बीच झकोले खाती नजर आती है। अभी भी घोर निर्धनता का राज है; व्यापक सामाजिक असमताएं बनी हुई हैं; सार्वजनिक और सामाजिक सेवाओं की गुणवत्ता गिरी है; क्षेत्रों के बीच भारी असंतुलन पाए जाते हैं; तथाकथित समानांतर अर्थव्यवस्था फलती-फूलती नजर आ रही है। और दूसरी ओर राज्य को भारी राजकोषीय सकट का तथा निवेश के लिए संसाधनों की कमी का सामना करना पड़ रहा है।

आज अल्पकालीन और दीर्घकालीन, दोनों प्रकार की समस्याए विकट रूप धारण किए हुए हैं। पिछले दो वर्षों के राजनीतिक-आर्थिक घटनाक्रमों के कारण इन समस्याओं से निपटने की क्षमता में कमी आयी है। अंतर्राष्ट्रीय वातावरण भी अनुकूल नहीं है। शीतयुद्ध की समाप्ति, जर्मनी के एकीकरण, मध्यपूर्व का संघर्ष और सोवियत संघ तथा पूर्वी योरप के घटनाक्रमों के कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक संतुलन का स्वरूप भी बदल गया है। इन परिवर्तनों के संदर्भ में आवश्यक है कि भारत

---

* 1990-91 में रुपये की औसत विनिमय दर एक अमरीकी डालर के बदले 17.95 रुपए थी।

की विकास संबंधी योजनाओं और नीतियों की कुछ बुनियादी और अंतःसंबंधित मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन किया जाए। इनमें सबसे पहले राज्य के स्वरूप संबंधी मान्यताएं आती हैं।

राजनीतिविज्ञान में और खासकर मार्क्सवादी साहित्य (देब्रे 1967; अलवी 1972; सौल 1979) में उपनिवेशोत्तर समाजों में राजसत्ता के स्वरूप पर कुछ ध्यान दिया गया है। उपनिवेशोत्तर सामाजिक संरचनाओं में राजसत्ता की भूमिका अधिकाधिक केंद्रीय हो गयी है और अब अर्थव्यवस्था के संदर्भ में उसकी एक महत्वपूर्ण स्थिति है। सौल (1979) के अनुसार प्रबल राजसत्ता के तीन महत्वपूर्ण लक्षण हैं। पहला, विकासशील समाजों की आधुनिक राजसत्ताओं का उद्‌गम औपनिवेशिक राजसत्ता में है। औपनिवेशिक राजसत्ता एक शक्तिशाली नौकरशाही-सैनिक तंत्र और सरकारी व्यवस्थाओं से लैस थी। उपनिवेशोत्तर समाजो और उनके नए शासकों को यही अतिविकसित तंत्र और उसके संस्थापित व्यवहार विरासत में मिले। यह तंत्र देशी सामाजिक वर्गों के क्रियाकलापों के नियमन और नियंत्रण का एक सुलभ साधन बन गया।

दूसरा, आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के नाम पर, उपनिवेशोत्तर राजसत्ता ने आर्थिक अधिशेष का एक काफी बड़ा भाग हथिया लिया और उसका निवेश नौकरशाही द्वारा निदेशित आर्थिक गतिविधियों में किया।

तीसरा, राजसत्ता ने दर्पपूर्वक एक महत्वपूर्ण वैचारिक प्रकार्य भी अपने ऊपर ले लिया; यह जताकर कि वह संकीर्ण वर्गीय और क्षेत्रीय हितो से परे है, वह सामाजिक संरचना की एकता का प्रतीक बन गयी और इस प्रकार उसने यथास्थिति को वैधता प्रदान की।

पांचवें और छठे दशक के प्रारंभिक विकास-संबंधी साहित्य ने इसी प्रकार उपनिवेशोत्तर राज्य को एक केंद्रीय भूमिका प्रदान की थी। लेकिन वहां प्रमुख धारणा एक हितकारी राज्य की थी जिसके बारे में आशा की जाती थी कि वह अपने पास उपलब्ध पर्याप्त सूचनाओं और जानकारी का लाभ उठाते हुए केवल समाज के हित में कार्य करेगा। राज्य से आशा की जाती थी कि वह समाज-कल्याण का बेंथमवादी प्रकार्य पूरा करेगा, बाजार तंत्र की कमियों को दूर करेगा और देशों को तीव्र विकास के रास्ते पर ले जाएगा।

राज्य की ठीक यही धारणा स्वातंत्र्योत्तर भारतीय नेतृत्व की भी थी। वास्तव में, राजनीतिक स्वतंत्रता को व्यापक निर्धनता के उन्मूलन तथा राज्य के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के द्वारा अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण का एक अपरिहार्य साधन माना गया। उदाहरण के लिए, दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956) इस बात को लेकर स्पष्ट थी कि

*विकास के स्वरूप और सामाजिक-आर्थिक संबंधों की संरचना इस प्रकार नियोजित*

*की जानी चाहिए कि उससे न केवल राष्ट्रीय आय और रोजगार में पर्याप्त वृद्धि हो बल्कि आय और धन संबंधी समता भी बढ़े। उत्पादन, वितरण, उपभोग और निवेश ही नहीं बल्कि वास्तव में सभी महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक संबंधों के बारे में प्रमुख निर्णय उन संस्थाओं द्वारा लिये जाने चाहिए जो एक सामाजिक उद्देश्य की चेतना रखते हों (पृ. 22)।*

अधिकतम कल्याणकारी राज्य की यह मान्यता आज अयथार्थ सिद्ध हो चुकी है। सार्वजनिक वरण संबंधी हाल के साहित्य में विकासशील और औद्योगिक, दोनों प्रकार के समाजो में राज्य की वास्तविक प्रकृति को लेकर एक जीवंत बहस चल चुकी है। मैंकर ओल्सों (1982) का 'वितरण संबधी गठबंधनों' पर प्रस्तुत प्रबंध खासतौर पर प्रभावपूर्ण रहा है। ओल्सों का तर्क यह है कि इन गठबंधनों का मुख्य सरोकार अतिरिक्त उत्पादन से न होकर आय और धन के वितरण को लेकर होनेवाले संघर्षों से रहा है। संगठनों पर विस्तारित 'मुफ्तखोरी' के तर्क के अनुसार किसी समाज की प्रारूपिक लॉबी प्रायः एक संकीर्ण, विशेष हितबद्ध गुट या वितरण संबंधी गठबंधन होती है। यदि यह गुट समाज में उत्पादन के विस्तार के लिए किन्हीं संसाधनों का व्यय करता है तो उसमे शेष समाज भी भागीदार होता है। दूसरी ओर, अगर यही संसाधन किसी समाज के उत्पादन को स्वयं के हित में पुनर्वितरित करने पर व्यय किए जाएं तो उसके लाभ पूरी तरह उसी गुट को प्राप्त होते हैं।

आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार के पास्परिक संबंधों के एक रोचक विश्लेषण में बर्धन (1984) ने ओल्सों की प्रस्थापना का विस्तार किया है। उन्होंने इसे समकालीन भारत के तीन प्रमुख वर्गो के एक विशाल और विषमांगी गठबंधन पर लागू किया है (इन वर्गों को बहुआयामी निषेधाधिकार प्राप्त हैं)। ये वर्ग हैं उद्योगपति, धनी कृषक तथा शिक्षित पेशेवर लोग जिनका मुख्य आर्थिक आधार सार्वजनिक रोजगार है। बर्धन के विचार में भारतीय राज्य का नीतिपुंज इन्हीं विषम समूहों के गठबंधन की अभिव्यक्ति है। सरकार का बजट इसी प्रबल गठबंधन के विभिन्न घटकों के बीच प्रकट ओर प्रच्छन्न सहायिकियों के वितरण की एक भारी-भरकम व्यवस्था है, चाहे यह सार्वजनिक रोजगार, नियंत्रित ऋणों, उर्वरक इमदाद या दूसरे प्रकार की सहायिकियों आदि किसी भी रूप में हों। इन प्रबल समूहों के बीच अतःसंबद्ध सौदेबाजियों की प्रणाली से अनेकानेक टकराव उत्पन्न होते हैं जिनमें मध्यस्थता की आवश्यकता पड़ती है। इन टकरावों के कारण राजनीतिक नेतृत्व को हस्तक्षेप करने तथा उत्पन्न लाभों के एक अंश को हड़पने का अवसर मिलता है। राजनीति इस अर्थ में स्वायत नहीं रह जाती कि वह सुसंगत नीतियों के निर्धारण और क्रियान्वयन की एक प्रक्रिया प्रस्तुत कर सके।

ओल्सों-बर्धन की यह प्रस्थापना हाल के वर्षों की राजकीय नीतियों के विकास की व्याख्या के लिए प्रासंगिक है। 1985 के बाद क्रमशः सत्तासीन तीन सरकारों ने

आर्थिक संकट की गंभीरता को स्वीकारा है तथा उसके दो मूल कारण बतलाए हैं—खासतौर पर सहायिकियो के कारण सार्वजनिक गैरयोजना व्यय में होनेवाली वृद्धि और सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में होनेवाले घाटे। क्रमशः नियुक्त वित्तमंत्रियों ने अपने बजट भाषणों में घाटों पर अंकुश लगाने की प्रतिबद्धता जताई है। इस उद्देश्य के लिए मंत्रिमंडलीय समितियों समेत अनेक समितियां भी गठित हुई हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के घाटे कम करने तथा इन उद्यमों को कार्यकारी स्वायत्तता प्रदान करने के लिए भी ऐसी ही प्रतिबद्धताएं व्यक्त की गयी हैं। लेकिन वास्तव में बजट घाटे बढ़ते गए हैं। इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र के घाटे भी बढ़ते रहे हैं। 1990-91 में केंद्र का राजस्व घाटा बढ़कर सकल घरेलू उत्पाद का 8.6 प्रतिशत हो चुका था जो अपने-आपमें एक रिकार्ड था। पक्के आश्वासनों के बावजूद इन समस्याओं के समाधान में सरकार की असमर्थता स्पष्टतः विभिन्न हितबद्ध समूहों की आपसी खींचतान के कारण है। राजनीतिक निर्णयकर्ताओ, नौकरशाहों, मजदूर संघों और उद्योग के बीच हितों का एक गठबंधन दिखाई देता है। सरकार और सार्वजनिक क्षेत्र के बेतहाशा खर्च से इन सभी को फायदा पहुंचता है। मौरिस (1991) ने सार्वजनिक क्षेत्र की कारगुजारी पर उसके तथा राज्य के अप्रकार्यात्मक संपर्क के प्रभावों की पड़ताल की है। उनका कथन इस प्रकार है :

> *अगर हम भारतीय राज्य को विभिन्न समूहों—बड़े पूंजीपतियों, छोटे पूंजीपतियों और मध्य वर्गों तथा कृषकों—का एक गठबंधन मान लें तो यह सुविदित है कि ऐसे राज्य को बड़े-बड़े समझौते और समायोजन करने होंगे, नीतियों ही नहीं बल्कि उनके क्रियान्वयन की दृष्टि से भी। कानूनों की खामियों और नीतियों के अंतर्विरोध समूहों के संकीर्ण हितों को साधने के जरिए बन जाते हैं जो संभव है कि विचारधारा की दृष्टि से उचित न ठहराए जा सकें। ऐसे राज्य को प्रशासन पर भारी खर्च करना पड़ता है। इसका कारण यही नहीं है कि विभिन्न समूहों के हितों के बीच संतुलन स्थापित करना आवश्यक होता है बल्कि इसलिए भी कि यह क्रिया एक न्यायसंगत और 'वस्तुगत' प्रक्रिया के रूप में दिखाई दे। इसीलिए 'तटस्थ' और प्रबुद्ध तत्वों का चोला पहनाकर नौकरशाहों को महती शक्ति से संपन्न पदों पर नियुक्त कर दिया जाता है। मध्यस्थता तथा समायोजन की तथा अपेक्षाकृत संकीर्ण नीतियों और प्रावधानों को लफ्फाजी और विचारधारा से मेल खाते स्वरूप में प्रस्तुत करने की तात्कालिक जिम्मेदारी इन्हीं नौकरशाहों के ऊपर होती है (मॉरिस 1991, अनुलेखित)।*

भारत में राजकीय कार्यवाही के वैकल्पिक सामाजिक-राजनीतिक सिद्धांत प्रस्तुत करने वाले हैं : लिप्टन ('नगरीय अभिनति' के रूप में) तथा 'अधिशेषयाचकों' के रूप में भगवती और श्रीनिवास तथा अन्य (देखें, टोए 1988, रुबिन 1985)। यद्यपि भारतीय राजसत्ता के व्यवहार की पूरी-पूरी व्याख्या इनमें से किसी भी सिद्धांत

से नहीं होती, पर विकास की नीतियों की भावी दिशा पर विचार करते समय राजनीतिक प्रक्रिया के व्यवहारगत स्वरूप पर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। ऐसा नहीं माना जा सकता कि राज्य पूरे समाज के लाभार्थ, परस्पर टकराने वाले हितों में तालमेल बिठानेवाला एक तटस्थ सगठन है। 26 जनवरी 1991 को अपने गणतंत्र दिवस के अभिभाषण में भारत के राष्ट्रपति ने 'हमारी राज्य-व्यवस्था के उभरते रूप' का जिक्र किया था; इसके बारे में बदलती धारणा भी एक ऐसा प्रासंगिक तत्व है जिस पर ध्यान देना आवश्यक है। राष्ट्रपति महोदय ने भारत के ससदीय जनतंत्र के स्वरूप में हाल मे हुए परिवर्तनों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा था कि "किसी बहुदलीय राजनीतिक प्रणाली में संभवतः राष्ट्रहित में साझा सरकारों के गठन से बचा नहीं जा सकता।" (भारत के राष्ट्रपति का अभिभाषण, पृ. 10)। नवें दशक मे आर्थिक नीतियों और रणनीति के निर्धारण में राजनीतिक स्थिति में होनेवाले परिवर्तन तथा सरकारों के स्थायित्व के बारे में अंतर्निहित मान्यता भी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

भारतीय योजनाओं और विकास संबंधी आरंभिक साहित्य की एक बुनियादी मान्यता यह थी कि केंद्र से ग्राम स्तर तक प्रशासन के विभिन्न स्तरों को सौंपे गए कार्यों का निर्वाह करने के लिए प्रशासन भरपूर चुस्ती और पहल का प्रदर्शन करेगा। आशा की जाती थी कि इन विभिन्न कार्यों को पूरा करने के लिए प्रशासन पूर्ण सामंजस्य और समन्वय के साथ काम करेगा। हमारे आरंभिक योजनाकर्मियों को इसका श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने जिस रणनीति की परिकल्पना की थी उसकी व्यापक प्रशासकीय आवश्यकताओं को भी उन्होंने स्वीकार किया था। मिसाल के लिए, दूसरी पंचवर्षीय योजना में एक पूरा अध्याय 'प्रशासनिक कार्य और संगठन' की रूपरेखा के बारे में था। इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया था कि "यद्यपि नीतियों के बारे मे पर्याप्त सहमति है पर इस बात को लेकर सदेह व्यक्त किया जाता है कि क्या प्रशासनिक कार्यवाही इतनी विस्तृत और गुणवत्ता के साथ काम करेगी जितनी कि दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा स्वीकार किए गए दायित्वों के निर्वाह के लिए आवश्यक है।"

प्रशासनिक खामियों के बारे में व्यक्त यह संदेह सत्य सिद्ध हुआ है। उदाहरण के लिए, तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961) में कहा गया था कि "प्रशासनिक ढांचे पर काफी ज़ोर पड़ चुका है और गठन अनेक स्थानों पर, उपलब्ध कार्मिक गुणवत्ता और संख्या की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है" (पृ. 277)। इसमें यह भी सहज रूप में स्वीकार किया गया था कि प्रशासनिक दायित्वों का विस्तार स्वयं ही अदक्षता और विलंब का एक महत्वपूर्ण कारण है। "जब प्रशासनिक संरचना पर बड़ी जिम्मेदारियां डाल दी जाती हैं तो आकार बढ़ता है और जैसे-जैसे उसका आकार बढ़ता है, उसके काम की रफ्तार धीमी होती जाती है। जब विलंब होता है तो प्रत्येक चरण पर काम

में बाधा आती है तथा प्रत्याशित परिणाम और भी टल जाते है" (पृ. 277)। इतने वर्षो में प्रशासन का आकार कई गुना बढा है। कारण कि राज्य द्वारा स्वीकार किए गए दायित्वो का भी विस्तार हुआ है। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985) में कहा गया था कि :

*निर्णयकार्य के स्तर बहुत अधिक हैं जिनसे देरी होती है मगर आवश्यक नहीं कि निर्णय की गुणवत्ता भी बढ़ती हो...निर्णयकार्य का अतिकेंद्रीकरण उन बैठकों की बड़ी संख्या में व्यक्त होता है जो मुख्यालय में निरंतर होती रहती हैं...समन्वय (का अभाव) हमारी प्रणालियों की एक खास कमजोरी है (पृ. 419)।*

इस अनुभव के बावजूद प्रशासनिक हस्तक्षेप को कम करने में कम ही प्रगति हुई है। विकास के अनुभवों के अनेक अध्ययनों में प्रशासनिंक असफलता की आर्थिक लागतों की पड़ताल की गयी है। प्रशासनिक विलंब और अनिर्णय की लागतों की एक आरंभिक विवेचना लिटिल शितोव्स्की और स्काट (1970) ने की थी। अनेक विकासशील देशों के अनुभवों की विस्तृत समीक्षा के आधार पर यह कृति प्रमुख आर्थिक लागतों की पहचान इस प्रकार करती है–पूंजी और उत्पादन के अनुपातों में वृद्धि, पूंजीनिर्माण की धीमी गति तथा अनुत्पादक कार्यों में दुर्लभ प्रशासनिक श्रमशक्ति और उद्यमशीलता की बरबादी। रिश्वत और दूसरे गलत काम इसकी एक और लागत हैं। ये लागतें मात्र वित्तीय ही नहीं हैं; भ्रष्टाचार एक ऐसी लागत है जो भेदक नीति संबंधी उपायों के उद्देश्यों की प्राप्ति को अक्सर कठिन या असंभव बना देती है।

प्राथमिकताओं और नीतियों के बीच कड़ी का अभाव पुरानी रणनीति का एक और दोष रहा है। प्राथमिकताएं तो स्पष्ट रही हैं मगर उनकी प्राप्ति के लिए चुने गए साधन वांछित परिणाम नहीं दे सके हैं। सोवियत नमूने पर आधारित निर्देशमूलक आयोजना ऐसी अर्थव्यवस्था में निवेशों के निदेशन के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हुई है जिसमें निजी स्वामित्व का वर्चस्व है और जहां न्याय और कानून का तंत्र व्यक्तियों के लिए चयन की स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है। प्रत्यक्ष नियंत्रण और भौतिक आबंटन की प्रणाली मूलतः उन प्रावधानों से उपजी है जो द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान लागू किए गए थे। यह प्रणाली स्पष्ट प्राथमिकताओं के अनुसार निवेशों का निदेशन करने के बजाय प्रतियोगिता को रोकने में अधिक सफल रही है। योजनाओं में भौतिक उत्पादन के लिए निर्धारित लक्ष्यों तथा समष्टिगत आर्थिक नीतियों, खासकर तटकर और राजस्व की नीतियों के बीच एक द्विभाजन रहा है। अध्ययनों से पता चलता है कि कई तथाकथित वरीयताप्राप्त उद्योगों को बहुत कम या नकारात्मक संरक्षण मिला है जिससे उनकी अपेक्षित संवृद्धि नहीं हो सकी। दूसरी ओर, अ-वरीयताप्राप्त उद्योगों को बहुत अधिक और कारगर संरक्षण मिलता रहा (केलकर और कुमार,

1990)। आय का एक बेहतर वितरण सुनिश्चित करने के लिए हमारी योजनाओं ने राजकोष प्रणाली को एक अहम भूमिका सौंपी थी। पर गत वर्षों के दौरान राष्ट्रीय आय में प्रत्यक्ष करों का अनुपात वास्तव मे कम होता गया है (लांग-टर्म फिस्कल पालिसी, 1985)। खेती को बहुत अधिक प्राथमिकता दी जाती रही है। फिर भी, खेतिहर निर्यातों को हतोत्साहित किया गया या एकदम प्रतिबंधित कर दिया गया जिससे कृषको की आय घट गयी। आयात पर निर्भरता कम करने के लिए योजनाओं में आयात प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित किया गया। लेकिन औद्योगिक और प्रशुल्क नीतियों ने आयातित घटको और कच्चे माल के आधार पर घरेलू बाजार के लिए घरेलू विनिर्माण कार्य को प्रोत्साहित किया (देखें जोसेफ, 1989)। नीतियों और प्राथमिकताओ के ऐसे असामजस्य के अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। समष्टिगत आर्थिक नीतियों और देश की प्राथमिकताओं के बीच अगर कुछ अधिक सामंजस्य होता तो विकास की दिशा में बेहतर परिणाम हासिल किए जा सकते थे।

यहां यह बात कह देना उचित होगा कि उस समय अधिकांश भारतीय अर्थशास्त्रियों और असैनिक कर्मचारियों की तरह मैं भी भारत की पंचवर्षीय योजनाओं तथा राज्य की प्रकृति एवं समाज के हित में हस्तक्षेप करने की इसकी तथाकथित असीम क्षमता के बारे में विकास संबंधी आरंभिक साहित्य के दर्शन तथा मान्यताओं से सहमत था। मिसाल के लिए, आर्थिक सहयोग और विकास संगठन की अध्ययन श्रृंखला (लिटिल, शितोव्स्की और स्काट, 1970) के निष्कर्षों पर टिप्पणी करते हुए मैंने सुझाया था कि प्रशासनिक असफलता का तथ्य नियंत्रण कम करने की आवश्यकता का भी संकेतक हो सकता है अथवा "अधिक कठोर अनुशासन, दंडों के द्वारा लागू कठोरतर नियंत्रण तथा संपत्ति के संबंधों के मूलगामी रूपांतरण की आवश्यकता" का भी (जालान, 1975, पृ. 3)। तब इन दो विकल्पों के बीच चयन करना कठोरतर आर्थिक वास्तविकताओं पर आधारित न होकर सामाजिक संगठन की प्रकृति के बारे में हमारे मूल्यगत निर्णयों पर निर्भर लगता था। इसी दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए मैंने इससे पहले भी कहा था कि :

> *जहां तक विकास की रणनीति का प्रश्न है, परियोजना के उत्साही समर्थकों के दावों के बावजूद, विकास की वैकल्पिक रणनीतियों में से उपयुक्त रणनीति का चयन अर्थशास्त्रियों की तार्किक बहसों का विषय नहीं माना जा सकता। कारण कि इसमें उपभोग के एक विशेष अंतःकालिक स्वरूप तथा इसी के साथ, विकास के स्वरूप और उसकी गति के निर्धारण में राज्य की एक विशेष भूमिका के चयन का प्रश्न भी शामिल है (पृ. 7)।*

पीछे मुड़कर देखने पर ये नुक्ते सिद्धांत रूप में वैध लगते हैं। फिर भी, वे राजकीय कार्यवाही के यथार्थ निर्धारकों या अतिशय नौकरशाहाना हस्तक्षेप के आर्थिक परिणामों पर पर्याप्त ध्यान नहीं देते।

यद्यपि राजकीय कार्यवाही की वास्तविकताओं और सीमाओं को स्वीकार करना आवश्यक है, पर विकास की विगत असफलता का सारा दोष एक हस्तक्षेपकारी राज्य की समष्टिगत आर्थिक नीतियो की खामियों पर डाल देना गलत होगा। नवशास्त्रीय अर्थशास्त्र ठीक यही काम करता है। यह तो वस्तुतः मुद्दे का सरलीकरण है। मिसाल के लिए, जनसंख्या नियंत्रण या साक्षरता के संबंध में भारत की अपेक्षाकृत हीन उपलब्धियों को लें। क्या इनका कारण हस्तक्षेपकारी राज्य की ज्यादतियां हैं ? अनेक देशों ने जिनमें हस्तक्षेप की मात्रा और विकास के कीर्तिमान भारत से काफी भिन्न रहे हैं, उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों में भारत से कहीं बेहतर नतीजे हासिल किए हैं। विकास-साहित्य में संवृद्धि को प्रोत्साहित करने तथा उत्पादकता को बढ़ाने में साक्षरता की केंद्रीय भूमिका को बहुत पहले से स्वीकार किया जाता रहा है। तो भी, आजादी के कोई 45 साल बाद भी भारत की लगभग आधी आबादी निरक्षर हे। भारत के अंदर ही केरल में साक्षरता की दर 91 प्रतिशत और बिहार में 39 प्रतिशत है। क्या इनकी व्याख्या समष्टिगत आर्थिक नीतियों की असफलताओं या संसाधनों के आबंटन पर राज्य के नियंत्रण के आधार पर की जा सकती है ?

भारत की एक महत्वपूर्ण समष्टिगत आर्थिक असफलता राजकोष के क्षेत्र मे रही है। नवें दशक में राजकोषीय घाटे बहुत अधिक रहे हैं। फलस्वरूप पूंजीनिर्माण के लिए उपलब्ध सार्वजनिक बचतों में कमी आयी है। इस घटनाक्रम का आयोजना की कमियों या व्यापार और उद्योगीकरण की नीतियों की असफलता से शायद ही कुछ लेना-देना हो। अनेकों हस्तेक्षपकारी या अहस्तक्षेपकारी राज्यों में भारी (या कम) राजकोषीय घाटे होते रहे हैं जिनकी तह में ऐसे कारक रहे हैं जिनका विकास की रणनीतियों के बजाय राजनीतिक अर्थशास्त्र से संबंध अधिक है। इसी तरह 1956-57 के बाद के 35 वर्षों में से 29 वर्ष ऐसे रहे हैं जब भारत को भुगतान-संतुलन की समस्याओं का सामना करना पड़ा है। यह बात उसके विकास में भारी बाधा रही है। यह दुख की बात है। लेकिन भुगतान-संतुलन की समस्याएं, कभी-न-कभी, सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में उठती रही हैं। इनमें वे औद्योगिक देश भी शामिल हैं जिनकी राज्य की भूमिका के बारे में बहुत भिन्न धारणाएं रही हैं।

ऐसा लगता है कि भविष्य में रणनीतिक और नीतिगत विकल्पों पर विचार करते समय हमें राज्य की भूमिका की पुनः परिभाषा करने या समष्टिगत आर्थिक नीतियों का पुनर्निर्धारण करने के अलावा भी बहुत कुछ करना होगा। इनका अपना महत्व है पर उतना ही महत्व दूसरे प्रमुख उद्देश्यों पर ध्यान देने का भी है जिनके बारे में भारत की उपलब्धि दूसरे देशों के मुकाबले बहुत कम उत्साहजनक रही है, खासकर उन देशों के मुकाबले जिन्होंने आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियों की स्पष्ट भिन्नताओं के बावजूद निरंतर संवृद्धि करके दिखाई है।

यह एक दिलचस्प बात है कि बहुत पहले, तीसरी योजना के दौरान ही, अनेक

विशेषज्ञों ने भारत की आयोजना की तकनीकों की प्रभाविता पर गंभीर संदेह व्यक्त किए थे। दूसरी योजना विदेशी मुद्रा के एक जबर्दस्त संकट के कारण लड़खड़ा गयी थी। तीसरी योजना का आरंभ बहुत ही बुरा रहा। उसके पहले ही वर्ष के अंत में ऐसी अनेकों बाधाएँ आयीं जिन्होंने उसकी प्रगति पर गंभीर प्रभाव डाला। लगभग 30 वर्ष पहले ए. एच. हैंसन (1963) ने, जो भारत के एक सहानुभूतिपूर्ण प्रेक्षक थे, 'क्राइसिस इन इंडियन प्लानिंग' नामक एक लेख लिखा था। इसमें उन्हें बाध्य होकर यह प्रश्न करना पड़ा था कि "लोग योग्य हैं, संगठन भी कारगर है और कार्यप्रणालियों का निर्धारण भी बुद्धिमता के साथ किया गया है। फिर भी, 1956 से ही योजनाएं क्यों बार-बार संकटग्रस्त होती रही हैं ? (पृ. 187)। इस प्रश्न के बारे में हैंसन का उत्तर भी दिलचस्प है :

> *विभिन्न कारणों से, भारतीय आयोजनाकारों ने कभी भी 'वस्तुनिष्ठ प्रकार्य' को पर्याप्त सम्मान नहीं दिया। उनकी प्रवृत्ति यह है कि अपने-आपको प्रत्येक संभव संदेह का अधिकतम लाभ दें...उनके बहुत सारे लक्ष्यों का दारोमदार भारतीय समुदाय के विभिन्न भागो द्वारा प्रवृत्तियों को अंगीकार किए जाने पर है किंतु जिन्हे, कम-से-कम वांछित और आवश्यक सीमा तक, उनके द्वारा अपनाये जाने की संभावना बहुत ही कम् है (पृ. 187)।*

आज हम खुद को संदेह का लाभ देने का जोखिम नहीं उठा सकते। वर्तमान दशक की आर्थिक चुनौतिया एक नए दृष्टिकोण की मांग करती हैं। यह दृष्टिकोण अतीत की सफलताओं पर आधारित होना चाहिए। साथ ही, इसमें उन पुरानी मान्यताओ को भी छोड़ना होगा जो नाकारा सिद्ध हुई हैं। राजनीतिक, प्रशासनिक और अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य आज इस कदर बदल चुके हैं कि भारत अपनी आर्थिक नीतियो और आयोजना की तकनीको को ठोस यथार्थ के अनुरूप ढालने की आवश्यकता को अनेदखा नहीं कर सकता।

इस जैसी पुस्तक से यह आशा नही की जा सकती कि वह भविष्य में भारत के लिए प्रासंगिक सभी रणनीतिक और नीतिगत प्रश्नों की व्यापक विवेचना कर सकेगी। अतः विषय की विवेचना चयनात्मक है। इसमें सरकार की भूमिका समेत उन्हीं कारकों पर ध्यान केंद्रित किया गया है जिनको निकट भविष्य में भारत के भविष्य के लिए निर्णायक महत्व का माना गया है। पहले अध्याय में स्वाधीनता के बाद भारत के लिए चुनी गई विकास-रणनीति के बौद्धिक और ऐतिहासिक आधार को स्पष्ट किया गया है। मैंने दिखाया है कि रणनीति का आरंभिक चयन, आरंभिक परिस्थितियों और विकास में राज्य की भूमिका के बारे में तत्कालीन बौद्धिक विचारों की अनुक्रिया थी। भारत के अपने राजनीतिक-सामाजिक इतिहास ने भी औद्योगीकरण की एक

ऐसी अंतर्मुखी रणनीति के चयन पर बल दिया जिसमें राज्य की प्रमुख भूमिका हो। लेकिन भारत की विकास रणनीति की यह एक उचित आलोचना होगी कि वह सातवें दशक के आरंभिक वर्षों के बाद, परिवर्तनशील आंतरिक और बाह्य परिस्थितियों के प्रति बुनियादी तौर पर असंवेदनशील थी।

संवृद्धि के कारक और निर्धारक विकास अर्थशास्त्रियों को सदा आकर्षित करते रहे हैं। तेजी से संवृद्धि कर रहे विकासशील देशों के अनुभवों को देखें तो कुछ ऐसे कारकों की पहचान संभव है जिनका भारत की संवृद्धि और विकास के लिए निर्णायक महत्व है। अध्याय दो में ऐसे तीन कारकों की पहचान की गयी है–अधिक बचत, भुगतान-संतुलन की बराबर कायम रहने वाली साध्यता और उच्च साक्षरता अनुपात। 1953-54 और 1967-68 के बीच भारत की बचत संबंधी उपलब्धि काफी अच्छी रही। उसके बाद बचत की और पूंजीनिर्माण की संवृद्धि-दरों में गिरावट आयी। इसी काल में (1982-83 तक) औद्योगिक उत्पादन की संवृद्धि-दर में भी कमी आयी। इस काल के बाद से बचत का अनुपात गतिरुद्ध रहा है तथा औद्योगिक उत्पादन की संवृद्धि-दर की वृद्धि विदेशी बचतों पर टिकी रही है। नवें दशक में सार्वजनिक बचतों का हाल खास तौर पर बुरा रहा। आठवें दशक के अंतिम वर्षों में सकल घरेलू उत्पाद से सार्वजनिक बचतों का अनुपात 4.5 प्रतिशत था ज़ो 1990-91 में घटकर 2 प्रतिशत से भी कम रह गया। सार्वजनिक बचत में यह भारी गिरावट भारतीय अर्थव्यवस्था की बचत संबंधी समस्या के केंद्र में रही है।

भुगतान-संतुलन के क्षेत्र में भारत की कारगुजारी वस्तुतः निराशाजनक रही है। कुछ संक्षिप्त अवधियों को छोड़ दें तो भारत 1956-57 से लगातार भुगतान-संतुलन की समस्याओं से ग्रस्त रहा है। इस पूरे काल में भुगतान-संतुलन संबंधी चिंता ने नीति-निर्माण को काफी प्रभावित किया है। खास तौर पर औद्योगिक और व्यापारिक नीतियों का विकास भुगतान-संतुलन संबंधी चिंताओं से अत्यधिक प्रभावित होता रहा है जिसके कारण अनेक विकृतियां पैदा हुई हैं। भुगतान-संतुलन की इस स्थायी समस्या का समाधान निकालना वर्तमान दशक की एक महत्वपूर्ण नीतिगत चुनौती है। साक्षरता के क्षेत्र में भी अन्य विकासशील देशों और खासकर तेजी से विकसित होने वाले देशों की तुलना में भारत की उपलब्धि निराशाजनक रही है। सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में इस पर भारत ने लगभग उतना ही खर्च किया जितना उच्च साक्षरता वाले अनेक दूसरे देशों ने किया है। यह अवश्य है कि व्यय का एक बड़ा भाग प्राथमिक शिक्षा पर नहीं बल्कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र पर हुआ।

अध्याय 3 का शीर्षक 'शासन का "अंत" ?' है। इसमें विकास-साहित्य तथा राजनीतिक विचारों में हाल में हुए परिवर्तन के कारणों की विवेचना की गयी है। इनके अनुसार अर्थव्यवस्था में सरकार का हस्तक्षेप कम होना चाहिए। यहां यह बताया गया है कि सरकारी नीतियों को बदलते वातावरण के अनुसार ढालने की आवश्यकता

है लेकिन विपरीत दिशा में दोलन बहुत अधिक भी नहीं होना चाहिए क्योंकि उसका उलटा असर हो सकता है। सरकार की भूमिका को पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता अर्थव्यवस्था में सरकार की भूमिका की समाप्ति का तर्क नहीं बन सकती। भारत में, सरकार की भूमिका प्रत्यक्ष बाध्यताओं के कारण बढ़ती गयी है। फिर भी इतने वर्षों में यह भूमिका इतनी विस्तृत हो चुकी है कि इसका प्रबंध प्रशासन की क्षमता से बाहर हो गया है। हस्तक्षेप की तकनीकों में आर्थिक शक्तियों के यथार्थ संचलन पर कहीं अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। आवश्यकता है कि ये शक्तियां समाज के हित में संचालित की जायें–उपदेशों के जरिए नहीं बल्कि प्रशुल्क, राजकोष और वित्त संबंधी नीतियों के समुचित उपयोग के द्वारा। नीतियों के निर्धारण में समता के विचारों का महत्व बने रहना चाहिए। समता और सामाजिक न्याय के बिना एक निर्धन समाज में विकास का कोई ख़ास अर्थ नही होता। वैसे, अंतर्राष्ट्रीय अनुभवों और विकास संबंधी अनुसंधानों से संकेत मिलता है कि 'पूंजीवादी' उपकरणों का अधिकाधिक प्रयोग करके इन सामाजिक लक्ष्यों को अधिक कारगर ढंग से पूरा किया जा सकता है।

साथ ही, जिन ससाधनों पर सरकार का प्रत्यक्ष नियंत्रण है, उनका विवेकपूर्ण और उत्पादक उपयोग करने की तात्कालिक आवश्यकता है। यही क्षेत्र है जिसमे विरल प्रशासनिक और प्रबंधकीय संसाधनों को केंद्रित करना आवश्यक है। पर्याप्त सार्वजनिक और सामाजिक सेवाओं का प्रावधान एक प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए और इन क्षेत्रों में लक्ष्यों और क्रियान्वयन की समय-सीमाओं का विस्तार से निर्धारण होना चाहिए। सार्वजनिक क्षेत्र का कारगर प्रबंध एक और प्राथमिकता है।

अध्याय 4 का संबध भुगतान-सतुलन की क्षमता की पुनःस्थापना से सबंधित नीतियों से है। छठे दशक के अंतिम वर्षो मे विदेशी सहायता और देश मे राजकोष की जो स्थिति रही है और जो आज है, उनमें स्पष्ट अंतर पाए जाते हैं। उस समय, चालू लेखा घाटे की लगभग पूरी-की-पूरी भरपाई बाहर से प्राप्त रियायती सहायता से की जाती थी जिससे ऋण-सेवा का बोझ कम रहता था। नवें दशक में पूरे वृद्धिक घाटे की भरपाई गैर-रियायती ऋणों से की गयी जो बाजारी शर्तों पर लिए गए थे। आरंभिक वर्षों से भिन्न और महत्वपूर्ण अंतर यह है कि नवें दशक में राजकोषीय नीति अत्यधिक प्रसारमूलक रही है। प्रकाशित दस्तावेजों से पता चलता है कि नवें दशक के उत्तरार्ध में भुगतान-संतुलन की जो गंभीर समस्या उठी, उसका पूर्वाभास सरकार को था। भुगतान-संतुलन की नीति का वास्तविक विकास उसके संबंध में बनायी गयी योजनाओं से भिन्न क्यों रहा है, इसके कारण राजनीतिक अर्थशास्त्र में तथा 1983-84 के बाद से भारत की चुनावी राजनीति की अनिश्चितता में ढूंढने होंगे।

भारत के निर्यात संबंधी आंकड़ों और व्यापार तंत्र की विस्तृत विवेचना साहित्य

में हुई है। दूसरे विकासशील देशों की तुलना में और विश्व-व्यापार की संवृद्धि को देखते हुए भारत की निर्यात संबंधी दीर्घकालिक उपलब्धि सभी दृष्टियों से हीन रही है। विश्व-निर्यात में भारत का भाग घटा है—समग्र विनिर्माण और कुल व्यापार में ही नहीं बल्कि वस्त्र जैसे क्षेत्रों में भी जहां आरंभ में भारत की स्थिति मजबूत थी। भारत का व्यापार-तंत्र भी अपनी अंतर्मुखी प्रवृत्ति और निर्यात-विरोधी झुकाव के लिए विश्वप्रसिद्ध है। फलस्वरूप निर्यात की लाभदायकता घरेलू लाभदायकता की तुलना में काफी कम रही है। पूरे उद्योग-क्षेत्र के बीच संरक्षण की प्रभावी दरें काफी ऊंची और परिवर्ती हैं जिसका कोई आर्थिक औचित्य दिखाई नहीं देता। निर्यातों की कम लाभदायकता की क्षतिपूर्ति के लिए अनेकों प्रोत्साहन दिए गए हैं मगर प्रोत्साहनों की सरंचना जटिल और अपारदर्शी है। आयात और निर्यात, दोनों का व्यापार-तंत्र आज भी प्रशासनिक नियम-कायदों और छूटों का एक विकट जाल बना हुआ है।

भविष्य के नीतिगत विकल्पों पर जब हम विचार करते हैं तो व्यापार नीति संबंधी साहित्य के सैद्धांतिक और अनुभवाश्रित परिणामों के प्रकाश में अनेकों मुद्दे उठ खड़े होते हैं। 'बहिर्मुखी प्रवृत्ति', आयात के उदारीकरण और सुधारों की क्रमिकता जैसे प्रमुख नीतिगत प्रश्नों पर अकादमिक बहसें अभी भी अपूर्ण लगती हैं। उदाहरण के लिए, जहां अनेक अध्ययनों में 'बहिर्मुखी' रणनीतियों के लाभकारी प्रभावों को उजागर किया गया है, वहीं कई लेखकों ने इन निष्कर्षों को चुनौती दी है और नीतियों के परिणामों के निर्धारण में आरंभिक दशाओं, ऐतिहासिक कारकों और राजनीतिक वातावरण के महत्व पर जोर दिया है। लेकिन कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि विकास के स्वरूप और उसकी गति के निर्धारण पर प्रोत्साहनों की सरचना का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता ही है।

भारत की वर्तमान स्थिति के संदर्भ में एक समुचित अनुक्रिया उस लक्ष्य को पाने का प्रयास होगी जिसे फिशलो (1985) ने सही शब्दों में 'निर्यात-समर्थ संवृद्धि' (एक्सपोर्ट एडिकेट ग्रोथ) कहा है जो 'निर्यातजन्य संवृद्धि (एक्सपोर्ट-लेड ग्रोथ) से स्पष्टतः भिन्न है। जो नीतियां निर्यात को बढ़ावा देती हैं उनका उन नीतियों के बनिस्बत जो विकास की रणनीति में नाटकीय परिवर्तन की मांग करती हैं, वित्तीय बाधाओं के सामने अधिक स्थायी सिद्ध होने की संभावना है। फिर भी, सरलीकरण और प्रशासनिक सुधारों के एक साहसिक कार्यक्रम की तथा विवेकनिरपेक्ष आयात-नियंत्रणों की दिशा में परिवर्तन की आवश्यकता है। नीतिगत सुधारों का लक्ष्य यह होना चाहिए कि अगले दो या तीन वर्षों में भुगतान-संतुलन का संकट समाप्त हो जाए ताकि संकट का प्रबंध वर्तमान दशक में नीति-निर्धारकों का उतना सरदर्द न रहे। इस अध्याय के अंत में भविष्य के लिए राजकोष, व्यापार, विदेशी ऋण और विदेशी निवेश संबंधी नीतियों की कुछ व्यापक दिशाओं की विवेचना की गयी है।

अध्याय 5 का संबंध घरेलू बचत में वृद्धि की नीतियों से है। विकासशील देशों

के बचत के व्यवहार पर कोई संतोषजनक आर्थिक सिद्धांत उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध अनुभवाश्रित साक्ष्यों से पता चलता है कि मौद्रिक और वित्तीय स्थायित्व बनाए रखने की नीतियों तथा एक यथार्थवादी ब्याज-दर की नीति के अनुसरण के अलावा घरेलू बचतों में वृद्धि के लिए सरकार कोई और प्रत्यक्ष उपाय नहीं कर सकती। सार्वजनिक बचतों में वृद्धि ही वह प्रत्यक्षतम साधन है जिससे सरकारें बचत को बढ़ा सकती हैं। भारत में बढ़ते सार्वजनिक ऋण के निहितार्थों और उसके समष्टिगत आर्थिक प्रभाव के बारे मे आज अनेकों अध्ययन उपलब्ध हैं। इन सभी अध्ययनों (जैसे, रंगराजन आदि, 1989) का निष्कर्ष यह है कि भारत में सार्वजनिक ऋण का जो रूप उभर कर सामने आ रहा है, सरकार उसका भार वहन नहीं कर सकेगी।

एक के बाद एक, सरकारों ने ऋण की वृद्धि को रोकने और राजकोषीय घाटा कम करने की आवश्यकता को स्वीकार किया है। गैर-योजना व्यय की वृद्धि को कम करने के लिए आवश्यक उपायों पर भी पर्याप्त सहमति पायी जाती है। लेकिन इन नेक इरादों और ऐलानों के बावजूद सरकारी व्यय और राजकोषीय घाटे में वृद्धि जारी रही है। पिछले अनुभवों की रोशनी में मेरा सुझाव है कि भविष्य में सरकार व्यय पर नियंत्रण के लिए शुद्ध परिमाणात्मक या सीमांतवादी दृष्टिकोण के बजाए 'नीति-आधारित दृष्टिकोण' अपनाए। मेरा यह भी तर्क है कि सरकार के राजस्व घाटों की सीमा निश्चित करने के लिए एक संविधान संशोधन आवश्यक है। एक बहुदलीय संसदीय प्रणाली में ऐसा संवैधानिक प्रावधान अधिक कारगर हो सकता है जो वर्तमान और भावी, सभी सरकारों पर लागू हो।

आयोजना के आरंभिक वर्षों में सार्वजनिक निवेश बढ़ने से अर्थव्यवस्था को महत्वपूर्ण लाभ हुए। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों ने आधारिक संरचना प्रसार में, क्रोड क्षेत्रों के उत्पादन की वृद्धि में तथा उच्च प्रौद्योगिकी को अपनाने में अपना योगदान दिया। उन्होंने निजी क्षेत्र में एकाधिकारियों की वृद्धि को रोकने के लिए एक प्रतिकारी शक्ति का भी काम किया। लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र की स्पष्टतम असफलता पुनर्निवेश के लिए लाभ-राशियां उपलब्ध कराने के मामले में रही है। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक प्रकार के बहु-उद्देशीय उद्यमों की इतनी बड़ी संख्या का प्रबंध करने के लिए सरकारी विभागों के पास पर्याप्त साधन नहीं रहे हैं। पिछले अनुभवों की रोशनी में मेरा सुझाव है कि कानून बनाकर सार्वजनिक उद्यमों पर एक 'कठोर' बजट-नियंत्रण लगाया जाए। सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों के घाटों की भरपाई सरकार को न करने दी जाए, इसके लिए भी एक कानून होना चाहिए। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के प्रबंध की वर्तमान व्यवस्था में भी आमूल परिवर्तन होना चाहिए। प्रतियोगिता बुरी बात है और सार्वजनिक इजारेदारियां अच्छी हैं, इस पुरानी मान्यता को अब उलट दिया जाना चाहिए। सार्वजनिक उद्यमों का पुनर्गठन करके उनको बहु-उत्पादी संगठन बना देना चाहिए और उनमें आपस में प्रतियोगिता होनी चाहिए।

सार्वजनिक उद्यमों के प्रबंध और उनको प्रभावित करने वाली समष्टिगत आर्थिक नीतियों में कुछ और महत्वपूर्ण परिवर्तन भी आवश्यक हैं।

भारत के अपने अनुभव और सैद्धांतिक तथा अनुभावश्रित अनुसंधानों के प्रकाश में, उपसंहार एक ऐसी कार्य योजना का सुझाव सामने रखता है जो वर्तमान दशक में सतत संवृद्धि की बुनियाद डाल सके।

निर्धन देशों के विकास संबंधी अनुभवों ने संवृद्धि की रणनीतियों और नीतियों पर पर्याप्त अकादमिक साहित्य को जन्म दिया है। हाल के वर्षों में समाजों की कार्यप्रणाली की नवशास्त्रीय धारणाओं और संवृद्धि के नवशास्त्रीय सिद्धांतों का इतना बोलबाला रहा है कि **इकनामिक जर्नल** के शताब्दी अंक (जनवरी 1991) में अपने लेख में जेम्स बुखानन ने बाजारी अर्थव्यवस्थाओं के पक्ष में एक 'वैज्ञानिक सहमति' के उदय का दावा करते हुए कहा है : "1990 में, पूर्व या पश्चिम में स्वयं को अर्थशास्त्री कहने वाले कुछ ही लोग इस बुनियादी प्रस्थापना को चुनौती देंगे कि जिन अर्थव्यवस्थाओं में निजी स्वामित्व का अभाव है उनकी अपेक्षा वे अर्थव्यवस्थाएं बेहतर कार्य करती हैं जिनमें उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व पाया जाता है (पृ. 16)।

हो सकता है यह सही हो। इसमें भी संदेह नहीं कि पिछले कुछ वर्षों के विकास-साहित्य ने संवृद्धि की प्रक्रियाओं के बारे में हमारी समझ को बढ़ाया है। फिर भी रणनीतियों और नीतियों के प्रमुख प्रश्नों पर अकादमिक विचार अभी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचे लगते। इस साहित्य में सहमति कम और एकमत का अभाव अधिक है। जैसाकि हम आगे के अध्यायों में देखेंगे, यह बात विकास-अर्थशास्त्र के अधिकांश महत्त्वपूर्ण विवादों के बारे में सही है। मिसाल के लिए, संवृद्धि के निर्धारकों, आयात-प्रतिस्थापन बनाम निर्यात-प्रोत्साहन की रणनीति, नियंत्रणों और राजकीय हस्तक्षेप के प्रभावों तथा विदेशी निजी निवेश और निजीकरण संबंधी विवादों के बारे में यह बात सही है। सहमति का यह अभाव किंचित् खेद का विषय है। नवें दशक में अनेक विकासशील देश भारी कठिनाइयों का सामना कर रहे हैं। इसलिए विकास की नीति के क्षेत्र में कुछ ऐसी सहमत धारणाओं और उपचारों की तात्कालिक आवश्यकता है जिन्हें विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के अर्थशास्त्री सम्मान की दृष्टि से देख सकें।

नवशास्त्रीय साहित्य की 'बड़बोली' प्रवृत्ति, सभी देशों के लिए सभी कालों में वैध एक सार्वभौम प्रतिरूप की उसकी तलाश, सहमति के इस अभाव का एक प्रमुख कारण लगती है। 'दाम ठीक रखो' और 'अर्थव्यवस्था के द्वार खोलो' जैसे देखने में सुस्पष्ट नीतिगत प्रस्तावों की सरलता प्रशंसनीय तो है पर उनमें काफी हद तक वह विविधता और जटिलता नजर नहीं आतीं जो विकास-प्रक्रिया की विशेषताएं हैं। इन प्रस्तावों के मुकाबले विपरीत दृष्टिकोण के पक्ष में उदाहरण और ऐतिहासिक साक्ष्य आसानी से दिए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, सैद्धांतिक धरातल पर यह दिखाया

जा सकता है कि अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में सामान्यतः बाजार के संतुलन में परेटोवादी दक्षता नही पायी जाती और यह कि सारी प्रासंगिक सूचनाएं मूल्यों में समाविष्ट नहीं की जा सकतीं। अनुभवाश्रित स्तर पर यह दिखाया जा सकता है कि 1950-80 के तीस वर्षों में विकासशील देशों मे पहली आधी सदी के मुकाबले संवृद्धि दरें अधिक रही और जीवनस्तर में अधिक सुधार आए। अर्थव्यवस्था में राज्य का सक्रिय हस्तक्षेप इस काल की विशेषता थी। लेटिन अमरीका के इतिहास में इस काल को निरूपित करने के लिए अल्बर्ट हर्शमैन (1987) ने ज्यां फोरास्ती के प्रसिद्ध वाक्यांश 'ला ट्रांट ग्लोरियसेस' का प्रयोग किया था।

नवशास्त्रीय साहित्य का राजसत्ता और प्रशासनिक कार्यवाही की सीमाओं को स्पष्ट करना ठीक ही है। राज्य पर जो परस्पर विरोधी तनाव और दबाव पड़ते रहते हैं, उनकी तरफ तथा समष्टिगत आर्थिक नीतियों के सामान्यीकृत साधनों पर अधिक भरोसा करने की आवश्यकता की तरफ उसका इशारा करना भी सही है। लेकिन उसकी गलती यह है कि वह सभी प्रकार के हस्तक्षेपों के विकृतिमूलक प्रभावों पर आवश्यकता से अधिक जोर देता है तथा अन्य सभी बातें छोड कर, उन समाजों के लिए भी अमर्यादित बाजारों के गुणगान करता है जिनमें जनता का एक बडा भाग बाजारों में भागीदारी तक नहीं करता। आज आवश्यकता इसकी है कि बाजारो के क्रियाकलाप के बारे मे नवशास्त्रीय अंतर्दृष्टियों का तथा पूरे समाज के हित के अनुसार इन बाजारों के क्रियाकलाप को ढालने के प्रति राज्य के वैध सरोकार का संश्लेषण किया जाए। हालांकि प्रत्येक समाज को अपने लिए उचित नीतिसमूह खुद ही तय करना होगा, लेकिन ऐतिहासिक अनुभव और वैज्ञानिक अनुसधान इस बारे में महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान कर सकते हैं कि प्रशासनिक, आर्थिक और राजनीतिक कठिनाइयों के बीच कौन सी नीतियां और कौन से कार्यक्रम सर्वोत्तम परिणाम देंगे।

# 1

# विकास की रणनीति और उपलब्ध परिणाम

पिछले कुछ वर्ष भारत की आर्थिक नीति और रणनीति के बारे में गहन वाद-विवाद के वर्ष रहे हैं। काफी लोग यह मानते हैं कि नवे दशक में, भारत ने स्वाधीनता के बाद की अपनी आर्थिक रणनीति की सीमाएं पहचानीं और एक नयी 'आर्थिक नीति' को अपनाया।[1] सरकारी नियंत्रणों में ढील, औद्योगिक वि-नियमन और कुछ सीमा तक आयात-उदारीकरण की एक क्रमिक प्रक्रिया इस तथाकथित नयी आर्थिक नीति का अंग थी। अनेक प्रेक्षकों और विशेषज्ञों ने इन परिवर्तनों का स्वागत किया और उनको नवें दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रत्यक्ष तीव्रतर संवृद्धि का कारण बताया । फिर भी, कुछ लोगों को भय था कि ये परिवर्तन जितनी समस्याओं को हल करेंगे, उनसे अधिक समस्याएं पैदा करेंगे। ऐसी आशंकाएं भी व्यक्त की गयीं कि यह नीतिगत परिवर्तन उस व्यापक राष्ट्रीय सहमति को समाप्त कर देगा जो स्वाधीनता के प्रथम 35 वर्षों में भारत की आर्थिक नीति के विकास के प्रति पायी जाती थी।[2] इस भय का कारण यह था कि नयी आर्थिक नीति के कारण आयात पर भारतीय अर्थव्यवस्था की निर्भरता बढ़ रही थी, भुगतान-संतुलन की स्थिति और भी नाजुक हो रही थी, ऋणों पर निर्भरता बढ़ी थी और परिणामतः भारत की आर्थिक नीतियों पर बाहरी दबावों के पड़ने की संभावना बढ़ रही थी। अभिजात वर्ग में उभरते हुए उपभोक्तावाद तथा धनशक्ति के नग्न प्रदर्शन से ये आशंकाएं और भी पुष्ट हो रही थीं।

नवें दशक में आर्थिक नीति संबंधी बहस ने स्वाभाविक रूप से इस प्रश्न पर भी ध्यान केंद्रित किया कि क्या आजादी के बाद विकास के लिए अपनायी गयी रणनीति सही थी और इस रणनीति का भारत के आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ा। इस रणनीति के तहत, जो आयोजना के सोवियत मॉडल से बहुत अधिक प्रभावित थी, आर्थिक गतिविधियों के नियंत्रण और निदेशन में राज्य को केंद्रिय भूमिका

सौंपी गयी थी।[3] सोवियत अनुभव के बाद ऐसा माना जाने लगा था कि अगर भारत उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्र के बयाज पूंजीगत माल और भारी उद्योगों में कसकर पूंजी लगाए तो अर्थव्यवस्था में बचत की दर और आर्थिक संवृद्धि की दर को बढ़ाया जा सकता है।[4] इन क्षेत्रों के लिए बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता थी जो प्रायः निजी क्षेत्र की क्षमता से बाहर थी। इनकी वित्तीय लाभदायकता भी कम थी। इसलिए तय पाया गया कि इन क्षेत्रों में निवेश राज्य को करने होंगे।

दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956) इस बारे में काफी स्पष्ट थीः "इस बात पर जितना ही जोर दिया जाए, कम है कि जब तक उत्पादन के साधनों का उत्पादन तेजी से बढ़ाने तथा विकास के लिए अत्यंत महत्त्व रखनेवाले ईंधन और ऊर्जा संसाधनों का भंडार बनाने के लिए कदम नहीं उठाए जाते, आगामी वर्षों में प्रगति के स्तर और गति में बाधाएं आती रहेंगी (पृ. 28)। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक नीतियों के बारे में इस योजना में आगे कहा गया था कि :

> *किन्हीं मामलों में हमें राजकोषीय या कीमत प्रोत्साहनों पर भरोसा करना होगा, कहीं लाइसेंस प्रणाली आवश्यक हो सकती है; और कुछ मामले ऐसे हो सकते हैं जिनमें लाभ की सीमाओं का निर्धारण, दुर्लभ कच्चे मालों का आबंटन या अन्य नियामक उपाय आवश्यक होंगे... अगर नियोजित निवेश के लक्ष्यों को पाना है तो यह सुनिश्चित करना होगा कि आवश्यक संसाधन वास्तव में उपलब्ध हों ओर वे उपभोग में न खप जाएं...(पृ. 42)।*

तदनुसार, राज्य बचत राशियां जुटानेवाला तथा एक महत्त्वपूर्ण निवेशक एवं पूंजी का स्वामी, दोनों भूमिकाओं में सामने आया। चूंकि राज्य को आर्थिक परिवर्तन के सूत्रपात में प्रमुख अभिकर्ता की भूमिका अदा करनी थी, अतः निजी क्षेत्र की गतिविधियों का कठोर नियमन और नियंत्रण करना पड़ा ताकि वे राजकीय नीति के उद्देश्यों के अनुकूल रहें।

विकास की इस रूपरेखा में विदेश व्यापार की भूमिका अपेक्षाकृत गौण थी। अंशतः इसका कारण यह विश्वास था कि इस व्यापार की दशाएं विकासशील देशों और प्राथमिक उत्पादकों के प्रतिकूल थीं। एक आंशिक कारण यह बौद्धिक विश्वास भी था कि निर्यात की संभावनाएं बहुत ही सीमित थीं। पहली पंचवर्षीय योजना (1951) निर्यात के बारे में लगभग मौन थी। इसमें निर्यात-आय बढ़ाने की संभावनाओं को सीमित मानते हुए तर्क दिया गया था कि निर्यातों से प्राप्त हो सकने वाली कीमतें विश्वव्यापी कारकों पर निर्भर होती हैं और इसलिए उनमें भारी घट-बढ़ संभव है (पृ. 29)। दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956) ने व्यापार-संतुलन के प्रक्षेपण का प्रयास तो किया मगर उसका निष्कर्ष यह था कि अल्पावधि में निर्यात-आय में किसी महत्त्वपूर्ण वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती (पृ. 97-99)। निर्यात संबंधी यह निराशावाद उस समय के विकास-अर्थशास्त्रियों में बहुत ही व्यापक था जिसका

बौद्धिक आधार मौटे तौर पर नुर्क्स की 'निर्यात पश्चता' की प्रस्थापना ही था। अपने प्रसिद्ध विक्सेल व्याख्यानों (1959) में नुर्क्स ने इस प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिलाया था कि प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादक देशों के निर्यात आमतौर पर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की और खासकर औद्योगिक देशों के बीच होनेवाले तथा उनके द्वारा किए जाने वाले व्यापार की वृद्धि-दर से पीछे रहते हैं (अध्याय 4 देखें)।

आयोजना के आरंभिक वर्षों में, राज्य के द्वारा पूंजी-संचय को दी गयी प्राथमिकता का परिणाम यह भी हुआ कि कृषि में सार्वजनिक निवेश की अपेक्षाकृत उपेक्षा हुई।[5] कृषि की इस सापेक्ष उपेक्षा को इस तत्कालीन विचार से समर्थन मिला कि विकासशील देशों में बढ़ती श्रमशक्ति को केवल उद्योगों में ही खपाया जा सकता है। यह भी कि औद्योगीकरण के आरंभिक चरणों में आवश्यक था कि कृषि सस्ता श्रम उपलब्ध कराके आधुनिक उद्योगों की स्थापना में सहयोग दे। औद्योगिक क्षेत्र का तीव्रतर विकास आयोजना का एक केंद्रीय उद्देश्य था।

यह एक संक्षिप्त और अधूरा वर्णन मात्र है। फिर भी, यह भारत की आरंभिक विकास रणनीति की समकालीन आलोचनाओं की मुख्य बातों को स्पष्ट करने के लिए काफी है। ये आलोचनाए इन बातों को लेकर हैं : निर्यात और व्यापार के अवसरों की उपेक्षा, अतिशय संरक्षणवाद ओर आयात-प्रतिस्थापन, भौतिक नियंत्रणो का अनावश्यक सहारा तथा सार्वजनिक क्षेत्र की अदक्षता। इन आलोचनाओं में बहुत-कुछ अतिरंजित है लेकिन भारत की नयी आर्थिक नीतियों का स्वागत करने वालों ने इसका स्वागत इसलिए किया है कि उनके विचार में ये नीतियां उन दोषों को दूर करेंगी जो पिछली रणनीति में निहित थे।

जहां तक वास्तविक निष्पादन का संबंध है, मुख्य उपलब्धियों का उल्लेख करना आसान है।[6] इसमें संदेह नहीं कि स्वतंत्रता के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि दर पहले के 100 वर्षों में प्राप्त संवृद्धि-दर से काफी अधिक रही है। अनुमान है कि 1871 और 1946 के बीच भारतीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि-दर मात्र इतनी थी कि जनसंख्या-वृद्धि से तालमेल बनाए रख सके।[7] 1951-84 के काल में संवृद्धि की दर 3.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष और उसके बाद 1989-90 तक 4 प्रतिशत थी (सूखे के वर्षों को किस प्रकार विचार में लिया जाता है इसके तथा गणना में प्रयुक्त सांख्यिकीय विधि के अनुसार ये आंकड़े न्यूनाधिक हो सकते हैं)[8]। लेकिन यह संवृद्धि-दर विकासशील देशसमूह की संवृद्धि-दर (5.2 प्रतिशत) से कम थी। यह चीन की संवृद्धि-दर (5.4 प्रतिशत) तथा कोरिया (7.2 प्रतिशत), ताइवान (9.1 प्रतिशत), थाइलैंड (6.8 प्रतिशत), इंडोनेशिया (5.5 प्रतिशत) और मलेशिया (6 प्रतिशत) जैसे अनेक दूसरे विकासशील देशों की दरों से भी काफी कम थी।[9] स्वाधीनता के बाद के चार दशकों में भारत में प्रतिव्यक्ति आय की सवृद्धि-दर 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी कम रही है। जनसंख्या 2.15 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर

से बढ़ी जबकि उससे पिछले तीन दशकों में यह 1.21 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही थी। इससे स्वातत्र्योतर काल की अपेक्षातया अधिक संवृद्धि के लाभ काफी हद तक व्यर्थ हो गए।

भारतीय योजनाओं में औद्योगिक विकास को मुख्य भूमिका दी गयी थी। फिर भी, छठे दशक के आरंभ से लेकर नवें दशक के आरंभ तक औद्योगिक संवृद्धि की दर मात्र 5.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही (सुंदरम 1987)। सकल घरेलू उत्पाद में उद्योग क्षेत्र का योगदान इस पूरे काल में 15 से बढ़कर 23 प्रतिशत हो गया लेकिन श्रमशक्ति में उसका भाग मात्र 12.6 से 13.8 प्रतिशत तक ही बढ़ा। सातवें दशक के मध्य से (1980-81 तक) औद्योगिक संवृद्धि की दर में कमी आयी जो खास तौर पर निराशाजनक थी। विनिर्माण क्षेत्र में स. घ. उ. (सकल घरेलू उत्पाद) की वार्षिक संवृद्धि-दर जो सातवें दशक के मध्य में आए सूखे से पहले 7.4 प्रतिशत थी, 1967-68 और 1980-81 के बीच घटकर मात्र 4.3 प्रतिशत रह गयी।[10] कृषि उत्पादन की संवृद्धि भी धीमी रही। 1950-51 और 1984-85 के बीच कृषि आय की वार्षिक संवृद्धि दर 2.12 प्रतिशत रही और प्रतिव्यक्ति कृषि आय में शायद ही कोई वृद्धि हुई हो (दांडेकर 1988)।[12] यह दर चीन के लगभग समतुल्य है मगर कुछ अन्य विकासशील देशो की दरों से काफी कम है। कृषि और खासकर खाद्य-उत्पादन की संवृद्धि-दर जनसंख्या की संवृद्धि-दर से जरा-सी ही आगे रही।

निर्यात के मामले में भारत की उपलब्धि अपेक्षाकृत निराशाजनक रही। देश युद्धोत्तर काल मे विश्व-व्यापार में हुए विस्तार का लाभ नहीं उठा सका। छठे दशक में निर्यात लगभग स्थिर रहे (सिंह, 1964)। सातवें दशक में निर्यात कुछ तेजी से बढ़े और उस दौरान उसकी दर 3.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। आठवें दशक में यह दर 7.5 प्रतिशत हो गयी। भारत के निर्यात 1980-81 में स. घ. उ. के 7.8 प्रतिशत रहे जो मोटे तौर पर 1950-51 के बराबर ही था। दूसरी ओर, विकासशील देशसमूह के स. घ. उ. में निर्यातों का भाग 1960 में 15 प्रतिशत था जो बढ़कर 22 प्रतिशत हो गया। विश्व-व्यापार में भारत के अंश में यह कमी और भी नाटकीय थी। स्वाधीनता के समय विश्व-व्यापार में भारत का भाग 2.4 प्रतिशत था जो नवें दशक तक घटकर 0.4 प्रतिशत मात्र रह गया।

कुछ संक्षिप्त अवधियों को छोड़ दें तो भारत को हमेशा ही भुगतान संतुलन की समस्या का सामना करना पड़ा है। इसके कारण आर्थिक प्रबंध और नियोजन का कार्य अत्यंत कठिन हो गया। नौकरशाही नियंत्रण तेजी से बढ़ते गए जिनसे परियोजनाओं की स्वीकृति और क्रियान्वयन में अतिशय देरी होतीं रही और निवेश लागत बढ़ती रही। पूंजी और उत्पादन के अनुपात में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। वृद्धिक पूंजी-निर्गत अनुपात छठे दशक में 3.89 था जो बढ़कर सातवें दशक में 5.46 और आठवें दशक में 6.04 हो गया। निवेश के स्वरूप में हुए संरचनागत परिवर्तन इस

वृद्धि के आंशिक कारण अवश्य थे लेकिन घटती उत्पादकता और पूंजी की बढ़ती सघनता भी इसके लिए काफी हद तक जिम्मेदार थीं।[12]

भारत की उपलब्धियों के आलोचकों ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि स्वास्थ्य, शिक्षा तथा दूसरे सामाजिक संकेतकों के मामले में भी भारत का कीर्तिमान इसी प्रकार असंतोषजनक रहा है। कुछ सुधार अवश्य हुए मगर परिवर्तन की गति भारत की अपनी आवश्यकताओं और दूसरे देशों के कीर्तिमानों से बहुत कम रही। संयुक्त राष्ट्र की मानव विकास रिपोर्ट 1990 के अनुसार मानव-विकास के पैमाने पर भारत का स्थान बहुत नीचे था (उसका सूचकांक मात्र 0.44 था जबकि चीन का 0.72 और कोरिया का 0.90 था)। भारत में पांच से कम आयु के बच्चों की मृत्यु दर में 1960-88 के दौरान 2.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष की ही कमी आयी जबकि चीन में यह कमी 5.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष और कोरिया में 4.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। 1985 में भारत में प्रौढ़ साक्षरता की दर 43 प्रतिशत रही जबकि चीन में यह 69 प्रतिशत थी (कोरिया की साक्षरता दर 1970 में ही बहुत अधिक अर्थात् 88 प्रतिशत थी और बहुत संभव है कि 1985 तक वहां निरक्षरता का उन्मूलन हो चुका हो)। जहां तक निर्धनता के स्तर का प्रश्न है, योजना आयोग के अनुसार निर्धनता की रेखा से नीचे रहने वालों के प्रतिशत में कमी आई है। 1972-73 में ये लोग आबादी का लगभग 50 प्रतिशत थे जबकि 1983-84 तक यह प्रतिशत घटकर 37.4 प्रतिशत रह गया (1987-88 के अनंतिम अनुमानों के अनुसार यह 30 प्रतिशत था)। फिर भी नवें दशक के मध्य में निर्धनों की कुल संख्या 27 करोड़ थी। समय के साथ-साथ आय के वितरण में होने वाले परिवर्तनों के आंकड़े असंतोषप्रद हैं और अनेक विश्लेषकों के अनुसार इस दिशा में सुधार अगर हुआ भी है तो बहुत मामूली। परिसंपत्तियों के वितरण में भी कोई खास सुधार नहीं आया है। 1982 में 55 प्रतिशत ग्रामीण घरों में प्रत्येक के पास एक हैक्टेयर से भी कम भूमि थी।[13]

ये आंकड़े भारत की उपलब्धियों की एक मोटी रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। लेकिन वे किसी वैकल्पिक रणनीति पर पुरानी रणनीति की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता के सूचक नहीं हैं। कोरिया और चीन, दोनों की उपलब्धि हमसे बेहतर रही है मगर उनकी रणनीतियां भिन्न-भिन्न थीं। उनकी आरंभिक सामाजिक-राजनीतिक दशाएं भी भारत से भिन्न थीं। जैसा कि चक्रवर्ती (1987 अ) ने भारत की विकास-रणनीति के आधारों का विश्लेषण करते हुए बताया है, भारत के रणनीतिक चयन पर उन महत्त्वपूर्ण कारकों के बोध का गहरा प्रभाव पड़ा जो संरचनात्मक पिछड़ापन बनाए रखते हैं। तदनुसार, भौतिक पूंजी की भारी कमी और बचत की अल्प क्षमता को विकास की बुनियादी बाधा माना गया। ऐसी धारणा थी कि कृषि पर सुदीर्घकालीन ह्रासमान प्रतिफल के नियम लागू होते हैं। इसलिए कृषि की अतिरिक्त श्रमशक्ति को खपाने के वास्ते औद्योगीकरण को अनिवार्य माना गया। यह भी माना गया कि विश्व बाजार

की तत्कालीन दशाओं और घरेलू संरचनागत बाध्यताओं को देखते हुए औद्योगीकरण तभी संभव है जब राज्य भारी पूंजी की मांग करने वाले उद्योगों की स्थापना में पहल करे। बाजार तंत्र पर भरोसा करने का एक संभावित परिणाम यह हो सकता था कि उच्च आय वर्ग में उपभोग की अतिशय बढ़ोतरी हो जाती और अल्पनिवेश की स्थिति पैदा हो जाती।

याद रहे कि पांचवें और छठे दशक में विकास-अर्थशास्त्र के अग्रगामी विद्वानों के बीच इस बात को लेकर उल्लेखनीय सहमति थी कि औद्योगीकरण विकास का पर्याय है और यह कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में राज्य की सक्रिय भूमिका के बिना औद्योगीकरण संभव नहीं है। मिसाल के लिए, विभिन्न देशों के राष्ट्रीय उत्पादों से संबंधित कालश्रृंखला आंकड़ों के आधार पर कुज्नेट्स (1955) ने दिखाया था कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया के साथ-साथ कम उत्पादकता वाली कृषि से अधिक उत्पादकता वाले विनिर्माण क्षेत्र की ओर श्रमशक्ति का हमेशा ही अंतरण होता रहा है। इस अंतरण के लिए काफी अधिक पूंजी संचय की आवश्यकता होती है । नुर्क्स (1953) का 'निर्धनता के दुष्चक्र' के बारे में एक प्रसिद्ध सिद्धांत है जिसके अनुसार निर्धन देश अपनी कम प्रति-व्यक्ति आय के कारण अधिक बचत नहीं कर पाते और इसीलिए निर्धन बने रहते हैं। रोजेंस्टाइन-रोडेन (1943) का तर्क था कि आधुनिक उद्योगों में उत्पादन की प्रक्रिया अविभाज्यताओं और बड़े पैमाने की मितव्ययिताओं के अधीन होती है। इसके कारण परिवहन, संचार, ऊर्जा और नगरीय आधारिक संरचना जैसे सामाजिक बंधी पूंजी (सोशल ओवरहैड कैपिटल) के क्षेत्रों में भारी निवेश आवश्यक होता है। यह तभी संभव है जब राज्य सामाजिक संसाधनों के जुटाने और उन्हें निवेशित करने में सक्रिय भूमिका निभाए। बाह्य मितव्ययिताओं से लाभ लेने के सिलसिले में मूल्य-आधारित प्रणाली की सीमाओं की ओर शितोव्स्की (1954) ने संकेत किया था। इसका निहितार्थ यह था कि अर्थव्यवस्था की उत्पादन-संबंधी समस्याओं के समाधान के लिए तो बाजार तंत्र पर भरोसा किया जा सकता है लेकिन निवेश-आबंटन के लिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। गेर्शेनक्रोन (1962) ने देशों के बीच 'सापेक्ष पिछड़ेपन' की धारणा प्रस्तुत की। उनका विचार था कि अपेक्षाकृत पिछड़े देशों में, राज्य के लिए स्वयं बाजार का स्थानापन्न बनकर 'जबरन' औद्योगीकरण करना आवश्यक है। इस आरंभिक साहित्य की समीक्षा करते हुए दत्त चौधुरी (1990) ने ठीक ही कहा है कि :

> *पश्चिमी देशों की महान मंदी से जूझने में केन्सीय सक्रियतावाद की सफलता, पश्चिमी यूरोप की युद्ध से तबाह अर्थव्यवस्थाओं के त्वरित पुनर्निर्माण में मार्शल योजना की सफलता तथा चौथे दशक में सोवियत औद्योगीकरण की उपलब्धियां—इन सबने 'गोचर हाथ' की शक्ति के बारे में दुनिया में लगभग पूर्ण बौद्धिक सहमति उत्पन्न कर दी थी (पृ. 26)।*

आरंभिक विकास-साहित्य में इस बात पर भी जबर्दस्त जोर दिया गया कि व्यापार के औपनिवेशिक प्रतिमानों को बदलने के लिए आवश्यक है कि राज्य अपनी नियामक और राजकोषीय शक्तियों का प्रयोग करे। प्रेबिश (1950) और सिंगर (1950) का निष्कर्ष था कि प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात तथा विनिर्मित वस्तुओं का आयात करनेवाले देशों में व्यापार-स्थिति के प्रतिकूल होने की सुदीर्घकालीन प्रवृत्ति पायी जाती है और उनके इस निष्कर्ष का महत्त्वपूर्ण प्रभाव विकासशील देशों के नियोजकों के चिंतन पर पड़ा था। प्रेबिश और सिंगर ने प्राथमिक उत्पादको के लिए व्यापर-स्थिति की इस प्रवृत्ति का कारण उन्नत देशों में मजदूर संघों की घटती शक्ति और परिधि पर प्राप्य अल्प-रोजगार की दशाओं को बताया। 'श्रम की असीम आपूर्ति' द्वारा विकास की रणनीति के निहितार्थों के प्रभावित होने संबधी ल्यूईस के आलेख (1954) ने भी कुछ हद तक इसे प्रभावित किया। ल्यूईस का तर्क था कि श्रम की असीम आपूर्ति की दशाओं में, निर्यात के क्षेत्र में उत्पादकता-वृद्धि के लाभों के आयातक देशों के हाथों में पहुंच जाने की संभावना होती है। इस प्रकार सिंगर, प्रेबिश और ल्यूईस की कृतियों ने आयात-प्रतिस्थापना और संरक्षण के पक्ष में जोरदार तर्क प्रस्तुत किए।

भारत के तत्कालीन राजनेता और बुद्धिजीवी इन धारणाओं से व्यापक रूप से सहमत थे और आर्थिक रणनीतियों के चयन पर इन धारणाओं का प्रभाव पड़ा। औपनिवेशिक काल में राज्य द्वारा आर्थिक विकास की जो उपेक्षा की गयी थी, उसका प्रभाव अनिवार्य था। यह धारणा काफी बलवती थी कि राज्य के मार्गदर्शन के बिना विकास संभव ही नहीं है। राज्य से अपेक्षा की जाती थी कि वह आयोजना, बचत, निवेश और प्रबंध के सूत्रधार का काम करे ताकि विकास की गति तेज हो। भारत की व्यापार-व्यवस्था कोई एक सदी तक मुक्त रही थी मगर यह संवृद्धि या समृद्धि की जनक नहीं बन पायी। उद्योग न के बराबर था और न ही व्यापार का विविधीकरण हुआ था। देश विनिर्मित वस्तुओं के आयात पर बुरी तरह निर्भर था। यह बात गौरतलब है कि 1830 तक भी विश्व-विनिर्माण में भारत का भाग 17.6 प्रतिशत था जबकि ग्रेट ब्रिटेन का भाग मात्र 9.5 और संयुक्त राज्य अमरीका का 2.4 प्रतिशत था। लेकिन 1900 तक आते-आते भारत का भाग घटकर 1.7 प्रतिशत रह गया जबकि ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका के भाग बढ़कर क्रमशः 18.5 और 23.6 प्रतिशत हो गए (केनेडी 1989, पृ. 149)।[14]

औपनिवेशिक अनुभव इस विश्वास की पुष्टि के लिए काफी था कि मुक्त व्यापार व्यवस्था भारत तथा दूसरे विकासशील देशों के पक्ष में नहीं थी और संवृद्धि या जीवनस्तर में सुधार के लिए उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता था। इसीलिए औपनिवेशिक शासन-विरोधी राजनीतिक संघर्ष में स्वदेशी का नारा एक महत्त्वपूर्ण तत्व बन गया था। इस कारण आवश्यक था कि आजादी के बाद, विनिर्माण के एक

देशी आधार का निर्माण आर्थिक नीतियों का एक प्रमुख उद्देश्य बन जाता। यह रणनीति भी ब्रिटेन और अन्य पश्चिमी शक्तियों से आर्थिक-राजनीतिक स्वाधीनता पाने के संघर्ष का एक पहलू थी। विनिर्माण का एक मजबूत आधार तैयार करने में तथा अपेक्षाकृत कम समय में एक महाशक्ति के रूप में उभरने में सोवियत संघ की सफलता से संचय के प्राथमिक अभिकर्ता के रूप में राज्य की प्रभाविता में विश्वास और भी दृढ़ हुआ।

भारत में स्वाधीनता के बाद का काल अनेक बाहरी और भीतरी झटकों से भरा रहा। जैसे–युद्ध, सूखा, तेल की कीमतों में वृद्धि तथा राजनीतिक-उथलपुथल। भारत की प्रारंभिक रणनीति के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि संवृद्धि की दर भले ही कम रही हो पर भारत बहुत कठिन परिस्थितियों में भी एक मिश्रित अर्थव्यवस्था के साथ-साथ एक स्थायी और लोकतंत्रीय राजनीतिक प्रणाली बनाए रखने में सफल रहा। विकासशील देशों के लिए यह एक अनोखी उपलब्धि थी। देश ने खाद्य के मामले में आत्मनिर्भरता प्राप्त की। उसने एक विविधीकृत औद्योगिक संरचना का भी विकास किया। वह बचत की दर बढ़ाने में भी कामयाब रहा। यह दर 1950-51 में स. घ. उ. का 10 प्रतिशत थी जो नवें दशक के मध्य तक बढ़कर 21 प्रतिशत हो चुकी थी।[15]

यह बहस कि कोई और रास्ता चुनने पर क्या हुआ होता, अनंत काल तक चल सकती है मगर भविष्य के लिए वांछित नीतियों के सवाल पर उससे कोई खास रोशनी नहीं पड़ेगी।[16] सौभाग्य से, भारत को आज क्या करना चाहिए, इसके बारे में विचार करने के लिए इस बहस का फैसला होना जरूरी नहीं है। विकास के आरंभिक चरणों में अपनाए गए विकल्प उस समय उपलब्ध अवसरों और ज्ञान पर निर्भर थे। सेन (1983) ने यह बात बहुत सटीक रूप में कही है :

> *विकास का अर्थशास्त्र ऐसे समय की देन है जब सामान्यतः आर्थिक संवृद्धि और विशेषकर औद्योगीकरण को सायास प्रोत्साहित करने में सरकार की भागीदारी बहुत ही कम थी और पूंजीसंचय की प्रातिनिधिक दरें भी काफी कम थीं। यह स्थिति आज कई अर्थों में बदल चुकी है। अतः अब दूसरे मुद्दों पर जोर देने की आवश्यकता महसूस की जा सकती है पर उस समय सुझाई गयी रणनीतियों की बुद्धिमत्ता पर किसी भी तरह आंच नहीं आती (पृ. 732)।*

न ही निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि अगर कोई अन्य रणनीति चुनी गयी होती तो पूरे स्वातंत्र्योत्तर काल में समग्र और दीर्घकालिक परिणाम अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल होते। संभव है कि कुछ समय के लिए संवृद्धि की दर अधिक होती। लेकिन तब अर्थव्यवस्था अधिक परतंत्र होती और प्रतिकूल विदेशी घटनाक्रमों का बोझ वहन करने के योग्य नहीं होती। नवें दशक में जब रणनीति में कुछ परिवर्तन आया तो ठीक यही बात हुई।

इससे स्पष्ट होता है कि भारत की आर्थिक रणनीति का आरंभिक चयन जिस विशेष आर्थिक-राजनीतिक संदर्भ में किया गया था उसमें वह शायद ठीक ही था।[17] इतना कह चुकने के बाद अब आवश्यक है कि पिछले 40 वर्षों में जिस प्रकार यह रणनीति विकसित हुई, उसकी खामियों और कमजोरियों को स्वीकारा जाए।

सातवें दशक तक यह स्पष्ट हो चुका था कि घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ तेजी से परिवर्तित हो रहा था और अर्थव्यवस्था के सामने ऐसी नयी आंतरिक और बाह्य चुनौतियां आने लगी थीं जिनकी कल्पना आयोजना काल के आरंभ में नहीं की जा सकी। वास्तव में, बाहरी मोर्चे पर असफलता 1958 में ही स्पष्ट हो चुकी थी जब भारी अंतर्राष्टीय सहायता के द्वारा ही योजना और अर्थव्यवस्था को बचाया जा सका था। 1962 में चीन के साथ हुए युद्ध और पाकिस्तान के साथ हुए दो युद्धों के कारण प्रतिरक्षा व्यय में जो वृद्धि हुई उसके परिणामस्वरूप देश में राजकोष की समस्या विकट रूप धारण कर गयी जिसकी वजह से सार्वजनिक निवेश की संवृद्धि दर में कमी आयी जिसे औद्योगिक संवृद्धि का ध्वजवाहक माना जाता था। 1965-67 के भयानक सूखों तथा अमरीका से खाद्यन्न के आयातों पर भारत की निर्भरता ने कृषि-रणनीति की कमजोरियों को रेखांकित किया। भारत की विकास-रणनीति की यह आलोचना उचित ही है कि देश की आर्थिक नीति बदलती आंतरिक और बाह्य परिस्थितियों के प्रति संवेदनशील नहीं थी। भारत इन बदलती परिस्थितियों के साथ पर्याप्त तीव्रता से तालमेल नहीं बिठा सका जिससे औद्योगिक अर्थव्यवस्था में और भी जटिलता आ गयी। न ही वह अंतर्राष्ट्रीय वातावरण के प्रति संवेदनशील रहा जिसमें छठे दशक और सातवें दशक के आरंभ की सापेक्ष स्थिरता के स्थान पर तीव्र परिवर्तन परिलक्षित हुए।

यह भी स्पष्ट था कि सोवियत संघ में जो निर्देशमूलक योजना-प्रक्रिया विकसित हुई थी वह ऐसी अर्थव्यवस्था में कारगर नहीं हो सकती थी जिसमें निजी क्षेत्र की काफी बड़ी भूमिका थी और उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं को अपने आर्थिक निर्णयों के लिए चयन की स्वतंत्रता प्राप्त थी। कानून और न्यायिक व्यवस्था भी ऐसी थी कि आर्थिक निर्णयों को लागू करने में राज्य की शक्ति पर जबर्दस्त अंकुश था। आयोजना के साधन प्रशासनिक और भौतिक नियंत्रणों पर बुरी तरह निर्भर थे। राज्य ने बहुत सारे क्षेत्रों में बहुत सारी जिम्मेदारियां ओढ़ ली थीं और वह भी बहुत विस्तार के साथ। हेमलेट के डेनमार्क की तरह यह व्यापक क्रीड़ाक्षेत्र भी निरंतर फैल रहा था और उसका प्रबंध या प्रशासन असंभव होता जा रहा था। प्रशासनिक संसाधनों और क्षमताओं की सीमाएं विकास की महत्वपूर्ण बाधाएं बन गयीं। राजकीय हस्तक्षेप की 'गुणवत्ता' भी अत्यधिक निम्न स्तर की थी। विभिन्न देशों को प्रतियोगिता की क्षमता और सापेक्ष औद्योगिक उपलब्धियों के बारे में हाल के अनुसंधानों से पता चलता

है कि हस्तक्षेप की भारतीय विधियां, मिसाल के तौर पर, कोरिया, जापान और ताइवान की विधियों से बहुत कम कारगार थीं (लाल, 1990)।

निवेश और पूंजीनिर्माण के लिए पर्याप्त मात्रा में वास्तविक संसाधन उत्पन्न करने में राजकोष प्रणाली की अक्षमता एक और स्पष्ट असफलता थी, खासकर नवें दशक में। रणनीति के चयन में एक अहम मान्यता यह थी कि अर्थव्यवस्था में बचत की दर बढ़ाने में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख भूमिका होगी। यह माना गया था कि आय में से बचत करने का रुझान निजी क्षेत्र की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र में अधिक होगा। अनुभव ने इस आशा को झुठला दिया है। राजस्व सामान्यतः योजना-लक्ष्यों के अनुसार ही बढ़ा है लेकिन सार्वजनिक बचत में ह्रास की प्रवृत्ति रही है जिससे सार्वजनिक निवेश के लिए पर्याप्त संसाधन उपलब्ध नहीं हो सके।

भारतीय योजनाएं भुगतान-संतुलन के प्रबंध की एक व्यवहार्य रणनीति विकसित करने में असफल रही हैं। कुछेक वर्षों को छोड़ दें तो 1956-57 से ही भुगतान-संतुलन की समस्या कमोबेश निरंतर बनी रही है। योजनाओं में तैयार उत्पादों के आयात-प्रतिस्थापन पर जरूरत से ज्यादा जोर दिया गया और विभिन्न क्षेत्रों के आपसी अनुबंधनों पर तथा आयात-सघन आगत-संरचना को प्रोत्साहित करने में प्रशुल्क व्यवस्था के प्रभाव पर पूरा ध्यान नहीं दिया गया। अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक औद्योगिक कच्चे माल जैसे, धातुओं और रसायनों, पेट्रोलियम उत्पादों, उर्वरकों और जटिल पूंजीगत माल के आयात को जरूरत से कम करके आंका गया। अर्थव्यवस्था की आयात की आवश्यकताओं पर आयात-प्रतिस्थापन की रणनीति के प्रभाव के बारे में अयथार्थवादी मान्यताओं के कारण निर्यातों की अपेक्षाकृत उपेक्षा हुई। इसके कारण चालू लेखा घाटों में वृद्धि हुई। हाल के वर्षों में इसकी भरपाई करना अत्यंत कठिन साबित हुआ है।

वर्तमान दशक में भारत को इन आर्थिक समस्याओं का समाधान निकालना ही होगा। पिछले 40 वर्षों के अनुभवों का लेखाजोखा करना, उनसे सबक लेना तथा जिन क्षेत्रों में देश की उपलब्धियां अपर्याप्त रही हैं, उनमें सुधार के कड़े उपाय करना अत्यावश्यक है। वर्तमान दशक के लिए नीतिगत प्राथमिकताओं पर विचार करते समय उन देशों के अनुभवों को परखना भी प्रासंगिक होगा जिन्होंने निरंतर उच्च संवृद्धि दर हासिल की है। हमें इन उपलब्धियों के कारकों को भी परखना होगा। अगले अध्याय में, भारत को इनसे क्या सीख लेनी है, इसकी चर्चा की गयी है।

## टिप्पणियां

1. 'नयी आर्थिक नीति' जैसी भी कोई चीज है, इसके बारे में न तो कोई आधिकारिक भारतीय प्रस्ताव या वक्तव्य उपलब्ध है और न ही इसे औपचारिक रूप से स्वीकारा गया है। वास्तव

में, अधिकांश सरकारी दस्तावेज सावधानी के साथ ऐसी शब्दावली के प्रयोग से बचते रहे हैं। फिर भी, आम तौर पर यह माना जाता है कि विशेषकर 1985 के आरंभ से नीतियों में ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जिनका संबंध कराधान, औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली, आयात, प्रौद्योगिकी और निवेश की प्राथमिकताओं से है। इन परिवर्तनों के समुच्चय को कुछ लेखक इतना महत्वपूर्ण मानते हैं कि वे इन्हें आर्थिक नीति के बारे में भारत के दृष्टिकोण के बदलाव का सूचक समझते हैं।

2. दिलचस्प बात यह है कि नयी आर्थिक नीतियों पर टीका करने वाले भारतीय अर्थशास्त्रियों में एक स्पष्ट विभाजन पाया जाता है। कौन किस बात पर बल दे रहा है,इसे लेकर कुछ मतभेद हो सकते हैं पर, कुल मिलाकर, कई ऐसे अर्थशास्त्री दिशा परिर्वतन के पक्ष में हैं, जो स्वयं पिछली नीतियों के निर्धारण में सहायक थे और महत्वपूर्ण सरकारी पदों पर रहे हैं। यह स्वीकार किया जाता है कि नियंत्रण और राजकीय हस्तक्षेप सीमा से अधिक और अव्यावहारिक हो गए हैं और अब प्रत्यक्ष नियंत्रणों के बजाय राजकोषीय और वित्तीय नीतियों पर अधिक निर्भर रहना आवश्यक है। मिसाल के लिए पटेल (1987), सिंह (1986), धर (1989) और चेलय्या (1989) को देखें। दूसरी ओर, अनेक प्रसिद्ध अकादमिक अर्थशास्त्रियों का इन नीतियों के प्रति कम अनुकूल दृष्टिकोण है, खास तौर पर राजकीय नियंत्रणों के उदारीकरण की नीतियों के प्रति। देखें राज (1986), दांडेकर (1988), कुरियन (1987 और 1989), पटनायक (1987) और साहू (1988)। भारत की राजनीतिक अर्थव्यवस्था में हाल में हुए परिवर्तनों पर विदेशी शोधकर्ताओं का भी ध्यान गया है। इनमें राजनीतिशास्त्री भी शामिल हैं। मिसाल के लिए रुबिन (1985), कोचनेक (1985), हैरिस (1987) रुडोल्फ और रुडोल्फ (1987), टोय (1988) और कोहली (1989) को देखें।

3. चक्रवर्ती (1987अ), पृ. 13 देखें। चक्रवर्ती ने भारतीय योजना-प्रक्रिया के निर्माता महलनवीस के एक आलेख को उद्धृत किया है जिसका उद्देश्य यह है कि स्वयं महलनवीस (1960) अपने कृतित्व तथा रूसी अर्थशास्त्री फेल्डमैन के कृतित्व में समानता देखते थे। राज (1986, पृ. 18) का तर्क है कि भारतीय दृष्टिकोण का बौद्धिक आधार केवल सोवियत नमूने में ही निहित नहीं था बल्कि पिछले ऐतिहासिक अनुभव के सरल तथ्यों और तर्क में भी निहित था।

4. विकास के अर्थशास्त्र में गैलेनसन और लाइबेंस्टाइन (1955) के एक आरंभिक योगदान में बताया गया था कि नए उत्पादन में पूंजी की गहनता जितनी अधिक होती है, उत्पन्न आय में लाभ का अंश उतना ही अधिक होता है और इस कारण आगामी अवधि में लाभ में से पुनर्निवेश भी उतना ही अधिक होता है।

5. दूसरी और तीसरी योजनाओं की मूल परिकल्पनाओं में कृषि क्षेत्र के लिए आबंटन क्रमशः 11.3 और 14 प्रतिशत थे।

6. भारत के विकास संबंधी अनुभवों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन राव (1983), राज (1984) और दांडेकर (1988) समेत अनेक लेखकों ने किया है। दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य में भारत की आर्थिक उपलब्धियों का हाल में एक अत्यधिक व्यापक और आधिकारिक अध्ययन सुंदरम (1987) द्वारा किया गया है। स्वाधीनता के बाद भारत की उपलब्धियों का विश्लेषण करते हुए मैंने इस कृति का बहुत उपयोग किया है।

7. हेस्टन और समर्स (1980) तथा मुखर्जी (1969) को देखें। भारत में 1871-1911 के काल में प्रतिव्यक्ति आय में 0.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई थी। 1911-46 के काल में यह वृद्धि लगभग शून्य थी। बाद के काल के लिए डेनियल थार्नर और एंगुस मेडिसन समेत कुछ

विशेषज्ञों का मत है कि संभवतः प्रतिव्यक्ति आय में 5 से 15 प्रतिशत तक की कमी आयी हो। वैकल्पिक अनुमानों के लिए हेस्टन (1983) देखें।

8. 1951-84 के काल को 1951 से 1965 तक के काल (जो मोटे तौर पर नेहरू युग के समकालिक है) तथा (1965-67 के सूखे के वर्षों को निकाल कर) 1968 से 1984 के काल में बांटते हुए भगवती (1987) ने अनुमान लगाया है कि प्रथमोक्त काल में प्रवृत्तिमूलक संवृद्धि दर 3.88 और द्वितीयोक्त काल में 3.75 प्रतिशत थी। छठे, सातवें और आठवें दशकों के लिए दशकीय संवृद्धि की दरें (क्रमशः 3.59, 3.13 और 3.62 प्रतिशत) लगभग एक समान रही हैं। 1950-83 के काल के लिए सुंदरम (1987) का आकलन 3.6 प्रतिशत है जो उपर्युक्त आकलन के काफी करीब है।

9. भारत की क्षेत्रवार संवृद्धि की दरों समेत संवृद्धि-दरों के ये आंकड़े सुंदरम (1987) से लिये गए हैं।

10. सातवें दशक के मध्य के बाद संवृद्धि-दर में जो कमी आयी, उसका अध्ययन भारतीय अर्थशास्त्रियों के लिए आकर्षण का विषय रहा है। इस प्रेक्षित प्रवृत्ति की कई वैकल्पिक व्याख्याएं की गयी हैं। विस्तृत विश्लेषण के लिए अहलूवालिया (1985) को देखें। एक भिन्न परिप्रेक्ष्य के लिए मित्र (1977) और नय्यर (1978) को भी देखें।

11. मेडिसन के अनुमान के अनुसार स्वाधीनतापूर्व अर्धशताब्दी में कृषि की संवृद्धि-दर मात्र 0.63 प्रतिशत थी। सुंदरम (1987, पृ. 118) द्वारा उद्धृत।

12. समय-समय के पूंजी-निर्गत अनुपातों के आकलन और उनका विघटन भारतीय अर्थशास्त्रियों के बीच विवाद का विषय रहे हैं। उदाहरण के लिए, राज (1984) का तर्क है कि भारत में आठवें दशक में पूंजी-निर्गत अनुपात में होने वाली वृद्धि कोई असामान्य बात नहीं थी और ऐसी वृद्धि दूसरे अनेक देशों में भी देखने में आयी है। यह भी कि यह वृद्धि निवेश के स्वरूप में हुए परिवर्तनों के कारण हुई थी। लेकिन सुंदरम (1987) के बाद की सांख्यिकीय कृति से सिद्ध हुआ है कि संरचनात्मक परिवर्तन तथा क्षेत्रवार पूंजी-निर्गत अनुपातों में वृद्धि, दोनों घटित हुई थीं।

13. निर्धनता के अनुपात के बारे में योजना आयोग के अनुमानों की आलोचना इन्हें अतिशय आशावादी कहकर की गयी है। इसका कारण आंकड़ों की समस्याएं हैं। एक कारण यह भी है कि 1983 खाद्यान्न-उत्पादन में एक कीर्तिमान का वर्ष था। उदाहरण के लिए, कुरियन (1989) और भगवती (1988 अ) देखें। सुंदरम (1987) ने आय के वितरण पर उपलब्ध आंकड़ों का विस्तृत विश्लेषण किया है। भारत में निर्धनता संबंधी अनुसंधानों की हाल की एक समीक्षा और कुछ दिलचस्प नतीजो के लिए घोष (1989) और गाइहा (1989) देखें।

14. विनिर्माण-उत्पादन में विश्व की प्रमुख शक्तियों के भागों के जो अनुमान पाल केनेडी की सुप्रशंसित कृति में प्राप्य हैं, वे बैरोश (1975 और 1982) पर आधारित हैं।

15. 1980-81 के बाद के बचत संबंधी आंकड़े पिछले आंकड़ों से तुलनीय नहीं हैं। कारण कि तब राष्ट्रीय आय की सांख्यिकी की एक नयी शृंखला का आरंभ किया गया था।

16. उदाहरण के लिए, भगवती (1988 अ) का सुझाव है कि अपेक्षाकृत अधिक निर्यातोन्मुखी रणनीति से संवृद्धि और तेजी से होती, श्रम का अधिक अवशोषण होता और आय का वितरण बेहतर होता। कलकत्ता में 1986 में एक सार्वजनिक व्याख्यान देते हुए केनेथ एरो ने कहा था कि भारी उद्योगों के बजाय कृषि पर जोकर देकर देश के दुर्लभ संसाधन अर्थात् पूंजी का अधिक कारगर इस्तेमाल किया जा सकता था और इससे कृषि क्षेत्र की विशाल श्रमशक्ति के साथ इतना अन्याय

भी न होता। आदिशेषैया (1988) द्वारा उद्धृत।

17. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विकास की रणनीति के प्रति वैकल्पिक दृष्टिकोणों की सैद्धांतिक विवेचना के लिए बर्धन (1988) देखें। बर्धन ने मोटे तौर पर परिभाषित पांच समस्याओं के प्रति तीन दृष्टिकोणों की तुलना की है जिनको वे 'नवशास्त्रीय', 'मार्क्सवादी' और 'संरचनावादी-संस्थावादी' दृष्टिकोण कहते हैं। ये समस्याएं इस प्रकार हैं: घरेलू व्यवहार का सिद्धांत, संसाधनों का आबंटन, आय का वितरण और उसकी संवृद्धि, व्यापार और विकास, तथा आर्थिक नीति और राज्य।

# 2

# बचत, निर्यात और साक्षरता

विश्व बैंक द्वारा सगृहीत और **वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट** मे प्रतिवर्ष प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार ऐसे 19 देश है जिन्होंने 1965-89 के काल में 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष या इससे अधिक की संवृद्धि-दर प्राप्त की थी।[1] लंबे समय तक उच्च संवृद्धि-दर बनाए रखनेवाले इस देशसमूह में पर्याप्त विषमताएं पायी जाती हैं। इसमें विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों के देश आते हैं और उनकी राजनीतिक-आर्थिक प्रणालियां भिन्न-भिन्न हैं। इस समूह में कम आय वाले देश (जैसे, चीन और लेसोथो), तेलनिर्यातक देश (जैसे, ओमान और सऊदी अरब), भारी ऋणग्रस्त देश (जैसे, ब्राजील और इक्वाडोर), निर्यातोन्मुख देश (जैसे, कोरिया और ताइवान) तथा निर्यात में कम भागीदारी वाले देश (जैसे, मिस्र और कैमरून) शामिल हैं। इन या अन्य भेदों के बावजूद उच्च संवृद्धि वाले इन देशो के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह है कि उपर्युक्त काल में इनकी घरेलू बचत की दरों में वृद्धि हुई थी।

## उच्च संवृद्धि वाले देशों का अनुभव

आय के बढ़ने के साथ-साथ (स. घ. उ. के प्रतिशत के रूप में) बचत की औसत दरें बढ़ी हैं। परंपरागत संवृद्धि सिद्धांत और साथ ही, बचत तथा संवृद्धि के संबंधों पर बिल्कुल हाल की कुछ सैद्धांतिक कृतियों के अनुसार इसी बात की आशा भी की जाती थी।[2] लेकिन यह तथ्य और भी उल्लेखनीय है कि इस काल के दौरान सीमांत बचत की दर में भी तेजी से वृद्धि हुई। इस पूरे देश समूह को लें तो 1965-70 के मुकाबले 1985-89 के बीच बचत की सीमांत दर सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 25.7 से बढ़कर 36.8 प्रतिशत हो गयी (तालिका 2.1 देखें)। अलग-अलग लें तो भी अधिकांश देशों में सीमांत बचत की दर में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। दूसरी ओर, कुछ ऐसे देश (भारत, कोलंबिया और चिली) रहे हैं जिनमें एक लंबे समय से बचत दरों

में महत्वपूर्ण वृद्धि होती जा रही थी मगर उनकी संवृद्धि-दर में तदनुरूप वृद्धि नहीं हुई।[3] यह उल्लेखनीय है कि (बचत और निवेश के आरंभिक स्तर से भिन्न) उच्च और वर्धमान सीमांत दर सतत वृद्धि से जुड़ी हुई प्रतीत होती है। सुंदरम (1980) ने सातवें और आठवें दशकों में विकासशील देशों के अनुभवों का एक अनुप्रस्थ विश्लेषण किया है। इससे पता चलता है कि आय की **संवृद्धि** तथा निवेश की संवृद्धि का संबंध आय की संवृद्धि और निवेश के स्तर के संबंध से अधिक मजबूत है।

बचत पहले हुई या निवेश, इस बारे में हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते। बचत और संवृद्धि के 'सांयोगिक' संबंध के बारे में आर्थिक साहित्य अभी भी किसी निष्कर्ष से दूर है।[4] फिर भी इन दोनों का संबंध इतना मजबूत है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अभी तक के अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अगर विपुल मात्रा में विदेशी पूंजी उपलब्ध न हो तो बचत की दर में वृद्धि हुए बिना संवृद्धि-दर में सतत वृद्धि ला सकना संभव नहीं है। साक्ष्यों से यह भी संकेत मिलता है कि अगर घरेलू बचतों के स्थानापन्न के रूप में विदेशी व्यापारिक ऋणों का प्रयोग किया जाए तो ऋण पाश तथा आगे चलकर संवृद्धि-दर में गिरावट अपरिहार्य हैं।

उच्च संवृद्धि वाले देशों की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उच्च संवृद्धि वाले काल में वे सभी भुगतान-संतुलन की दीर्घकालीन समस्या से बचे रह सके। 1988 के अंत में उनकी विदेशी मुद्राभंडार की स्थिति आम तौर पर ठीक थी। इसके अपवाद केवल भारी ऋणग्रस्त देश थे या कुछ विशेष समस्याओं से ग्रस्त दो-एक अन्य देश थे (नवें दशक में इन देशों की संवृद्धि-दरों में गिरावट आयी और साथ में मुद्राभंडार भी कम हुए)। उनके निर्यात परिणाम भी आमतौर पर अच्छे रहे। इस पूरे देशसमूह की परिमाणीय संवृद्धि-दर (क्वांटम ग्रोथ रेट) 1965-80 में 10 और 1980-88 में 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही (तालिका 2.2 और 2.3 देखें)। इनमें से अधिकांश देशों में आयात की संवृद्धि-दर निर्यात की संवृद्धि-दर से कम या मोटे तौर पर उसके बराबर रही। इनमें वे देश भी शामिल हैं जिनके निर्यात परिणाम उतने प्रभावशाली नहीं थे। यह एक महत्वपूर्ण बात है। निर्यातोन्मुखी होना संवृद्धि के लिए अच्छी बात हो सकती है मगर आयात और निर्यात की संवृद्धि में संतुलन इससे भी महत्वपूर्ण होता है। विदेशी बचत राशि की असीमित उपलब्धता या व्यापार स्थिति में अपने अनुकूल तीव्र दोलन जैसी विशेष दशाओं को छोड़ दें तो निर्यातों के मुकाबले आयातों की एक खासी ऊंची संवृद्धि-दर लंबे समय तक जारी नहीं रखी जा सकती।

तेजी से संवृद्धि प्राप्त करने वाले देशों की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनमें से अधिकांश में प्रौढ़ साक्षरता का ऊंचा अनुपात पाया जाता है। तालिका 2.4 से इस समूह के देशों में 1965 और 1988 के बीच प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में नामांकन की वृद्धि का तथा 1970 और 1985 के बीच प्रौढ़ साक्षरता

के अनुपातों का पता चलता है। चीन, इंडोनेशिया, कोरिया, मलेशिया, सिंगापुर और थाइलैंड जैसे द्रुत संवृद्धि वाले देशों में 1985 में प्रौढ़ साक्षरता का अनुपात 69 प्रतिशत या इससे अधिक था जबकि इसका पूरे एशिया का औसत अनुपात 61 प्रतिशत था। इसी काल का भारत का अनुमानित अनुपात 44 प्रतिशत था। 1971 में यह अनुपात 34 प्रतिशत था और 1991 में इसका अनंतिम अनुपात 52 प्रतिशत का है; (तालिका 2.6 देखें)। कोरिया में साक्षरता का अनुपात पहले ही बहुत अधिक था। उसे छोड़ दें तो द्रुत संवृद्धि वाले जिन देशों के लिए पहले के आंकड़े उपलब्ध हैं उनमें से अधिकांश में इस दौरान साक्षरता अनुपात में पर्याप्त सुधार आया है। इंडोनेशिया में साक्षरता का अनुपात 1970 के 54 प्रतिशत से बढ़कर 1985 में 74 प्रतिशत हो चुका था। मलेशिया में यह अनुपात 60 से बढ़कर 74 प्रतिशत, सिंगापुर में 74 से 86 प्रतिशत और थाइलैंड में 79 से 91 प्रतिशत हो गया।

उच्च साक्षरता की प्राप्ति में मिली इस सफलता ने लगता है कि इन देशों में उच्च संवृद्धि लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। शिक्षा के योगदान को साहित्य में निश्चित ही बहुत पहले से स्वीकार किया जाता रहा है। मार्शल ने शिक्षा को 'एक राष्ट्रीय निवेश' माना और प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामान्य शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया। कारण कि शिक्षा

> *उसे अधिक बुद्धिमान, अधिक चुस्त और अपने काम में अधिक विश्वसनीय बनाती है; यह काम के समय में उसके जीवन की गुणवत्ता सुधारती है; इस प्रकार यह भौतिक संपदा के उत्पादन का एक महत्वपूर्ण साधन है। साथ ही, इसे स्वयं में एक साध्य मानें तो यह ऐसे किसी भी साध्य से हीन नहीं है जिसकी पूर्ति भौतिक संपदा के उत्पादन से की जा सकती हो।*[5]

और भी हाल में, शिक्षा के आर्थिक विश्लेषण के क्षेत्र में थियोडोर शुल्ज ने अग्रगामी कार्य किया है। शुल्ज (1963) के अनुसार 1909 और 1929 के बीच अमरीका की संवृद्धि में भौतिक पूंजी का योगदान विद्यालयी शिक्षा के योगदान का दोगुना था, लेकिन 1929 और 1957 के बीच विद्यालयी शिक्षा का योगदान भौतिक पूंजी से अधिक रहा। डेनिसन (1962) का एक अध्ययन भी ऐतिहासिक तुलनाओं पर आधारित था। उनका निष्कर्ष था कि अमरीका में 1929 और 1957 के बीच आर्थिक संवृद्धि का लगभग 21 प्रतिशत शिक्षा की देन कहा जा सकता है।

आर्थिक संवृद्धि में शिक्षा के योगदान पर सकारोपाउलस (1984) ने हाल ही में एक महत्वपूर्ण अध्ययन किया है। इससे पता चलता है कि अधिक शिक्षित जनसंख्या वाले देशों में आर्थिक संवृद्धि भी अधिक होती है तथा आय का वितरण भी अधिक न्यायसंगत होता है।[6] ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर सकारोपाउलस (1988) ने तर्क दिया है कि प्राथमिक शिक्षा की वृद्धि के सामाजिक प्रतिफल की दर अधिकतम होती है। इसलिए जनसंख्या अगर साक्षर नहीं है तो निवेश की अन्य परियोजनाएं

असफल हो सकती हैं। हैवमैन और वुल्फ (1984) ने भी शिक्षा के अनेक बाजारेतर लाभों की पहचान की है।[7] शिक्षा और विकास संबंधी आर्थिक साहित्य के प्रमुख विषयों की समीक्षा करते हुए हाल ही में शुल्ज (1988) ने निष्कर्ष निकाला है कि :

*पहले सामान्यतः संयुक्त राज्य अमरीका और फिर कम आय वाले अनेक देशों में, विभिन्न व्यक्तियों, फार्मों और फर्मों के अध्ययनों से इसके ठोस अनुभवाश्रित साक्ष्य मिलते हैं कि जनसंख्या की शैक्षिक उपलब्धि तथा उनकी उत्पादकता और बाजारी तथा बाजारेतर (घरेलू) उत्पादक गतिविधियों में उनकी उपलब्धि के बीच नियमित संबंध हैं। व्यष्टिस्तरीय अर्थशास्त्र के अनुभवाश्रित अध्ययनों ने ऐसे साक्ष्यों के आधार को परिष्कृत और विस्तारित किया है जिनसे पता चलता है कि अधिक शिक्षित स्त्री-पुरुषों की आय अधिक होती है और गतिविधियो के एक व्यापक क्षेत्र में उनका उत्पादन भी कम शिक्षित स्त्री-पुरुषों से अधिक होता है (पृ. 554)।*

हमने निरंतर उच्च संवृद्धि से जुड़े तीन कारकों की पहचान की है : सीमांत बचत की ऊंची दर, भुगतान-संतुलन की सतत क्षमता तथा साक्षरता का ऊंचा अनुपात। संवृद्धि के प्रमुख निर्धारकों के बारे में अनेक सिद्धांत प्रस्तुत किए और परखे गए हैं (संवृद्धि के सिद्धांतों पर उपलब्ध साहित्य की समीक्षा के लिए स्टर्न 1991 और सुंदरम 1990 देखें)। इन्होंने सवृद्धि की प्रक्रिया के बारे में हमारी समझ में बढ़ोतरी की है; फिर भी, जैसा कि स्टर्न (1991) ने बताया है, 'अवशिष्ट' का एक बड़ा भाग अभी भी अव्याख्यायित है और कोई भी उपलब्ध सिद्धांत विकास-प्रक्रिया की जटिलता को पूरा-पूरा पकड़ नहीं सका है। एक पूरी तरह संतोषप्रद सिद्धांत के अभाव में हमें 'युक्तिसगत' पूर्वाभासों पर निर्भर रहना होगा तथा सैद्धातिक और अनुभवाश्रित कृतियों के परिणाामों का उपयोग करना होगा। तेजी से संवृद्धि प्राप्त करने वाले देशों के अनुभव निश्चित रूप से इसके संकेत देते हैं कि उपर्युक्त तीनों कारक सतत संवृद्धि के लिए महत्वपूर्ण हैं।

कुछ सीमा तक ये तीनों कारक 'पूर्व चयनित' (प्रि-सेलेक्टेड) हैं। फिर भी, यह मानने के लिए पर्याप्त सैद्धांतिक-अनुभवाश्रित आधार हैं कि अगर इन तीनों मानदंडों पर किसी देश का कीर्तिमान अच्छा हो तो संभवतः संवृद्धि और विकास के क्षेत्र में भी उसका कीर्तिमान अच्छा होगा। सैद्धांतिक और अनुभवाश्रित स्तर पर अनेक अध्ययनों ने संवृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने में बचत, निर्यात और मानवपूंजी की महत्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित किया है, चाहे उनकी भूमिका अलग-अलग कारकों के रूप में हो या सहक्रियाशील कारकों के रूप में। मिसाल के लिए, ओटानी और विलानुएवा (1989) ने समग्र संवृद्धि के एक मॉडल (एग्रीगेट ग्रोथ माडल) की सहायता से संवृद्धि पर अनेक कारकों के प्रभाव की पड़ताल की है। इनमें घरेलू बचत, निर्यात उपलब्धि, मानवपूंजी पर व्यय की दर, पूंजी की लागत और जनसंख्या-वृद्धि की दर

भी शामिल हैं। ओटानी और विलानुएवा का निष्कर्ष यह है कि विकास में समग्र घरेलू बचत की दर, निर्यात में वृद्धि, मानवपूंजी पर होने वाले व्यय और साथ में पूंजी की लागत ने क्रांतिकारी भूमिका निभाई है। 1970-85 के काल में 55 विकासशील देशों के प्रतिदर्श (सैंपल) पर अपने मॉडल को लागू करके उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि इस पूरे समूह की वास्तविक संवृद्धि-दर की व्याख्या में बचत, निर्यात और शिक्षा का योगदान काफी ऊंचा था। ये परिणाम अंतिम नहीं हैं और अभी अनुसंधान को आगे बढ़ाना आवश्यक है। फिर भी, किसी ऐसे विकासशील देश का नाम ले सकना कठिन है जिसका कीर्तिमान बचत, भुगतान-संतुलन और साक्षरता के क्षेत्र में तो अच्छा हो मगर वह विकास न कर सका हो।[8] निश्चित ही कुछ दूसरे कारक भी हैं जो अलग-अलग देशों में उच्च संवृद्धि की व्याख्या के लिए इतने ही महत्वपूर्ण हैं। मिसाल के लिए, राजनीतिक स्थिरता, अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय वातावरण और सामाजिक गतिशीलता। लेकिन संभावना यही है कि ये अपने-आपमें विकास के स्वतंत्र कारक न हों बल्कि उनका योगदान संवृद्धि-दर बढ़ाने की अन्य आर्थिक नीतियों के सफल क्रियान्वयन में रहा हो।

## भारत के अनुभव : बचत के क्षेत्र में

**अब** हम इन तीन कारकों अर्थात् बचत, भुगतान-संतुलन और साक्षरता के क्षेत्रों में भारत के कीर्तिमान की संक्षिप्त समीक्षा करेंगे। विकासशील देशों और खासकर कम आय वाले देशों में भारत ऐसा देश है जिसकी बचत की दर अधिकतम दरों में से एक है। यहां सकल बचत दरें अपेक्षाकृत तेजी से बढ़ी हैं। 1951-52 में यह दर स. घ. उ. का 10.1 प्रतिशत थी जो बढ़कर 1966-67 में 15.3 और 1980-81 में 21.2 प्रतिशत हो गयी। लेकिन द्रुत संवृद्धि वाले देशों के मुकाबले भारत में राष्ट्रीय आय की संवृद्धि-दर इस पूरे काल में अपेक्षाकृत कम अर्थात् लगभग 3.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। यह भी दिलचस्प बात है कि 1980-81 के बाद बचत-दर में बहुत कम वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय आय सांख्यिकी की नयी शृंखला के अनुसार नवें दशक में सकल घरेलू बचत का अनुपात स. घ. उ. के 21 प्रतिशत के आसपास ठहरा हुआ रहा है (1981-81 के आंकड़े पहले के आंकड़ों से पूरी तरह तुलनीय नहीं हैं)। फिर भी, नवें दशक में संवृद्धि की दर 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है जो पर्याप्त ऊंची है। ऊपर से देखने पर लगता है कि संवृद्धि की प्रक्रिया में घरेलू बचत की भूमिका के विषय में भारत का अनुभव ऊंचे परिणाम हासिल करने वाले देशों से भिन्न रहा है।

लेकिन भारत में बचत, पूंजी-निर्माण और संवृद्धि के आंकड़ों का और गहन विश्लेषण करने पर पता चलता है कि यह बात अनिवार्यतः सही नहीं है। 1980-81 से पहले घरेलू बचत में अधिकांश वृद्धि 1953-54 और 1966-67 के बीच हुई। इस काल में बचत की दर 8.8 से बढ़कर 15.3 प्रतिशत हो गयी। आनुपातिक दृष्टि

से देखें तो 1966-67 और 1980-81 के बीच वृद्धि इसकी लगभग आधी रही और बचत का अनुपात 15.3 से बढ़कर 21 प्रतिशत हो गया।[9] इन दो कालों में बचत की सीमांत दर क्रमशः 19 और 24 प्रतिशत रही जो द्रुत संवृद्धि प्रदर्शित करने वाले देशों की दर से काफी कम है। सकल स्थिर पूंजी-निर्माण के आंकड़े और भी अर्थपूर्ण हैं। स. घ. उ. से सकल स्थिर पूंजीनिर्माण का अनुपात 1953-53 में 8.4 प्रतिशत था जो बढ़कर 1966-67 में 15.6 हो गया पर उसके बाद 1980-81 में मात्र 19.3 प्रतिशत तक पहुंचा।[10]

1950-51 और 1979-80 के बीच स्थिर पूंजी-निर्माण की प्रवृत्तियों का एक गहन विश्लेषण बचत के बारे में एक तकनीकी कार्यकारी दल द्वारा किया गया था (इस दल के अध्यक्ष के. एन. राज थे)। दल ने अपनी रिपोर्ट 1982 में दी। यह कार्यकारी दल (भारतीय रिजर्व बैंक, 1982) चार दिलचस्प नतीजों पर पहुंचा जो इस काल में भारतीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि के आंकड़ों के विश्लेषण के लिए महत्वपूर्ण हैं। ये निष्कर्ष इस प्रकार हैं: (अ) सकल पूंजी-निर्माण तथा साथ ही, सकल स्थिर पूंजी-निर्माण में अधिकतर वृद्धि छठे दशक के आरंभ से लेकर सातवें दशक के मध्य तक हुई; (ब) वास्तविक दृष्टि से देखें तो अन्य सभी वस्तुओं के सापेक्ष पूंजीगत मालों की कीमतों में अधिक वृद्धि को ध्यान में रखते हुए, स. घ. उ. के भाग के रूप में स्थिर पूंजी-निर्माण की संवृद्धि-दर आठवें दशक के अंत में लगभग उतनी ही थी जितनी सातवें दशक के मध्य में रही थी और यह दर छठे दशक के मध्य की दर से लगभग दो-तिहाई ही अधिक थी; (स) छठे दशक के मध्य से सातवें दशक के मध्य तक पूंजी-निर्माण की दर में वृद्धि मुख्य रूप से सार्वजनिक क्षेत्र मे हुई; और (द) पूरे सातवें दशक में कृषि में निजी पूंजी-निर्माण की दर लगभग पूरी तरह गतिरुद्ध रही।

1980-81 तक भारतीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि की समीक्षा इन्हीं परिणामों के अंतर्गत करनी होगी। प्रासंगिक आंकड़े तालिका 2.5 में दिए गए हैं। ऐसा लगता है कि 1953-54 से 1967-68 तक के काल में घरेलू बचत और स्थिर पूंजी-निर्माण की संवृद्धि का प्रभाव उद्योगों की अपेक्षाकृत अधिक संवृद्धि-दर के रूप में सामने आया। इसके बाद (1981-82 तक) बचत की संवृद्धि-दर में आयी कमी विनिर्माण-उत्पादन की दर में आयी कमी से जुड़ी थी।[11] यह परिणाम अप्रत्याशित नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, छठे दशक के मध्य से सातवें दशक के मध्य तक पूंजी-निर्माण की दर में जो वृद्धि हुई, वह मुख्यतः सार्वजनिक क्षेत्र में थी। मांग और पूर्ति, दोनों पक्षों की दृष्टि से, सार्वजनिक क्षेत्र में पूंजी-निर्माण की उच्चतर दर का प्रभाव उद्योग क्षेत्र में महसूस किया गया।[12] भारत की विकास-रणनीति के अनुकूल, आरंभिक चरणों में वृद्धिक पूंजी-निर्माण मुख्यतः आधारिक संरचना के क्षेत्रों (बिजली, रेलवे और संचार समेत) तथा पूंजीगत मालों और बुनियादी उद्योगों (जैसे, मशीनें और इस्पात) में हुआ। इसके पहले के काल में, इन क्षेत्रों में निवेश की अपेक्षाकृत ऊंची

संवृद्धि-दर से उद्योगों के लिए मांग की वृद्धि में मदद मिली थी। बाद के काल में, निवेश-बचत की अपेक्षाकृत धीमी वृद्धि के मांगपक्षीय प्रभाव भी उद्योग क्षेत्र में महसूस किए गए।[13]

लेकिन 1981-82 के बाद का काल रोचक है। इस काल में बचत की दर में गतिरोध रहा, पर उसके साथ ही विनिमार्ण उत्पादन की संवृद्धि-दर में स्पष्ट बढ़ोतरी हुई तथा राष्ट्रीय आय की संवृद्धि में 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष तक की बढ़ोतरी हुई। संवृद्धि की ये दरें ऐतिहासिक प्रवृत्ति से काफी अधिक हैं। इस परिणाम की व्याख्या दो मुख्य घटनाक्रमों से होती है। पहला, नवें दशक मे पूंजी-निर्गत अनुपात में कमी आयी। इस काल में पूंजी-निर्गत अनुपात लगभग 4.1 था जबकि आठवें दशक में यह 6 के आसपास था। पूंजी-निर्गत अनुपात में इस कमी का एक संभावित कारण यह है कि निवेश की संरचना उन क्षेत्रों और उपभोगों के पक्ष में बदली जो पूंजी की प्रति इकाई से अपेक्षाकृत अधिक आय उत्पन्न करते हैं (राय और सेन 1991)।

दूसरे, नवें दशक में विदेशी बचतों में वृद्धि हुई है। चालू लेखा घाटा 1978-79 में स. घ. उ. का 0.1 प्रतिशत था जो 1981-82 में बढ़कर 1.6 और 1989-90 तक 2.4 प्रतिशत हो गया। सकल पूंजी-निर्माण के भाग के रूप में विदेशी बचत 1978-79 में 0.5 प्रतिशत थी जो बढ़कर 1981-82 तक 7.2 और 1989-90 तक 10 हो गयी। इस काल में विदेशी ऋणों का एक अच्छा-खासा भाग वाणिज्यिक शर्तों पर लिया गया था। विश्व बैंक के ऋण सबंधी आंकड़ों के अनुसार भारत का कुल देय विदेशी ऋण जो 1980 में 18.7 अरब डालर था, 1989 तक बढ़कर 56.3 अरब डालर हो चुका था। इसी काल में विदेशी ऋणदाताओं का ऋण 2 अरब डालर से बढ़कर 21.4 अरब डालर हो गया।[14] इस काल में नए उद्योगों में विनिर्माण की वृद्धि का एक अच्छा-खासा हिस्सा घटकों और कच्चे मालों के आयातों पर आधारित था। मिसाल के लिए, सबसे अधिक तेज गति से बढ़नेवाले दो क्षेत्र स्वचालित वाहन (जिसमें दुपहिए शामिल हैं) तथा इलेक्ट्रानिकी हैं। सात वर्षों के दौरान इनका वास्तविक उत्पादन दोगुने से अधिक हो गया है। ये दोनों ही उद्योग प्रौद्योगिकी और घटकों के आयात पर अत्यधिक निर्भर हैं तथा इनका विकास प्रशुल्क की ऊंची संरक्षक दीवारों के पीछे हुआ है। इन क्षेत्रों में घरेलू कीमतों पर वर्धित मूल्य की वृद्धि बहुत अधिक रही है लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि क्या ये क्षेत्र अंतर्राष्ट्रीय कीमतों पर वर्धित मूल्य की ऐसी ही वृद्धि दिखाएंगे और क्या उनकी घरेलू संवृद्धि-दरें लंबे समय तक जारी रखी जा सकती हैं ? संवृद्धि-दर को तेज करने के लिए विदेशी वाणिज्यिक ऋणों पर अधिकाधिक निर्भरता से विकास की नीतियों के लिए अनेक प्रश्न खड़े होते हैं, खासकर भुगतान-संतुलन के क्षेत्र में।

भारतीय अर्थव्यवस्था की बचत संबंधी उपलब्धियों का एक रोचक पक्ष सार्वजनिक बचतों की प्रवृत्ति से संबंधित है (इसमें सार्वजनिक उद्योगों की बचतें भी

शामिल हैं)। समग्र बचत में सार्वजनिक उद्यमों (केंद्र और राज्यों, दोनों के) का योगदान 1953-54 में स. घ. उ. का 1.2 प्रतिशत था। यह बढ़कर सातवें दशक के मध्य में 3 प्रतिशत से अधिक और फिर 1977-78 तक 4.3 प्रतिशत हो गया। लेकिन नवें दशक में सार्वजनिक बचतों में तेजी से गिरावट आयी। 1989-90 तक स. घ. उ. के भाग के रूप में सार्वजनिक बचतें गिरकर 2 प्रतिशत से भी कम रह गयी थीं।[15] भारतीय अर्थव्यवस्था में बचत की समस्या का मूलतत्व यही है।

## भारत के अनुभव : भुगतान-संतुलन के क्षेत्र में

कुछ अपेक्षाकृत संक्षिप्त अवधियों को छोड़ दें तो भारत 1956-57 से ही भुगतान-संतुलन की समस्याओं का सामना करता रहा है (देखें अध्याय 4)। यह अतिरंजना नहीं है कि इस पूरे काल में भारत की आर्थिक नीतियों का निर्माण भुगतान-संतुलन की चिंता से बहुत अधिक प्रभावित रहा है। खासतौर पर औद्योगिक और व्यापारिक नीतियां बहुत बडी सीमा तक इस विचार से प्रभावित होती रही हैं कि भुगतान की कठिन स्थिति पर उनका प्रभाव क्या हो सकता है। स्वाधीनता के समय भारत के पास विपुल पौंड पावना (स्टर्लिंग भंडार) था। 1950-51 में (सोने को छोड़कर) यह भंडार मालों के आयात का लगभग 158 प्रतिशत था। लेकिन पहली पंचवर्षीय योजना की निवेश और आयात संबंधी आवश्यकताएं पूरी करने के क्रम में इस भंडार में तेजी से गिरावट आयी। 1957-58 तक यह भंडार रुपयों में अभिहित करें तो 1950-51 के स्तर का कोई एक-तिहाई रह गया था। उस वर्ष भारत को भुगतान-संतुलन के एक गंभीर संकट का सामना करना पड़ा। इस संकट के समाधान के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय बचाव कार्यक्रम की आवश्यकता पड़ी जिसमें भारत सहायता संघ की स्थापना और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष से ऋण लेना भी शामिल थे। इसके अलावा विदेशी मुद्रा पर नियंत्रण की एक कठोर व्यवस्था लागू की गयी तथा आयातो पर कठोर परिमाणात्मक प्रतिबंध लगाए गए।

1968-69 तक भुगतान-संतुलन की स्थिति बहुत नाजुक बनी रही। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कई ऋण लेने पड़े। उस साल मुद्राभंडार बहुत कम, आयातों का कोई 21 प्रतिशत था। दो विकट सूखों और दो युद्धों के कारण भुगतान-संतुलन की समस्याएं इस काल में और भी गहराईं। 1968-69 और 1973-74 के बीच मुद्राभंडार की स्थिति में जरा सा सुधार आया। लेकिन स्थिति, कुल मिलाकार, कठिनाई भरी ही रही और इसके कारण आयातों तथा विदेशी मुद्रा पर कठोर नियंत्रण की आवश्यकता बनी रही।

इसके बाद तेल की कीमतों में उछाल का पहला झटका लगा। सितंबर 1973 और अप्रैल 1974 के बीच कच्चे तेल की अंतर्राष्ट्रीय कीमतों में चार गुनी वृद्धि हुई। इससे हमारे तेल का आयात बिल 200 करोड़ रुपए से बढ़कर 1160 करोड़ रुपए

हो गया और 1972-73 में जहां चालू खाते में थोड़ी सी अतिरिक्त राशि थी, 1974-75 तक इसमें 960 करोड़ का घाटा हो गया। स. घ. उ. के प्रतिशत के रूप में चालू लेखा घाटा 1974-75 में 1.4 प्रतिशत हो गया जबकि इससे ठीक पहले के तीन वर्षों में यह 0.4 प्रतिशत था। निर्यातित वस्तुओं और सेवाओं के प्रतिशत के रूप में यह घाटा बढ़कर 25 प्रतिशत से ऊपर चला गया जबकि 1970-71 से 1972-73 के बीच यह औसतन 8 प्रतिशत था। लेकिन अधिकांश लोगों की आशंकाओं के विपरीत भारतीय अर्थव्यवस्था ने इन घटनाक्रमों का बहुत अच्छी तरह सामना किया और 1976-77 से 1979-80 के बीच भारत की भुगतान-संतुलन की स्थिति में तेजी से सुधार हुआ। 1974-75 में मुद्राभंडार 600 करोड रुपये का था जो 1979-80 तक बढ़कर 5160 करोड़ रुपये हो गया। 1979-80 में यह भंडार आयातों का 54 प्रतिशत था।

इस काल में, भुगतान-संतुलन की स्थिति में सुधार होने से आयात तथा औद्योगिक उदारीकरण की दिशा में एक हल्की सी शुरुआत हुई। भारत के पिछले इतिहास को देखते हुए यह कहानी भी दिलचस्प है कि यह परिवर्तन आया कैसे (विस्तृत विवरण के लिए अहलूवालिया, 1986 देखें)। संक्षेप में, यह परिर्वतन इस कारण आया कि मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने तथा निर्यात बढ़ाने में उल्लेखनीय सफलता मिली थी। आयात की सवृद्धि-दर भी कम की गयी जिससे व्यापार खाते में तेजी से सुधार हुआ। इसके अलावा, बाहर से आनेवाले धन तथा मध्यपूर्व में कार्यरत भारतीयों के निजी हस्तांतरण में भी सुधार आया।

तेल की कीमतें 1979 में दोबारा बढ़ीं। भारत का तेल का बिल 1680 करोड़ रुपए से बढ़कर 1980-81 तक 5260 करोड़ रुपये हो गया। चालू खाते में तेजी से गिरावट आयी और भारत को फिर भुगतान-संतुलन के एक 'संभावित' संकट का सामना करना पड़ा–'संभावित' इसलिए कि 1980-81 में भी विदेशी मुद्राभंडार की स्थिति संतोषजनक थी। इस स्थिति से निपटने के लिए भारत ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से एक विस्तारित समझौता किया जिसके अंतर्गत वह तीन वर्षों में 5 अरब विशेष आहरण अधिकार (एस. डी. आर.) की रकम उधार ले सकता था। 1983-84 के अंत तक वस्तुतः 3.9 अरब एस. डी. आर. का ऋण लिया गया। इसके बाद मुद्राभंडार की स्थिति में सुधार को देखते हुए इस कार्यक्रम को समाप्त कर दिया गया। लगभग अप्रैल, 1988 तक विदेशी मुद्राभंडार की स्थिति अपेक्षाकृत संतोषजनक बनी रही। उसके बाद इसमें कमी आने लगी और 1989 के मध्य तक यह घटकर 4800 करोड़ रुपये ही रह गया जो केवल 45 दिनों के आयात के लिए काफी था। उसके बाद, और खासकर 1990-91 के खाड़ी युद्ध के बाद, स्थिति बहुत ही नाजुक हो गयी। हाल में, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा व्यापारिक ऋणदाताओं को जो अदायगी करनी पड़ीं, उसके कारण ऋण-सेवा की रकमों में भारी वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप भुगतान-संतुलन की स्थिति पर जबर्दस्त दबाव पड़ा है। ऋण-सेवा का अनुपात जो

1980 में मालों और सेवाओं के निर्यात का 9.1 प्रतिशत था 1989 तक बढ़कर 26.3 प्रतिशत हो चुका था। डालरों में व्यक्त करें तो ऋण-सेवा की रकम 1980 में 1.3 अरब डालर थी जो 1989 तक बढ़कर 4.9 अरब डालर हो गयी।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, नवें दशक में भारत ने वाणिज्यिक ऋणदाताओं से भारी कर्जे लिए। भुगतान की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया कि रियायती सहायता की उपलब्धता कम हो गई, खासकर विश्व बैंक समूह के अंतर्राष्ट्रीय सहायता संगठन (आई. डी. ए.) से। चूंकि विश्व बैंक के कर्जे वाणिज्यिक शर्तों पर मिलते हैं इसलिए नवें दशक में भारत के भुगतान-संतुलन के लिए इस परिवर्तन के महत्वपूर्ण निहितार्थ रहे।

सारांश यह कि कुछ अपेक्षाकृत संक्षिप्त अवधियों को छोड़कर भारत हमेशा ही भुगतान-संतुलन की कठिन समस्या से जूझता रहा है। 1956-57 से 1975-76 के काल में भुगतान-संतुलन के घाटों की भरपाई मुख्यतः रियायती सहायता राशियों से की जाती रही। अभी हाल के समय में, स्थिति बहुत भिन्न रही है और आयात-वृद्धि का भुगतान काफी हद तक वाणिज्यिक ऋणों से किया जाता रहा है। पिछले दो वर्षों में निर्यात की स्थिति अच्छी रही है लेकिन इतनी अच्छी नहीं रही कि चालू लेखा घाटे में कमी ला सके (विस्तृत विश्लेषण के लिए अध्याय 4 देखें)।

वर्तमान दशक में एक बार फिर संभव है कि भुगतान-संतुलन संबंधी चिंता भारत की आर्थिक नीतियों के निर्धारण पर हावी रहे। अतीत की अपेक्षा एक महत्वपूर्ण परिवर्तन जो भुगतान-संतुलन के प्रबंध में पेचीदगियां पैदा करेगा, वह है विदेशी ऋण के परिमाण में तेजी से वृद्धि। भारतीय उद्योग के महत्वपूर्ण क्षेत्रों की पूंजीगत माल और घटकों के आयात पर बढ़ती निर्भरता पेचीदगी का एक और कारण है। नौकरशाहाना नियंत्रण की प्रणाली को और कठोर बनाए बिना, दक्षता में और कमी लाए बिना तथा अर्थव्यवस्था की संवृद्धि-दर में गिरावट लाए बिना इन समस्याओं का समाधान निकालना वर्तमान दशक की नीतिगत चुनौती है।

## भारत के अनुभव : साक्षरता के क्षेत्र में

भारत में प्रौढ़ साक्षरता का अनुपात 1970 में 34 प्रतिशत था। यह बढ़कर 1985 तक 44 प्रतिशत हो गया। 1991 की जनगणना के नवीनतम अनंतिम परिणामों से पता चलता है कि 1981-91 के दौरान साक्षरता दर में महत्वपूर्ण सुधार आया है। तालिका 2.6 में स्वाधीनता के बाद की जनगणनाओं के परिणामों के मुकाबले 1991 की साक्षरता दर को दिखाया गया है। लेकिन 1991 के आंकड़े पिछले वर्षों के आंकड़ों से तुलनीय नहीं हैं क्योंकि 1991 के आंकड़े 7 वर्ष और इससे अधिक आयु की जनसंख्या की साक्षरता-दर के लिए हैं। पिछली जनगणनाओं के आंकड़ों का संबंध 5 वर्ष से अधिक आयु की जनसंख्या से था।

भारत में साक्षरता की दर एशिया की निम्नतम दरों में से है। 1985 में एशिया की औसत दर 61 प्रतिशत, लेटिन अमरीका की 80 प्रतिशत और सभी विकासशील देशों की 59 प्रतिशत थी। भारत मे प्राथमिक स्तर पर सकल नामाकंन दर (1986 में) 93.6 प्रतिशत थी, लेकिन हमारे यहां विद्यालयत्यागी बच्चो का प्रतिशत बहुत अधिक है। 1981 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार 6-11 आयुवर्ग के मात्र 47 प्रतिशत बच्चे विद्यालय जाते हैं। लड़कियों के लिए यह दर और भी कम अर्थात् केवल 38 प्रतिशत है (तालिका 2.7 देखें)। शिक्षा मंत्रालय द्वारा किए गए एक आकलन के अनुसार लगभग 50 प्रतिशत बच्चे कक्षा 5 तक पहुंचने से पहले ही विद्यालय छोड़ देते हैं और कक्षा 1 में प्रवेश करने वाले कोई 70 प्रतिशत बच्चे कक्षा 8 से पहले ही विद्यालय छोड़ देते हैं।[16] कक्षा 1-5 के लिए विद्यालय-त्याग की दरों में जरा सी कमी आयी है–सातवें दशक के आरंभ में यह दर 67 प्रतिशत थी जो नवें दशक के आरंभ तक 60 प्रतिशत तथा और भी हाल के वर्षों में, 50 प्रतिशत रह गयी है।

नवें दशक में आये सुधार के बावजूद भारत में साक्षरता की दर आज भी बहुत कम है। ऐसा इसके बावजूद है कि भारत (सकल राष्ट्रीय उत्पाद के प्रतिशत के रूप में) शिक्षा पर लगभग कोरिया जितना ही खर्च करता है। भारत में 1985 में शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय 3 प्रतिशत था (सातवीं योजना में यह 3.6 प्रतिशत था; तालिका 2.8 देखें) जबकि कोरिया में यह व्यय 3.4 प्रतिशत था तथा पूरे एशिया के लिए 3 प्रतिशत था। साक्षरता के क्षेत्र में भारत की हीन उपलब्धि का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि प्राथमिक शिक्षा पर व्यय का अनुपात न केवल सापेक्षतः कम है बल्कि पंचवर्षीय योजनाओं के कुल व्यय के भाग के रूप में इसमें कमी भी आती गयी है। प्रारंभिक स्तर के विद्यालयों की संख्या की वृद्धि जनसंख्या-वृद्धि तक के अनुरूप नहीं रही है (तालिका 2.9 देखें)। पूरे शिक्षा क्षेत्र के कुल व्यय में प्रारंभिक शिक्षा का भाग पहली योजना में 56 प्रतिशत था जो सातवीं योजना तक घटकर 44 प्रतिशत रह गया। दूसरी ओर, माध्यमिक शिक्षा का भाग 13 से 24 प्रतिशत और विश्वविद्यालयी शिक्षा का भाग 9 से 16 प्रतिशत तक बढ़ा। इसके विपरीत, हाल के एक अध्ययन से पता चलता है कि विकासशील देशों ने सार्वजनीन साक्षरता की 'मुहिम' के दौरान प्रारंभिक विद्यालयी शिक्षा पर शैक्षिक व्यय का प्रायः 60 प्रतिशत या इससे भी अधिक भाग खर्च किया (कोलेटा और सुटन, 1988)।

1986 में स्वीकृत नयी शिक्षा नीति ने कुछ सीमा तक इन विकृतियों को दूर करने का प्रयास किया।[17] मई 1988 में साक्षरता संबंधी प्रौद्योगिकी मिशन का आरंभ किया गया। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में इस नयी नीति में दो बातों पर जोर दिया गया है : (अ) सार्वजनिक नामाकंन और 14 वर्ष की आयु तक सभी बच्चों को विद्यालय में बनाए रखना, तथा (ब) शिक्षा की गुणवत्ता में पर्याप्त सुधार। सरकार, स्थानीय निकायों, स्वयंसेवी संगठनों तथा व्यक्तियों को इस प्रयास में पूरी तरह शामिल करने

की बात सोची गयी। 1986 की नीति की समीक्षा आगे चलकर एक समिति ने की जिसने सरकार को अपनी रिपोर्ट दिसंबर, 1990 में दी। इस समिति ने 1986 की नीति के दृष्टिकोण का अनुमोदन करते हुए सुझाव दिया कि 'विद्यालय न जानेवाले' बच्चों की विभिन्न श्रेणियों जैसे, बहुत छोटे बच्चों और श्रमबाजार के अंगभूत बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की रणनीतियां अपनायी जाएं। बच्चों को आकर्षित और प्रतिधारित करने की विद्यालयों की क्षमता बढ़ाने के लिए समिति ने आयोजना और प्रबंध की एक विकेंद्रीकृत तथा सहभागमूलक पद्धति अपनाने की आवश्यकता पर भी जोर दिया ताकि विद्यालय और समुदाय के बीच दृढ़ संबंध स्थापित हो सकें।

ये सभी स्वागतयोग्य पहलकदमियां हैं। फिर भी, साक्षरता-कार्यक्रम के लिए धन की कमी बनी हुई है। इस कार्यक्रम के दायरे को बढ़ाने के संबंध में सांगठनिक कमियां भी बनी हुई हैं। प्राथमिक शिक्षा संबंधी व्यय को बढ़ाने, और जरूरत हो तो उच्च शिक्षा की कीमत पर भी बढ़ाने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है। भारत के पास आवश्यक कौशल हैं। उच्च शिक्षा का जितना प्रसार पहले ही हो चुका है, उससे प्राथमिक शिक्षा के एक विस्तारित कार्यक्रम के लिए पर्याप्त संख्या में प्राथमिक विद्यालयी अध्यापकों की आपूर्ति सुनिश्चित हो जानी चाहिए।

आर्थिक दृष्टि से, शिक्षा नीति के बारे में इससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। इस सदी के अंत तक निरक्षरता का उन्मूलन करने के लिए एक कार्यक्रम यथाशीघ्र आरंभ किया जाना चाहिए।[18] यह शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय की प्राथमिकताओं का प्रश्न है और जरूरी नहीं कि इसके लिए शिक्षा के लिए आबंटित बजट संसाधनों में कोई बड़ी वृद्धि करनी पड़े।

इस विवेचना को समाप्त करने के लिए गैलब्रेथ की हाल की एक उक्ति का उदाहरण देना उपयुक्त होगा : "हमारे समय में...कोई भी साक्षर जनगण निर्धन नहीं है और कोई भी निरक्षर जनगण ऐसा नहीं जो निर्धन न हो। संभवतः निर्धनता और निरक्षरता के और भी बड़े कारण हों। फिर भी, यह अटूट संबंध हमेशा हमारे ध्यान में बने रहना चाहिए।"[19]

## टिप्पणियां

1. सबसे हाल की *वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट 1990* में 1965-80 और 1980-88 के कालों के लिए सकल घरेलू उत्पाद की संवृद्धि-दरों के आंकड़े अलग-अलग दिए गए हैं। पूरे काल को, एक साथ लेकर और 1989 तक आंकड़ों को अद्यतन करके संवृद्धि-दरों का विशेष रूप से परिकलन किया गया है जो तालिका 2.1 में दिखाया गया है।
2. विकासशील देशों के संवृद्धि के अनुभवों पर पारंपरिक सिद्धांत की प्रासंगिकता के लिए सेन (1983) देखें। बचत पर संवृद्धि के प्रभावों पर किये गये अधिकांश सैद्धांतिक कार्य का संबंध

औद्योगिक देशों से है । पूंजी के संचय और संवृद्धि पर बचत के दीर्घकालिक प्रभावों के विश्लेषण के लिए सोलोव (1956) के प्रसिद्ध मॉडल ने मानक निर्देश चिह्न प्रदान किया है । इस और इसके परवर्ती मॉडलों का एक उल्लेखनीय निहितार्थ यह है कि संवृद्धि की दीर्घकालिक दर बचत की दर से अप्रभावित रहती है । बचत प्रवृत्ति के परिवर्तन संवृद्धि के दीर्घकालिक पथ से, अधिक-से-अधिक, अस्थायी विचलन उत्पन्न करते हैं जबकि इस पथ का निर्धारण पूरी तरह प्रौद्योगिक प्रगति की *बहिर्जात* प्रक्रिया से होता है । लेकिन अनुभवाश्रित कृतियों से संकेत मिलता है कि औद्योगिक देशों की संवृद्धि-दरों का बचत की दरों से वास्तव में अत्यधिक सहसंबंध होता है (समर्स और कैरोल 1989 देखें) । इन अनुभवाश्रित परिणामों की सहायता से अनेक वैकल्पिक मॉडलों का विकास हुआ है जिन्होंने एरो (1962) तथा उजावा (1965) की पिछली कृति को आगे बढ़ाया है और जो संवृद्धि की दीर्घकालिक दर को *अतर्जात* और बचत की दर से संबंधित मानते हैं । अंतर्जात संवृद्धि के मॉडलों में ऐसा माना जाता है कि पूंजी के संचय से जुड़े कुछ बाह्य तत्व हैं जैसे, मानवपूंजी का संचय, अनुसंधान और विकास, नए उत्पादों का विकास और अधिगम । ये बाह्य तत्व ह्रासमान प्रतिफलों के प्रभावों को दूर कर देते हैं तथा संवृद्धि दर को बढ़ाते हैं । रोमर (1986 और 1987), क्रुगमैन (1987) तथा ग्रासमैन और हेल्पमैन (1989) द्वारा विकसित मॉडल इनमें शामिल हैं । यह भी उल्लेखनीय है कि संवृद्धि के तथाकथित कैंब्रिज मॉडल भी जो मुख्यतः जोन राबिंसन और निकोलस काल्डोर के नामों से जुड़े हैं, लाभों में से की गयी बचत तथा मजदूरियों में से की गयी बचत में अंतर करके अव्यक्त रूप से स्वीकार करते हैं कि कालक्रम में बचत और आय के अनुपातों में परिवर्तन संभव है । इन दो वर्गों की बचत के रुझान सांख्यिकीय दृष्टि से सार्थक पाए गए (हाउथेकर, 1965) । वितरण के प्रश्नो को सम्मिलित करनेवाले ये कैंब्रिज-छाप मॉडल संभवतः विकासशील देशों में बचत संबंधी व्यवहार को समझने के लिए अधिक प्रासंगिक हों ।

पाठ की तालिका 2.1 में जिन देशों के नाम शामिल नहीं हैं, उनकी बचत दरों के आंकड़ों के लिए *वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट, 1990*, तालिका 9 देखें ।

नुर्क्स (1953) 'दुष्चक्र' की प्राक्कल्पना के एक आरंभिक प्रतिपादक थे । इस दृष्टिकोण के अनुसार निर्धन देश इतने निर्धन होते हैं कि पर्याप्त बचत नहीं कर पाते जिससे निवेश की दरें कम रहती है । इससे वास्तविक उत्पादन की संवृद्धि तथा प्रतिव्यक्ति आय के स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । लेकिन कुछ अन्य विचारकों का मत है कि बचत की एक उच्चतर दर संवृद्धि के लिए आवश्यक तो है लेकिन घरेलू बचत की *उपलब्धता* कोई बाधा नहीं है क्योंकि विदेशों से पूंजी का प्रवाह भी संभव है तथा उच्च-आय वर्गो के अनुत्पादक व्यय के स्थान पर उत्पादक निवेश भी संभव है । मिसाल के लिए, आर्थर ल्यूईस का तर्क है कि "बचत निवेश के अवसर का फलन है ।" (ल्यूईस 1978, पृ. 155) । बावेर और यामी (1957, पृ. 12) का कथन है कि "यह कहना प्रायः सत्य के अधिक निकट है कि पूंजी का सृजन विकास की प्रक्रिया के दौरान होता है, बजाय इसके कि विकास पूंजी-संचय का फलन है ।" मेरा तर्क बचत और संवृद्धि के बीच किसी 'सांयोगिक' संबंध की स्थापना पर निर्भर नहीं है । असल बात यह है कि सतत उच्च संवृद्धि बचत की उच्चतर दर से 'संबद्ध' होती है और कालक्रम में बचत के अनुपात में वृद्धि हुए बिना विकासशील देशों में सतत संवृद्धि की संभावना नहीं होती । सुंदरम (1990) ने बचत-दर की वृद्धि के 'पूर्तिपक्षीय' प्रभावों के अलावा निवेश-दर में वृद्धि के अनुकूल 'मांगपक्षीय' प्रभावों पर जोर दिया है (निश्चित ही ये दोनों यथार्थ में एक बराबर होने चाहिए) । रोचक बात यह है कि सुंदरम ने विकासशील देशों में, 1950-80 के काल के लिए, निवेश की *संवृद्धि* तथा आय की *संवृद्धि* के बीच एक

सकारात्मक संबंध भी पाया है। वास्तव में, आय की संवृद्धि तथा आय से निवेश के अनुपात के रूप में मापे गए निवेश के स्तर के बीच जो संबंध होता है, उपर्युक्त संबंध उससे अधिक दृढ़ है (सुंदरम 1990, पृ. 175-81)।

5. *अलफ्रेड मार्शल, प्रिसिंपल्स ऑफ इकनामिक्स* (छठा संस्करण, लंदन, 1910), पृ. 209, 217। मैं यह संदर्भ तथा तालिका 2.7 , 2.8 और 2.9 में दिये गए आंकड़े उपलब्ध कराने के लिए एस. एन. राघवन का आभारी हूं।

6. ल्यूईस (1962) भी देखें।

7. सकारोपाउलस (1988) के आलेख में विकास मे शिक्षा और साक्षरता के योगदान पर हाल के साहित्य का एक सर्वेक्षण भी उपलब्ध है।

8. अनेक लेखकों ने जोर देकर कहा है कि संवृद्धि विकास का पर्यायवाची नहीं है। मिसाल के लिए, स्ट्रीटेन (1981) देखें। लेकिन यह बात भी उतनी ही सही है कि संवृद्धि और आयों में बढ़ोतरी के बिना विकास शायद ही संभव है। इसलिए संवृद्धि का त्वरण विकास की किसी भी साध्य रणनीति का अभिन्न अंग होना चाहिए।

9. 1974 में प्रकाशित एक आलेख में चक्रवर्ती ने सातवें दशक के मध्य में बचत-आय अनुपात में आयी कमी का कारण कृषीतर क्षेत्र की तुलना में कृषि उत्पादन के मूल्य में होने वाली तीव्रतर वृद्धि को बताया है। इसके कुछ साक्ष्य उपलब्ध हैं कि खेतिहर घरों में, कुल मिलाकर, बचत की जो सीमांत प्रवृत्ति पायी जाती थी, वह गैरखेतिहर घरों की अपेक्षा कम थी। व्यापार की दशाओं में प्रथमोक्त के पक्ष में जो परिवर्तन आया, उसका परिणाम बचत-आय अनुपात में कमी आना था। इस आलेख में भारतीय संदर्भ में ल्यूईस के मॉडल का एक रोचक विवेचन भी मिलता है।

10. *इकनामिक सर्वे*, 1989-90, भारत सरकार, पृ. एस-8 देखें।

11. भगवती (1987) का विचार है कि भारत की कम संवृद्धि-दर का कारण कम उत्पादकता है जो अपर्याप्त बचत के बजाय गलत समष्टिगत आर्थिक नीतियों और विकास की गलत रणनीति से उत्पन्न हुई है। उनका तर्क है कि पूंजीगत मालों के सापेक्ष मूल्यों के परिवर्तन और गुणवत्ता के परिवर्तनों की गुंजाइश रखी जाए तो भी 1950-80 के काल में बचत और स. रा. उ. का अनुपात रूढ़िवादी आधार पर भी 70 प्रतिशत से अधिक बढ़ा होता और विकास पर उसका कोई अधिक प्रभाव न पड़ता। अगर स. रा. उ. की समग्र-संवृद्धि दरों को लें तो यह बात सच है। लेकिन अगर विनिर्माण क्षेत्र की संवृद्धि-दरों पर विचार करें, जो भारतीय संदर्भ में अनुपयुक्त नहीं है, तो हम विभिन्न कालों में पूंजी-निर्माण की ऊंची संवृद्धि-दरों और विनिर्माण-उत्पादन की ऊंची संवृद्धि-दरों के बीच एक घनिष्ठ संबंध पाएंगे।

12. संवृद्धि के लिए मांग और पूर्ति, दोनों पक्षों के कारकों के विश्लेषण के लिए सुंदरम (1990) देखें। सुंदरम ने पाया कि निवेश के मांगपक्षीय प्रभाव संवृद्धि में निवेश / बचत की भूमिका की व्याख्या के लिए महत्वपूर्ण हैं।

13. सातवें दशक के मध्य में, पर किये गये 1965-66 और 1966-67 के भारी सूखे के बाद, कृषि सार्वजनिक निवेश में गतिरोध आ गया। भारी उद्योगों के उत्पादों की मांग तथा रेलवे, बिजली और खदानों में होने वाले निवेश पर भी उसके प्रभाव पड़े। भारत के विकास-परिणाम संबंधी साहित्य में इस पर काफी चर्चा हुई है। अहलूवालिया (1985) , अध्याय 5 देखें।

14. अधिक ब्यौरे के लिए अध्याय 4 देखें ।

15. सार्वजनिक क्षेत्र की बचतों के आंकड़े केंद्रीय सांख्यिकी संगठन द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी से लिए गए हैं । इनमे राज्य सरकारों और उनके उद्यमों की बचतें भी शामिल हैं । राष्ट्रीय आय के लेखाओं में सार्वजनिक क्षेत्र की बचत की जो धारणा प्रयुक्त होती है तथा सरकार और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कुछ अन्य दस्तावेजों में सार्वजनिक बचते की जो परिभाषा दी गयी है, उनमें कई अंतर हैं ।

16. ये आंकड़े शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के दस्तावेज *शिक्षा की चुनौतियां* (1985) से लिए गए है ।

17. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (भारत सरकार, 1986 ब) ने घोषणा की कि 'आजीवन शिक्षा शिक्षा-प्रक्रिया का अभीष्टतम लक्ष्य है ।" प्राथमिक शिक्षा के संदर्भ में 14 वर्ष तक के बच्चों का नामांकन और प्रतिधारण एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है । इस नीति का उद्देश्य यह था कि 1990 तक 11 वर्ष तक के सभी बच्चो को 5 वर्ष की विद्यालयी शिक्षा (या अनौपचारिक धाराओं में इसके समतुल्य शिक्षा) दी जाए । यह लक्ष्य पूरा नहीं हुआ ।

18. मेरा तर्क है कि साक्षरता विकास-प्रक्रिया की एक महत्वपूर्ण निविष्टि है । सेन ने ठीक ही मत व्यक्त किया है कि साक्षरता अपने-आपमें भी महत्वपूर्ण है : "यह बात कही जाती है कि मात्र साक्षरता को शिक्षा का पर्याय नहीं मानना चाहिए । इसमें अनदेखी होती है तो स्वतंत्रता के इस निषेध की जो निरक्षरता नामक लांछन से जुड़ी है और जिसका उन्मूलन भारतीय योजना-प्रक्रिया के आरंभ से ही जोशीले भाषणो का अंग रहा है ।"

19. जान. के. गैलब्रेथ इकनामिक्स इन दि सेचुरी एहेड, *दि इकनामिक जर्नल*, जनवरी 1991, खंड 101, पृ 46.

## तालिका 2.1

### उच्च संवृद्धि वाले देशों में संवृद्धि तथा सीमांत बचत की दरें

| | देश | *संवृद्धि की दर (प्रतिशत प्रतिवर्ष)* | *सकल राष्ट्रीय उत्पाद के प्रतिशत के रूप में सीमांत बचत की दरें* | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | *1965-89* | *1965-70* | *1985-89* | *1965-89* |
| 1. | बोत्सवाना | 12.3 | (–)65.4 | 73.2 | 37.2 |
| 2. | ब्राजील | 6.0 | 26 8 | 42.5 | 27.4 |
| 3. | कैमरून | 6.3 | 108.7 | 145.1 | 24.5 |
| 4. | चीन | 7.5 | 32.0 | 43.1 | 38.8 |
| 5. | कांगो | 6.6 | (–) 19.0 | 449.8 | 22.9 |
| 6. | इक्वाडोर | 6.0 | 16.0 | (–) 111.7 | 17.2 |
| 7. | मिस्र | 6.6 | (–) 51.9 | (–) 34.8 | 3.8 |
| 8. | हागकांग | 8.4 | 7 6 | 37.4 | 32.5 |
| 9. | इंडोनेशिया | 6.7 | 16 6 | 18.4 | 39.0 |
| 10. | कोरियाई गणराज्य | 8.8 | 28.6 | 58.0 | 43.3 |
| 11. | लेसोथो | 7.6 | (–) 109.6 | 183 7 | (–) 27.0 |
| 12. | मलेशिया | 6.6 | 34.2 | 29 4 | 35.6 |
| 13. | ओमान | 10.9 | – | – | – |
| 14. | पैरागुए | 6.1 | 13.9 | 11 1 | 16.9 |
| 15. | सऊदी अरब | 8 0 | – | – | – |
| 16. | सिंगापुर | 8.5 | – | – | – |
| 17. | सीरिया | 6.5 | 4.6 | 9.3 | 10.6 |
| 18. | थाइलैंड | 6.9 | 26.6 | 21.1 | 23.0 |
| 19. | ताइवान | 9.2 | 34 3 | 34 7 | 33.5 |
| | औसत | 7.4 | 25.7 | 36.8 | 32.8 |

– · अनुपलब्ध

स्रोत : विश्व बैंक

## तालिका 2.2

## उच्च संवृद्धि वाले देशों में निर्यात और आयात की संवृद्धि-दरें

| | *देश* | *औसत वार्षिक संवृद्धि-दर (प्रतिशत में)* | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | *निर्यात* | | *आयात* | |
| | | *1965-80* | *1980-88* | *1965-80* | *1980-88* |
| 1. | बोत्सवाना | – | – | – | – |
| 2 | ब्राजील | 9.3 | 6.0 | 8.2 | (–) 2.9 |
| 3. | कैमरुन | 5.2 | 6.8 | 5.6 | 2.5 |
| 4 | चीन | 5.5 | 11.9 | 7.9 | 13.1 |
| 5. | कांगो | 12.5 | 4.6 | 1.0 | (–) 2.1 |
| 6. | इक्वाडोर | 15.1 | 5.7 | 6.8 | (–) 2.8 |
| 7. | मिस्र | 2.7 | 6.2 | 6.0 | 1.5 |
| 8. | हांगकांग | 9.5 | 12.3 | 8.3 | 10.4 |
| 9. | इंडोनेशिया | 9.6 | 2.9 | 14.2 | (–) 2.1 |
| 10. | कोरियाई गणराज्य | 27.2 | 14.7 | 15.2 | 9.9 |
| 11. | लेसोथो | – | – | – | – |
| 12. | मलेशिया | 4.4 | 9.4 | 2.9 | 0.4 |
| 13. | ओमान | – | – | – | – |
| 14 | पैरागुए | 7.9 | 15.7 | 4.6 | 4.9 |
| 15 | सऊदी अरब | 8.8 | (–) 16.3 | 25.9 | (–) 9.3 |
| 16 | सिंगापुर | 4.7 | 7.3 | 7.0 | 4.9 |
| 17. | सीरिया | 11.4 | (–) 0.5 | 8.5 | (–) 8.2 |
| 18. | थाइलैंड | 8.5 | 11.3 | 4.1 | 6.2 |
| 19. | ताइवान | 19.0 | 13.9 | 15.1 | 8.5 |
| | औसत | 10.1 | 7.0 | 8.8 | 2.2 |

– अनुपलब्ध

स्रोत : *वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट*, 1990. विश्व बैंक। संवृद्धि की ये दरें माल के निर्यात और आयात के लिए हैं। इनका परिकलन निर्यात और आयात के परिमाणीय सूचकांकों (क्वांटम इंडिसेज) से किया गया है।

## तालिका 2.3

## उच्च संवृद्धि वाले देशों में विदेशी मुद्रा के भंडार

| | देश | समस्त अंतर्राष्ट्रीय भंडार | | |
|---|---|---|---|---|
| | | *करोड़ अमरीकी डालरों में* | | *जितने महीने के आयात के लिए पर्याप्त* |
| | | *1970* | *1988* | *1988* |
| 1. | बोत्सवाना | – | 225.8 | 17.7 |
| 2. | ब्राजील | 119.0 | 111.8 | 0.4 |
| 3. | कैमरून | 8.1 | 16.3 | 0.7 |
| 4. | चीन | – | 2375.1 | 5.0 |
| 5. | कांगो | 0.9 | 0.8 | 0.1 |
| 6. | इक्वाडोर | 7.6 | 56.8 | 2.1 |
| 7. | मिस्र | 16.5 | 226 1 | 1 8 |
| 8. | हांगकांग | – | – | – |
| 9. | इंडोनेशिया | 16.0 | 632 2 | 3.3 |
| 10. | कोरियाई गणराज्य | 61.0 | 1247.8 | 2 6 |
| 11 | लेसोथो | – | 5 6 | 1.2 |
| 12 | मलेशिया | 66.7 | 749.1 | 4.0 |
| 13. | ओमान | 1.3 | 117 3 | 6.6 |
| 14. | पैरागुए | 1.8 | 33.8 | 3.0 |
| 15. | सऊदी अरब | 67.0 | 2243.8 | 7.9 |
| 16. | सिंगापुर | 101.2 | 1707.3 | 4.2 |
| 17. | सीरिया | 5 7 | 34.2 | 1 6 |
| 18. | थाइलैंड | 91.1 | 711.2 | 3.6 |
| 19. | ताइवान | 62.7 | 7943.0 | 16.0 |
| | औसत | 41.8 | 1055.4 | 3 9 |

– : अनुपलब्ध

स्रोत : *वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट*, 1990, विश्व बैंक

## तालिका 2.4

### उच्च संवृद्धि वाले देशों में साक्षरता

| | *देश* | *विद्यालयों में नामांकन* | | | | *प्रौढ़ साक्षरता की दर* | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | *प्राथमिक* | | *माध्यमिक* | | | |
| | | *1965* | *1987* | *1965* | *1987* | *1970* | *1985* |
| 1. | बोत्सवाना | 65 | 114 | 3 | 32 | 41 | 71 |
| 2. | ब्राजील | 108 | 103 | 16 | 39 | 66 | 78 |
| 3 | कैमरून | 94 | 109 | 5 | 26 | 33 | – |
| 4 | चीन | 89 | 132 | 24 | 43 | – | 69 |
| 5. | कांगो | 114 | – | 10 | – | 35 | 63 |
| 6 | इक्वाडोर | 91 | 117 | 17 | 56 | 72 | 83 |
| 7. | मिस्र | 75 | 90 | 26 | 69 | 35 | 45 |
| 8. | हांगकांग | 103 | 106 | 29 | 74 | 77 | 88 |
| 9. | इंडोनेशिया | 72 | 118 | 12 | 46 | 54 | 74 |
| 10. | कोरियाई गणराज्य | 101 | 101 | 35 | 88 | 88 | – |
| 11. | लेसोथो | 94 | 113 | 4 | – | 62 | 73 |
| 12. | मलेशिया | 90 | 102 | 28 | 59 | 60 | 74 |
| 13. | ओमान | – | 97 | – | 38 | – | 30 |
| 14. | पैरागुए | 102 | 102 | 13 | 30 | 80 | 88 |
| 15. | सऊदी अरब | 24 | 71 | 4 | 44 | 9 | – |
| 16. | सिंगापुर | 105 | – | 45 | – | 74 | 86 |
| 17. | सीरिया | 78 | 110 | 28 | 59 | 40 | 60 |
| 18 | थाइलैंड | 78 | 95 | 14 | 28 | 79 | 91 |
| 19 | ताइवान | – | – | – | – | – | – |
| | औसत | 78 | 98 | 17 | 46 | 60 | 75 |

– . अनुपलब्ध

स्रोत · *वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट*, 1990. विद्यालयों मे नामांकन के आंकड़ों के लिए, *ह्यूमन डवलपमेंट रिपोर्ट*, 1990 (राष्ट्रसंघ विकास कार्यक्रम), प्रौढ़ साक्षरता की दरों के लिए।

टिप्पणी · नामांकन के अनुपात संगत आयुवर्ग के प्रतिशत के रूप में हैं। प्राथमिक शिक्षा वाले कुछ देशों मे सकल नामांकन के अनुपात 100 प्रतिशत से अधिक हो सकते है। कारण कि उनमें कुछ छात्र देश की मानक प्राथमिक विद्यालयी आयु से अधिक या कम आयु के हो सकते हैं। साक्षरता की दरों का संबंध 15 वर्ष या इससे अधिक आयु की जनसंख्या से है।

## तालिका 2.5

### भारत में बचत, पूंजी-निर्माण और उत्पादन, 1953-54 से 1989-90 तक

| *मद* | *1953-54 से 1966-67* | *1967-68 से 1980-81* | *1981-82 से 1989-90* | *1953-54 से 1989-90* |
|---|---|---|---|---|
| 1. सीमांत बचत दर, सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में | 19.0 | 24.0 | 22.0 | 22.0 |
| 2. सकल स्थिर पूंजी-निर्माण की संवृद्धि-दर (1980-81 की कीमतो पर) | 7.4 | 4.2 | 5.5 | 5.7 |
| 3. सकल स्थिर पूंजी-निर्माण की संवृद्धि-दर (स. घ. उ. के प्रतिशत के रूप मे) | 4.3 | 1.6 | 1.2 | 2.5 |
| 4. घटकीय लागत पर स. घ. उ की संवृद्धि-दर (1980-81 की कीमतों पर) | 3.5 | 3 8 | 5.5 | 4 1 |
| 5. कृषि में वर्धित मूल्य की संवृद्धि-दर (1980-81 की कीमतों पर) | 1.5 | 3.9 | 3.8 | 2 9 |
| 6. कृषि-उत्पादन की संवृद्धि-दर (सूचकांक) | 2.1 | 4.3 | 3.9 | 3 4 |
| 7. विनिर्माण में वर्धित मूल्य की संवृद्धि-दर (1980-81 की कीमतों पर) | 6.3 | 4.3 | 7.2 | 5.7 |
| 8. औद्योगिक उत्पादन की संवृद्धि-दर (सूचकांक) | 7.4 | 4.5 | 7.8 | 6.4 |

स्रोत भारत सरकार के प्रकाशन। किसी काल विशेष की संवृद्धि-दर वार्षिक संवृद्धि-दरों का साधारण औसत है।

## तालिका 2.6
## भारत में साक्षरता की दरें : 1951-91

| *वर्ष* | *व्यक्ति* | *पुरुष* | *स्त्रियां* |
|---|---|---|---|
| 1951 | 18 33 | 27.16 | 8.86 |
| 1961 | 28.31 | 40.40 | 15.34 |
| 1971 | 34 45 | 45.95 | 21.97 |
| 1981 | 43.56 | 56.37 | 29 75 |
| | (41.42) | (53.45) | (28.46) |
| 1991 | 52 11 | 63.86 | 39.42 |

स्रोत . 'जनसंख्या के अनंतिम योग', भारत की जनगणना, 1991, भारत सरकार।

टिप्पणी 1951, 1961 और 1971 की साक्षरता-दरों का संबंध 5 या इससे अधिक आयु की जनसंख्या से है। 1981 और 1991 की दरों का संबंध 7 या इससे अधिक वर्ष की जनसंख्या से है। 1981 में 5 या इससे अधिक आयु की जनसंख्या की साक्षरता-दरो को कोष्ठकों मे दिखाया गया है।

## तालिका 2.7
## विद्यालयगामी बच्चों का (प्रतिशत) अनुपात : 1981

| *जनसख्या* | *6-11 वर्ष* | *11-14 वर्ष* | *6-14 वर्ष* |
|---|---|---|---|
| समग्र | 47.15 | 51 96 | 48.72 |
| पुरुष | 54.88 | 63.81 | 58.11 |
| स्त्रिया | 38 45 | 38 67 | 38.52 |
| ग्रामीण | 41.27 | 45 69 | 42.69 |
| पुरुष | 50 57 | 59.52 | 53 50 |
| स्त्रिया | 31.28 | 30.12 | 30 93 |
| नगरीय | 68.83 | 72.93 | 70.26 |
| पुरुष | 72.70 | 78.32 | 74.66 |
| स्त्रियां | 64.71 | 66.98 | 65.52 |

स्रोत · वाई. पी. अग्रवाल, 'टुवर्ड्स एजुकेशन फार आल चिल्ड्रेन—इनटेंट एंड रियालिटी', *जर्नल आफ एजुकेशनल प्लानिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन*, 2 (1 तथा 2), 1988 (भारत की जनगणना, 1981 से आकलित)।

टिप्पणी : ऊपर दिये गये प्रतिशत कक्षा 1 से 5 और 6 से 8 के नामांकनों के अनुरूप नहीं हैं।

**तालिका 2.8**

**विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के परिव्यय / व्यय में शिक्षा का भाग**

| *पंचवर्षीय योजना* | *प्रतिशत भाग* |
|---|---|
| पहली योजना | 7.86 |
| दूसरी योजना | 5.83 |
| तीसरी योजना | 6.87 |
| वार्षिक योजनाएं (1966-69) | 4.86 |
| चौथी योजना | 5.04 |
| पांचवीं योजना | 3.27 |
| छठी योजना | 2.70 |
| सातवीं योजना | 3.55 |

स्रोत : पंचवर्षीय योजनाओं के दस्तावेज; भारत सरकार के आर्थिक सर्वेक्षण।

**तालिका 2.9**

**प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा में वृद्धि की प्रवृत्तियां (प्रतिशत प्रतिवर्ष)**

| *मद* | *1950-51 से 1960-61* | *1960-61 से 1970-71* | *1970-71 से 1980-81* | *1980-81 से 1986-87* |
|---|---|---|---|---|
| 1. विद्यालयों पर व्यय | | | | |
| नामिक (नामिनल) | 10 7 | 13.8 | 14.5 | 16.9 |
| प्राथमिक | 10.2 | 13.3 | 14 4 | 16.6 |
| माध्यमिक | 11.6 | 14.6 | 14 6 | 17.4 |
| 2. विद्यालयों की संख्या | 5.6 | 3.0 | 2.2 | 1.6* |
| प्राथमिक | 5.5 | 2.8 | 2.1 | 1.5* |
| माध्यमिक | 9.0 | 7.8 | 3.3 | 3.6* |
| 3. अध्यापकों की संख्या | 6.3 | 5.3 | 3.0 | 2 4* |
| प्राथमिक | 5.7 | 4.6 | 2.7 | 1.6* |
| माध्यमिक | 8.9 | 7.8 | 3.8 | 4.2* |

* : 1980-81 से 1984-85

स्रोत : सेलेक्टेड एजुकेशनल स्टेटिस्टिक्स (विभिन्न अंक), शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय।

# 3

# शासन का 'अंत' ?

समष्टिगत व्यवहार में गोचर विशिष्ट दोलनों पर लिखे गए एक लेख में अल्बर्ट हर्शमैन ने सवाल किया था कि "क्या हमारे समाजों में सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति गहरे सरोकार तथा वैयक्तिक सुधार और निजी कल्याण के लक्ष्यो के बीच किसी-न-किसी तरह दोलन करते रहने की प्रवृत्ति पायी जाती है ?" (हर्शमैन, 1982, पृ. 3)। विकास में सरकार की भूमिका पर जनसाधारण तथा विशेषज्ञवृंद, दोनों के विचारों में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों के बारे मे भी ऐसा ही प्रश्न पूछा जा सकता है।

छठे और सातवे दशक में इस बात पर एक व्यापक सहमति पायी जाती थी कि सरकारों को विकास मे प्रत्यक्षत: हस्तक्षेप करना चाहिए और सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। आरंभिक विकास-अर्थशास्त्र में इसके प्रति निर्विकल्प आस्था पायी जाती थी कि राज्य, बाजार की असफलताओं और अपूर्णताओं को दूर करने तथा आर्थिक विकास की प्रक्रिया का कारगर मार्गदर्शदन करने में समर्थ है। वास्तव में, विश्व बैंक जैसी विकास को समर्पित पूंजीवादी संस्था उन देशों को ऋण देने में हिचकती थी जिनके पास सरकार द्वारा प्रायोजित कोई 'विकास-योजना' नहीं होती थी।[1] नवें दशक के आरंभ तक इस विचार को बहुत हद तक छोड़ा जा चुका था, खासतौर पर औद्योगिक देशों और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा। अर्थशास्त्री भी इसका अनुगमन करने में बहुत पीछे नहीं रहे।

हाल के वर्षों का साहित्य नियामक हस्तक्षेपकारी राज्यों की 'सार्वजनिक असफलताओं' के नवशास्त्रीय विवरणों से भरा पड़ा है।[2] सरकारों को अब विकास के रास्ते की प्रमुख बाधा माना जाने लगा है। विकास के कार्य से सरकारों को निकाल बाहर करना आज अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं, आर्थिक विशेषज्ञों और ऋणदाता संस्थाओं द्वारा दी जानेवाली नीतिगत सलाहों का महत्वपूर्ण तत्व बन चुका है। ब्रिटेन में थैचरवाद तथा अमरीका में रीगनवाद के उदय का भी इस परिवर्तित मन:स्थिति में योगदान

रहा।[3] अनेक विकासशील देशों की बढ़ती आर्थिक कठिनाइयों तथा समय पर सुधार-मूलक उपाय करने में उनकी सरकारों की असफलता का भी इस परिवर्तन में योगदान रहा है। अनेक विकासशील देश अंशतः खुद के अनुभवों की प्रतिक्रिया में तथा अंशतः अंतर्राष्ट्रीय दबावों के कारण, अपनी अर्थव्यवस्थाओं में सरकार की भूमिका पर प्रश्नचिह्न लगा रहे है। मिसाल के लिए, वेनेज़ुएला के राष्ट्रपति कार्लोस आंद्रे पेरेज़ ने, जिनकी दृढ़ समाजवादी आस्था सुविदित है, तीसरी दुनिया की राजनीति को 'विचारधारामुक्त' करने तथा अर्थव्यवस्था मे सरकार का हस्तक्षेप कम करने का आह्वान किया है। इसी प्रकार स्पेन के प्रधानमंत्री फेलिप गोंज़ालेज ने जो सोशलिस्ट पार्टी के नेता भी हैं, बाजारी शक्तियो के अधिकाधिक उपयोग के द्वारा 'दक्षता' बढ़ाने के लाभों पर विचार व्यक्त किए हैं। इससे भी अधिक ध्यानाकर्षक दृष्टांत जांबिया के केनेथ कौंडा के इस ओर रुझान का है जो अफ्रीका मे समाजवाद और केंद्रीय आयोजना के लाभो के पुराने प्रतिपादक रहे हैं।[4] दूसरे अनेक विकासशील देशों, और खासकर अफ्रीका और लेटिन अमरीका के जो देश आर्थिक कठिनाइयों से गुजर रहे हैं, उनके नेताओं ने भी इसी प्रकार अपनी अर्थव्यवस्थाओ में सरकार और सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका घटाने की प्रतिबद्धता व्यक्त की है। नवें दशक के मध्य में चीन की सरकार ने आर्थिक सुधारो तथा बाजारी अर्थव्यवस्था की दिशा मे बढ़ने की एक व्यापक प्रक्रिया आरंभ की है। लेकिन जून 1989 की घटनाओं के बाद इस नीति का पुनर्मूल्यांकन किया गया है और अब लगता है कि वहां आर्थिक उदारीकरण की गति धीमी हो गयी है।

सबद्ध मुद्दों की जांच करने से पहले हमारे लिए स्वयं को यह याद दिलाना जरूरी है कि विकासशील देशो मे आरंभ के तीसक वर्षो के दौरान, आयोजना और राजकीय हस्तक्षेप के लाभ पर्याप्त उल्लेखनीय रहे थे। 1950 से पहले की एक सदी में विकासशील देशों की आर्थिक संवृद्धि मुश्किल से ही जनसंख्या वृद्धि के अनुरूप बढ़ सकी थी। औद्योगिक गतिविधि बहुत ही कम थी और अधिकाश जनता कम उत्पादकता वाले कृषि-कार्यों में रत थी जिनमें भारी उतार-चढ़ाव आते रहते थे। इसके विपरीत, पिछले 40 वर्ष महत्वपूर्ण प्रगति के वर्ष रहे हैं। विश्व बैंक के आकड़ो से पता चलता है कि विकासशील देशों में 1965-80 के दौरान राष्ट्रीय आय की संवृद्धि दर 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक थी। इसी दौरान, आज के भारी ऋणग्रस्त विकासशील देशों ने 6.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की और भी ऊंची संवृद्धि-दर प्राप्त की थी। सहारा से नीचे के क्षेत्र में संवृद्धि की दर 5.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। विकासशील देशों का विनिर्माण उत्पादन 8 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा।[5] यह सब अभूतपूर्व था–इन देशों के अपने इतिहास की दृष्टि से भी तथा आज के औद्योगिक देशों द्वारा अपने विकास के आरंभिक चरणों में प्राप्त संवृद्धि-दरों की तुलना में भी। 1790 और 1820 के बीच ग्रेट ब्रिटेन में संवृद्धि की दर 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। जर्मनी में 1850 और

1880 के बीच यह दर 2.7 प्रतिशत थी। 1820 और 1850 के बीच अमरीका की संवृद्धि-दर लगभग 4 प्रतिशत थी तथा 1876 और 1900 के बीच जापान की संवृद्धि-दर कोई 4 प्रतिशत थी (पियर्सन आयोग, 1969, पृ. 27)।

इसमें संदेह नहीं कि 1950 के बाद संवृद्धि-दरों में यह बढ़ोतरी उन संरचनागत परिवर्तनों के कारण आयी जो इन देशों की सरकारों द्वारा निर्धारित और क्रियान्वित नयी विकास-रणनीतियों के कारण आए थे।[6] उत्पादकता, बचत की दर और उत्पादन के स्वरूप को बदलने के संदर्भ में काफी अच्छे परिणाम हासिल हुए। ऐसा नहीं कि सारी नीतियां सही ही थीं या यह कि गलतियां नहीं हुईं। यह भी स्पष्ट है कि बदलती प्रौद्योगिकी, व्यापारिक और संस्थागत व्यवस्थाओं के अनुसार इन नीतियों और रणनीतियों को ढालने की आवश्यकता है। फिर भी, यह दोलन इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि अर्थव्यवस्था में सरकार का कोई लाभकर हस्तक्षेप ही न रहे।

विकास पर हमारे चिंतन की स्पष्ट त्रुटियों और गलत आरंभ के कारणों पर विचार करते हुए पाल स्ट्रीटेन ने तर्क दिया है कि :

> *विकास के क्रम में सामने आनेवाली बहुत सी कठिनाइयां न तो वैचारिक त्रुटियों के परिणाम हैं और न ही निहित स्वार्थों के कारण हैं। ये, वास्तव में, पिछली समस्याओं के सफल समाधान की उपज हैं। वैज्ञानिक आत्मविश्वास कहता है कि हर समस्या का एक समाधान है लेकिन अनुभव हमें सिखाता है कि हर समाधान से जुड़ी एक समस्या होती है और अक्सर एक से अधिक समस्याएं होती हैं।*

सरकार-विरोधी वर्तमान रवैये का विश्लेषण इसी ढंग से करते हुए स्ट्रीटेन ने आगे कहा है :

> *जो लोग यह मानते हैं कि सरकारी संगठन समस्याएं हल नहीं करते बल्कि खुद एक समस्या हैं, यह देखने से चूक गए हैं कि कभी-कभी सरकारी कार्यवाही की सफलता ही खुद की जड़ें खोदती है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की चौथाई सदी में केंजवादी मांग-प्रबंध और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भारी सफलता (कुछ लोग इससे इंकार करेंगे कि सफलता का श्रेय इन्हीं को है) ही वह चीज थी जिसमें केंजवादी प्रतिक्रांति के बीज निहित थे (स्ट्रीटेन 1986 पृ. 240 और 242)।*

लेकिन पिछले गतिरोध को समाप्त करने में हस्तक्षेपवादी रणनीतियों की सफलता के कारण राजसत्ता की प्रभाविता में एक अतिरंजित विश्वास भी पैदा हुआ। हर समस्या का समाधान उस क्षेत्र विशेष में सरकार की गतिविधि के प्रसार में ढूंढा गया, भले ही उसकी लागत या परिणाम कुछ भी हों। सरकार का प्रसार जल्द ही स्वयं में एक लक्ष्य बन गया और आर्थिक क्षेत्र की प्रत्येक प्राथमिकता या असफलता की प्रतिक्रिया में एक नया नियामक कानून या सार्वजनिक क्षेत्र में एक नया निगम पैदा हुआ। सरकार के इस प्रसार को बड़े श्रमपूर्वक उन शक्तिशाली हितों के गठबंधनों

ने बढावा दिया जो राज्य की बढ़ती आर्थिक शक्ति से सीधे-सीधे लाभान्वित होते थे। इससे राजनीतिक अर्थशास्त्र की उस प्रकार की समस्याएं पैदा हुईं जिनकी विवेचना ओल्सो और बर्धन ने की है। कालांतर में, सरकार का आकार इतना फैल गया कि हस्तक्षेप की गुणवत्ता तथा राज्य द्वारा उपलब्ध सेवाओं की गुणवत्ता, दोनों में गिरावट आ गयी। हर्शमैन (1980 और 1982) ने बताया है कि ऐसी ही प्रक्रिया अनेक औद्योगिक देशों में घटित हुई। सरकारी सेवाओं के व्यापक प्रसार से उन सेवाओं की औसत गुणवत्ता गिरी। पश्चिम के देशों में कल्याणकारी राज्य से मोहभंग का यह एक महत्वपूर्ण कारण था।

## भारत में सरकार की भूमिका

भारत में अर्थव्यवस्था के लगभग सभी क्षेत्रों मे (राज्य सरकारों समेत) सरकार की भूमिका का प्रसार हुआ है।[7] छठे दशक में बचत और आय के बहुत कम होने के कारण सरकार को करो के द्वारा वृद्धिक बचतों को जुटाने का काम करना पड़ा। अनेक दूसरे विकासशील देशों की तरह यहां भी उद्यमशीलता का आधार संकुचित था और देश के कुछ ही क्षेत्रो में केंद्रित था। इस्पात और मशीन-निर्माण क्षेत्रों के लिए बड़े पूंजीनिवेश की आवश्यकता थी। अल्पविकसित वित्तीय क्षेत्र के कारण यह काम प्रत्यक्ष रूप से केवल सरकार ही कर सकती थी। सातवें दशक के अंत तक कुछेक व्यापारिक घरानों में आर्थिक शक्ति का संकेंद्रण एक प्रमुख राजनीतिक-आर्थिक मुद्दा बन चुका था। इसके कारण औद्योगिक क्षेत्र में राज्य की भूमिका और बढ़ी। निजी उद्योग और वित्त का गठजोड तोड़ने के लिए तथा कृषि और लघु उद्योग जैसे उन क्षेत्रो को ऋण उपलब्ध कराने के लिए जो सदा से धनाभाव से पीडित थे, बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया।

निवेश के लिए सरकार की संसाधनो की अपनी आवश्यकता बढ़ी तो संसाधनों के लिए निजी क्षेत्र की मांग को प्रतिबधित या नियंत्रित करना आवश्यक हो गया। इसके लिए विदेशी मुद्रा की सीमित उपलब्धि, ऋण संबंधी नियत्रणों और औद्योगिक लाइसेस प्रणाली का उपयोग किया गया। पूर्वनिर्धारित प्राथमिकताओ के अनुसार दुर्लभ संसाधनों का प्रतिबंधित वितरण और आबंटन करने की प्रत्येक कार्यवाही में परस्परविरोधी उद्देश्यों के बीच संतुलन बिठाने की आवश्यकता पड़ती थी। जैसे-जैसे आवश्यकताएं बढ़ीं और संसाधन कम हुए, प्रशासनिक प्रक्रिया और जटिल बनती गयी और उसे विभिन्न क्षेत्रों के आपसी अनुबंधनों को देखते हुए और अधिक प्रकार्य स्वीकार करने पड़े।

प्रशासनिक प्रक्रिया जैसे-जैसे जटिल तथा अदक्ष बनती गयी, संसाधनों की दुलर्भता बढ़ती गयी और असंतोष पनपता गया। तब सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और विशेष रोजगार कार्यक्रमों और निर्धनता-उन्मूलन कार्यक्रमों के रूप में राहत

की व्यवस्था करनी पडी। इस प्रकार सरकार न केवल सेवाओं की व्यवस्था और संसाधनो को आबंटित करनेवाली सस्था बनी बल्कि छोटे-बडे, दोनों प्रकार के उद्यमों में रोजगार जुटानेवाली सस्था भी बन गयी।

ऐसे प्रत्येक कदम का अपना औचित्य था और अपनी तार्किकता थी। वह शायद तत्कालीन परिस्थितियों में अपरिहार्य भी था।[8] सरकारी तंत्र के प्रसार के आर्थिक प्रभावों का आज मूल्यांकन करते हुए हमें याद रखना होगा कि कुछ समय तक इसके लाभदायक परिणाम देखे गए थे। बचत की दर बढ़ी थी और उद्योगों का विस्तार भी हुआ। भारत पूंजीगत माल का उत्पादक और खाद्य के मामले में आत्मनिर्भर बना। खाद्यान्न की सार्वजनिक वितरण प्रणाली मजबूत बनी जिससे अकालों को रोकने में मदद मिली और कम-से-कम नगरीय क्षेत्रों में उचित दामों पर खाद्यान्न उपलब्ध हुआ। विशेष रोजगार कार्यक्रमों ने करोडों लोगों को रोजगार दिया और निर्धनता का अनुपात घटा, भले ही निरपेक्ष निर्धनता का प्रभावक्षेत्र बड़ा और व्यापक ही बना रहा।

भारत में सरकार के कार्यक्षेत्र को पुनः परिभाषित करते समय उन विभिन्न प्रकारों की भूमिकाओ में अतर करना उपयोगी होगा जो आज सरकार निभा रही है। पहला, देश में आयोजना का प्राथमिक उत्तरदायित्व सरकार पर है। आयोजना की प्रक्रिया में राज्य सरकारें भी शामिल है और योजनाओं पर औपचारिक रूप से राष्ट्रीय विकास परिषद् की मंजूरी लेनी होती है जिसमे सभी राज्य सरकारों के मुख्यमत्री भी शामिल होते हैं। लेकिन यथार्थ में, इसका प्राथमिक दायित्व केंद्र पर है जो योजना के ससाधनों के वितरण को निदेशित करता है। केंद्र ही योजना की अतःक्षेत्रीय प्राथमिकताओ का निर्धारण करता है।

दूसरे, सरकार बहुत से सार्वजनिक उद्यमों की स्वामी और प्रबंधक है। 1990 में औद्योगिक और वाणिज्यिक उद्यमों की सख्या 250 के करीब थी। इसके अलावा सरकार ही पूरे यातायात एवं दूरसंचार-क्षेत्र का प्रबंध करती है। इसमें रेलवे, हवाई सेवाए, सडके, डाक-तार, और टेलीफोन के अलावा बस परिवहन और नौ परिवहन के अच्छेखासे भाग आ जाते हैं। बिजली का उत्पादन और वितरण भी मुख्य रूप से सरकार (मुख्यतः राज्य सरकारों) की जिम्मेदारी है। कुल मिलाकर, 1989 में सार्वजनिक क्षेत्र में 185 लाख व्यक्ति कार्यरत थे जबकि निजी क्षेत्र के संगठित उद्योगों (10 या अधिक व्यक्तियो को रोजगार देने वाले प्रतिष्ठानों) में उनकी संख्या 74 लाख थी।

तीसरे, शिक्षा, स्वास्थ्य और समाज कल्याण के क्षेत्र में सार्वजनिक वस्तुओ और सेवाओं को उपलब्ध कराने में सरकार की अहम भूमिका है।

चौथे, बैंकिग तथा वित्तीय मध्यस्थता पर सरकार का लगभग पूरा एकाधिकार है। अनेकों छोटे निजी बैंक तथा वित्तीय संस्थाएं हैं मगर जमा राशियों और वित्तीय प्रवाहों में उनका कुल अंश नगण्य है।

पांचवे, औद्योगिक लाइसेंसों, विदेशी मुद्रा के अनुमतिपत्रों तथा अन्य नियमनों के द्वारा सरकार निजी क्षेत्र की आर्थिक गतिविधियो पर नियंत्रण रखती है। यह उल्लेखनीय है कि भारत की तथाकथित 'नयी आर्थिक नीति' ने सरकर की इस भूमिका में कुछ कमी अवश्य की है, मगर किसी दूसरी भूमिका में कमी नही की।

## आयोजना और नीतियां

अब हम भविष्य के लिए सरकार की इन विभिन्न भूमिकाओं की प्रासंगिकता की संक्षिप्त समीक्षा करेंगे। भारत उन पहले विकासशील देशों में था जिन्होंने विकास के साधन के रूप में केंद्रीय आयोजना की प्रणाली को अपनाया था। विकास की इस केंद्रीय आयोजना का कार्य एक लोकतांत्रिक और संघीय शासनप्रणाली के दायरे मे किया जाने वाला था, इससे इसका महत्व और बढ़ा। आयोजना आत्मनिर्भरता, आर्थिक स्वाधीनता और सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए देश के संघर्ष का पर्याय भी बन गयी। हाल के वर्षों में आयोजना की प्रक्रिया से जो थोड़ा सा मोहभग हुआ है उसके बावजूद सभी राजनीतिक दल सामाजिक-आर्थिक विकास के एक वांछित और आवश्यक साधन के रूप मे आयोजना की धारणा से प्रतिबद्ध है।

इस राजनीतिक तर्काधार के अलावा भारत मे आयोजना का एक ठोस आर्थिक आधार भी है। दुर्लभ संसाधनो और विपुल आवश्यकताओं की स्थिति में आवश्यक है कि संसाधनों, और खासकर सार्वजनिक क्षेत्र के संसाधनों, के आबंटन में विकास के उद्देश्य और प्राथमिकताएं प्रतिबिंबित हों। इन ससाधनों के लिए आपस में टकरानेवाली तथा प्रतियोगी क्षेत्रीय मांगें भी सामने आती हैं। इस कारण यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि इन संसाधनों का आबंटन राज्यों के साथ विचार-विमर्श की प्रक्रिया द्वारा हो। भारत में आयोजना की चाहे जो अपूर्णताए हों, पर उसने इस प्रक्रिया को संस्थागत रूप देने और परस्परविरोधी हितों और आपस में टकरानेवाली मांगों में संतुलन स्थापित करने में अहम भूमिका निभाई है।

यद्यपि आयोजना सरकार का एक महत्वपूर्ण प्रकार्य रहना ही चाहिए, लेकिन अनुभवों के आधार पर उसकी अंतर्वस्तु में परिवर्तन करना आवश्यक है।[9] भारत की आयोजना-प्रक्रिया की यह एक उचित आलोचना है कि पिछली योजनाओं का प्रयास उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित करने से अधिक रहा है और इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक नीतियों या कार्यक्रमों के संकेत देने से उतना नहीं रहा। संवृद्धि के लक्ष्यों और अंतःक्षेत्रीय संतुलनों के प्रति आवश्यकता से अधिक ध्यान दिया गया है जबकि इससे संबंधित निर्णयों के लिए प्रारंभिक आंकड़े तक उपलब्ध नहीं हैं (उदाहरण के लिए, पिछली योजनाओं में दिए गए पूंजी-निर्गत अनुपातों, बचत के अनुपातों तथा मांग-सापेक्षताओं के प्रक्षेपण बहुत अधिक अवास्तविक सिद्ध हुए हैं)।

उत्पादन और निवेश के लक्ष्यों का निर्धारण आगत-निर्गत संबंधों पर अपर्याप्त और अविश्वसनीय आंकड़ों तथा व्यवहार-प्रतिमानों संबंधी अनुमानित मान्यताओं के आधार पर किया जाता रहा है। आयोजना के मॉडलों के विकास में तकनीकी परिष्कार तो बढ़ा है, लेकिन आंकड़ा-आधार कमजोर हुआ है। योजनाओं में वादे भी बढ़ा-चढ़ा कर किए जाते रहे हैं और सीमित संसाधनों को अनेक कार्यक्रमों के लिए थोड़ी-थोड़ी राशियों में आबंटित किया जाता रहा है। इससे किसी एक (जैसे, साक्षरता के) क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हो पायी।[10]

आयोजना से बेहतर परिणाम प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि योजनाओं में समूची अर्थव्यवस्था के लिए निवेश की विस्तृत आयोजना प्रस्तुत करने का प्रयास न किया जाए। किसी मिश्रित अर्थव्यवस्था मे जहां एक बड़ा असंगठित, अवित्तीय और आंतरिक क्षेत्र मौजूद हो, यह व्यावहारिक है ही नहीं। जो भी हो, यह काम आज कारगर ढंग से नहीं किया जा रहा है। कृषि-आयोजना के संदर्भ में बहुत साल पहले दांडेकर ने यही बात कही थी :

> *कोई योजना जब अपने निर्माता के लिए मूलतः एक कार्य-योजना होती है तब वह शब्द के पूरे-पूरे अर्थ में योजना होती है। वर्तमान संदर्भ में, अगर किसी सरकार ने योजना बनायी है तो वह सरकार तथा अन्य सार्वजनिक प्राधिकरणों के लिए एक कार्य-योजना तो होनी ही चाहिए। हमारी कृषि-विकास की योजना शब्द के पूरे अर्थ मे योजना है ही नहीं, इसका कारण यह है कि यह मूलतः राजकीय कार्यवाही की योजना नहीं है। यह इससे बहुत अधिक या बहुत कम कोई चीज है। वास्तव में, यह अनेक ऐसे क्षेत्रों को अपने में समेटती है जिनके बारे मे निर्णय लेने या कार्यवाही आरंभ करने का बहुत कम अधिकार सरकार को है।*[11]

हमारी योजनाओं ने समूची अर्थव्यवस्था के लिए निवेश की आयोजना प्रस्तुत करने की दिशा में अतिशय प्रयास किए हैं लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र की आयोजना के लिए बहुत कम प्रयास किया है। वर्तमान में, हालांकि प्रत्येक योजना में क्षेत्रवार लक्ष्यो का निर्धारण किया जाता है मगर सही अर्थों में दीर्घकालिक निवेश की आयोजना का काम बहुत कम होता है। नतीजा यह होता है कि वास्तविक निवेश के निर्णय क्षेत्रीय और अन्य दबावों के अंतर्गत अलग-अलग वर्षों में अलग-अलग मामलों के लिए अलग-अलग लिए जाते हैं। यह विभिन्न क्षेत्रों के निवेश के बीच पर्याप्त असंतुलन, क्रियान्वयन में विलंब, संसाधनों के बारे में अतिशय वचनबद्धता और परियोजनाओं के लिए धन की कमी का कारण बना है।

हमारी आयोजना प्रणाली समय के साथ-साथ इस प्रकार विकसित हुई है कि योजना की प्राथमिकताओं और उन प्राथमिकताओं के लिए बनी समष्टिगत आर्थिक नीतियों के बीच तालमेल का अभाव उसका एक प्रमुख दोष बन गया है। ये तकनीकें

सोवियत संघ में विकसित निर्देशमूलक आयोजना प्रणाली से ली गयी थीं। ये तकनीकें एक ऐसी अर्थव्यवस्था मे निवेश का मार्गदर्शन करने के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हुई हैं जिसका एक बड़ा भाग निजी स्वामित्व में है और जहां राजनीतिक और न्यायिक प्रणालियां उपभोक्ताओं और उद्यमियों के लिए चयन की अपेक्षतया अधिक स्वतंत्रता सुनिश्चित करती हैं। नियंत्रण और नियमन की यह प्रणाली मूलतः दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान की गयी व्यवस्थाओं से उत्पन्न हुई है। यह निवेश का 'वांछित' दिशाओं में मार्गदर्शन करने की अपेक्षा प्रतियोगता को रोकने और एक नाकारा आयात-प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित करने में अधिक सफल रही है।[12] अर्थव्यवस्था में काले धन ('समानांतर' अर्थव्यवस्था) तथा तस्करी की वृद्धि का नतीजा यह हुआ है कि अर्थव्यवस्था में प्रभावी उपभोक्ता मांग के स्वरूप और आय की सवृद्धि के स्वरूप का योजना की प्राथमिकताओं से कोई खास संबध नहीं रहा। इसका एक स्पष्ट उदाहरण यह है कि भारत स्वचालित वाहनों के उत्पादन में पर्याप्त आत्मनिर्भर माना जा सकता है जिसका योजनाओं की प्राथमिकताओं में कोई स्थान नहीं है जबकि वह उर्वरकों और खाद्य तेलों का बहुत बड़ा आयातक है यद्यपि ये दोनों वस्तुएं योजनाओं में अत्यधिक प्राथमिकता पाती रही हैं।

समष्टिगत आर्थिक नीतियों, खासकर प्रशुल्क और राजकोषीय नीतियों, तथा योजनाओं के अंतःक्षेत्रीय लक्ष्यो के बीच जो क्षीण संबंध हैं, उसके फलस्वरूप औद्योगिक संरचना में महत्वपूर्ण विसंगतियां पैदा हो गयी हैं। मिसाल के लिए, आज व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है कि पूंजीगत माल, अन्य अभियांत्रिकी उद्योगों, परिवहन के उपकरणों आदि के धातु-आधारित क्षेत्रों के बड़े हिस्से को बहुत कम या नकारात्मक संरक्षण मिला है (केलकर और कुमार, 1990 देखे)। ऐसा इसके बावजूद है कि योजनाओं मे पूजीगत माल के उत्पादन को हमेशा ही उच्चतम प्राथमिकता दी जाती रही है। दूसरी ओर, रसायन-आधारित उद्योगों को दिए गए संरक्षण की दरें बहुत अधिक रही हैं। नतीजा यह हुआ है कि पिछले 15 वर्षो में रसायन-आधारित उद्योगों में अच्छी संवृद्धि देखी गयी है जबकि अभियांत्रिकी क्षेत्र की संवृद्धि कम रही है। इस प्रकार की विंसगत राजकोषीय संरचना का एक और नतीजा यह है कि अभियांत्रिकी उद्योगों जैसे श्रम-प्रधान उद्योगों के साथ भेदभाव हुआ है जबकि पेट्रोरसायन जैसे पूंजी-प्रधान उद्योगों को बहुत अधिक संरक्षण मिलता रहा है। जैसाकि मोहन और अग्रवाल (1990) ने बताया है, इसके क्षेत्रीय परिणाम भी हुए हैं। धातु-आधारित उद्योगों के विरुद्ध पूर्वग्रह के कारण पश्चिमी क्षेत्र की तुलना में पूर्वी क्षेत्र की उपेक्षा हुई है—उल्लेखनीय है कि रसायन और पेट्रोरसायन उद्योग इसी पश्चिमी क्षेत्र में आधारित हैं।

इस अनुभव को देखते हुए आयोजना की व्याप्ति और तकनीक में कुछ परिवर्तन करना आज महत्व रखता है। भविष्य में एक सफलतर और संवृद्धि-मुखी आयोजना

के लिए योजनाओं में सरकार की निवेश संबंधी गतिविधियों पर, जिन पर उसका प्रत्यक्ष नियंत्रण है, कहीं अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। प्रत्यक्ष निवेश की सरकारी गतिविधियों में आमतौर पर चार सुस्पष्ट क्षेत्र आ जाते हैं : (अ) विशेष रोजगार कार्यक्रम जो परिसंपत्तियों का सृजन करते हैं, (ब) शिक्षा तथा स्वास्थ्य जैसी सामाजिक सेवाओं मे निवेश, (स) सड़कों, रेलों और बिजली जैसी आर्थिक आधारिक संरचना में निवेश, और (द) वाणिज्यिक तथा औद्योगिक उद्यम।

इनमें (अ) और (ब) प्रकार के निवेश बड़ी हद तक राज्य सरकारों के अधिकारक्षेत्र में आते है। यह उचित ही है कि इन क्षेत्रों में निवेश की आयोजना की पूरी जिम्मेदारी राज्य योजना बोर्डों पर हो। केंद्र सरकार के लिए आवश्यक नहीं कि वह इन क्षेत्रों के बारे में पूरे देश के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत निर्धारित करे क्योंकि ये सिद्धांत विभिन्न क्षेत्रों की विविध आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील नहीं होंगे। ऐसे कार्यक्रमों के लिए केंद्र से राज्य सरकारों को वित्त का हस्तांतरण राज्यों की योजनाओ के लिए दी जाने वाली सामान्य केंद्रीय सहायता के ढांचे मे हो सकता है। ऐसा कहा जाता है कि केद्र सरकार की निगरानी के बिना राज्य सरकारें कारगर ढंग से अपनी जिम्मेदारियां पूरी नही करेगी। यह सही है कि इन क्षेत्रों में राज्य सरकारों की उपलब्धियों में भारी अंतर पाए जाते हैं। लेकिन यह स्थिति इन कार्यक्रमों की निगरानी और क्रियान्वयन में केंद्र सरकार की भागीदारी के बावजूद है। पिछले अनुभव से यह साबित नहीं होता कि इन क्षेत्रों में केंद्रीय हस्तक्षेप अनिवार्य रूप से बेहतर और अधिक कारगर आयोजना का कारण बनता है। इस मद में केंद्र जिन प्रशासनिक और मानव संसाधनों की बचत करेगा, उनको दूसरे कार्यो में अधिक कारगर ढंग से लगाया जा सकता है।

आधारिक संरचना में निवेश की आयोजना तथा सार्वजनिक क्षेत्र के वाणिज्यिक उद्यमों में निवेश की दक्षता मे सुधार–देश के समुचित विकास के लिए आवश्यक ये दो केंद्रीय उत्तरदायित्व हैं। चूंकि सार्वजनिक उद्यम ही, रेलों को छोड़कर, आधारिक संरचना में पूंजी का निवेश करते हैं इसलिए पूरे सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आयोजना अंततः इन दो उत्तरदायित्वों में ही समाहित है।

यह आवश्यक है कि भावी योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र के निवेश की मोटी-मोटी प्राथमिकताएं स्पष्ट रूप से निर्धारित हों जिनमें क्रियान्वयन की समयसारिणियां भी शामिल होनी चाहिए। वार्षिक योजनाओ का संबंध मुख्यतः क्रियान्वयन की प्रगति की वार्षिक समीक्षाओं से होना चाहिए। जिन परियोजनाओं, और खासकर आधारिक संरचना की परियोजनाओं, में बाह्यताएं अधिक हैं और जो योजना के हरेक अन्य पक्ष को प्रभावित करती हैं, उनके क्रियान्वयन के संचालन का प्राथमिक दायित्व योजना आयोग को लेना चाहिए। इस समय यह दायित्व विभिन्न मंत्रालयों और सार्वजनिक क्षेत्रों के उद्यमों के बीच बंटा हुआ है।

जहां तक शेष अर्थव्यवस्था का प्रश्न है, समष्टिगत आर्थिक नीतियों के एक सुसंगत सेट का निरूपण आवश्यक है। आयोजना का प्रमुख उद्देश्य यही होना चाहिए। छठी योजना (1980-85) में कुछ सीमा तक इसका प्रयास किया गया था। मगर पिछले कुछ वर्षों में समष्टिगत आर्थिक नीतियों के प्रति हमारा दृष्टिकोण बहुत ज्यादा तदर्थ रहा है। योजनाओं में उन प्रशुल्क, वित्त और राजकोष संबंधी नीतियों का स्पष्ट निर्धारण होना चाहिए जो निवेश के निर्णयों को प्रभावित करती हैं। यह बात महत्वपूर्ण है कि समष्टिगत आर्थिक नीतियों के ढांचे और देश की निवेश संबंधी प्राथमिकताओं के बीच संबंध स्थापित किया जाए। पिछले अनुभवों से पता चलता है कि प्रशुल्क और राजकोष की नीतियों ने ऐसे संकेत दिए हैं जो घोषित उद्देश्यों के विपरीत हैं। फलस्वरूप औद्योगिक निवेश के स्वरूप में संरचनागत विसंगतियां पैदा हो गयी हैं। सरकार को पूरे योजनाकाल में राजकोष और प्रशुल्क की घोषित नीतियों के ढांचे से प्रतिबद्ध रहना चाहिए। अगर यह रास्ता अपनाया जाए तो समष्टिगत आर्थिक नीतियों में पारदर्शिता और स्थिरता कही अधिक होगी। इससे नीति-निर्धारण का काम संभवतः निजी और गुटीय हितो के प्रति अपेक्षतया कम संवेदनशील रहेगा। कारण कि तब नीतियां किसी विशेष मामले की बाध्यताओं के अनुरूप ढाली जाने के बजाए पहले ही निर्धारित और घोषित हो चुकी होंगी।

कोई भी दो अर्थव्यवस्थाएं एक समान नहीं होतीं। अपने आकार, भाषायी तथा क्षेत्रीय विविधता और इतिहास के कारण भारत सही अर्थों में एक विशिष्ट देश है। फिर भी, निजी क्षेत्र की गतिविधियों के नियमन के लिए आवश्यक राजकीय हस्तक्षेप की गुणवत्ता के सिलसिले में जापान और कोरिया जैसे देशों से बहुत-कुछ सीखा जा सकता है। अपने औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करने तथा प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने में इन देशों ने उल्लेखनीय सफलता पायी है। उनके सामाजिक सूचकों समेत विकास के अन्य सूचकों में भी नाटकीय सुधार हुआ है। अनेक शोधकर्ताओं ने उनके अनुभवों का व्यापक अध्ययन किया है।[13] उनके विकास-प्रयासों में विभिन्न कारकों की भूमिका पर भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किए जाते रहे हैं। लेकिन आमतौर पर माना जाता है कि जापान और कोरिया तथा मिलती-जुलती रणनीतिया अपनाने वाले कुछ अन्य एशियाई देशों में राज्य का हस्तक्षेप बहुत जोरदार और व्यापक रहा है। लेकिन भारत के विपरीत उनका हस्तक्षेप रणनीतिक था न कि विस्तृत। वह 'निरोधमूलक' और नकारात्मक कम तथा विकासमूलक अधिक था। वहां राज्य उन गतिविधियों को प्रोत्साहित करने में सफल रहा जो अभीष्ट थीं। दूसरी ओर, भारत की नियामक प्रणाली ने लाइसेंस और आबंटन की शक्तियों का प्रयोग निवेश और बाजारों के आबंटन के लिए तथा प्रतियोगिता पर अंकुश लगाने के लिए किया। जापान और कोरिया, दोनों ने प्रतियोगिता को सक्रिय प्रोत्साहन दिया जबकि भारत में बाजार को खंडित करने तथा अप्रतियोगी घरेलू फर्मों को बाजार के पूर्वनिर्धारित

खड आबंटित करने को अच्छा समझा गया। निर्यात प्रोत्साहन की नीतियों में ब्यौरे, चयनात्मकता और अलग-अलग मामलों में अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाने में व्यस्तता स्पष्ट है। भारतीय प्रणाली में उत्पादों की पहचान करने तथा अलग-अलग मामलों में विशिष्ट सहायता-राशियां प्रदान करने पर ध्यान दिया जाता रहा है जबकि हमारा वातावरण आमतौर पर घरेलू बाजार के लिए घरेलू उत्पादन के अनुकूल रहा है। दूसरी ओर, जापानी या कोरियाई प्रणाली का सरोकार विशिष्ट मंडियों के बजाय प्रोत्साहन के सामान्य ढांचे को निर्यात के पक्ष में बदलने से रहा है।

दस विकासशील देशों (भारत, ब्राजील, मेक्सिको, कोरिया, मलेशिया, ताइवान, थाइलैंड, सिंगापुर, हांगकांग और केनिया) में औद्योगिक प्रतियोगिता की क्षमता पर एक दिलचस्प अध्ययन लाल (1990) का है। उनका निष्कर्ष है कि कोरिया जैसे अधिक सफल और भारत जैसे कम सफल देशों मे प्रमुख अंतर राजकीय हस्तक्षेप की 'गुणवत्ता' को लेकर है। सातवें और आठवें यानी दो दशको मे वर्धित मूल्य (वैल्यू ऐडेड) की संवृद्धि में कारक उत्पादकता का योगदान भारत में नकारात्मक था जबकि औसत विकासशील देश मे यह 31 प्रतिशत था। कोरिया में उत्पादन-संवृद्धि में कुल कारक उत्पादकता का योगदान 47 प्रतिशत था! हागकांग को छोड़कर इन दसों देशों ने औद्योगिक गतिविधियों की प्रकृति और अंतर्वस्तु को निर्देशित करने के प्रयास किए। लेकिन जहां कोरिया जैसे देश प्रतियोगिता के द्वारा दक्षता में सुधार लाने में समर्थ रहे वहीं भारत के सरक्षित और अतिशय नियंत्रित नीति-वातावरण ने (जो धीमी संवृद्धि के कारण और भी गहराया) आगतो के कारगर इस्तेमाल और प्रौद्योगिकी सबंधी सुधारों में बाधा पहुंचायी।

लाल का यह निष्कर्ष भी दिलचस्प है कि सरकारी हस्तक्षेपों का रिकार्ड यद्यपि अनेक देशों में निराशाजनक रहा है लेकिन उपर्युक्त दस देशों में औद्योगीकरण को बढ़ावा देने में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण रही है। उनका विचार है कि विकासशील देशो के लिए एक समुचित नीतिसमूह के निर्धारण में, स्वस्थ औद्योगिक गतिविधियों के वास्ते सुधारमूलक प्रोत्साहनो के अलावा, मानव पूंजी के निर्माण, प्रौद्योगिक गतिविधि तथा समर्थनकारी सस्थाओं को बल प्रदान करने के उपाय शामिल होने चाहिए। महत्व दूसरे नीतिसमूहों की कीमत पर किसी एक नीतिसमूह का नहीं बल्कि प्रोत्साहनों, स्थायी निधियों (एडाउमेंट्स), संस्थाओं और प्रौद्योगिक प्रयासों की जटिल अंतःक्रिया का है।

## सार्वजनिक क्षेत्र, निजीकरण, लक्ष्य-निर्धारण

सार्वजनिक उद्यमों के निवेशक तथा प्रबंधक के रूप में सरकार की भूमिका भविष्य के लिए संभवतः सबसे महत्व का प्रश्न है। यह सर्वाधिक विवादग्रस्त और कठिन प्रश्न भी है। फिर भी, सार्वजनिक उद्यम के कट्टरतम समर्थक भी इसे अनदेखा नहीं

कर सकते कि इन उद्यमों का सरकारी प्रबंध पर्याप्त अदक्षता का शिकार है।[14]भारत के वाणिज्यिक सार्वजनिक उद्यमों में से लगभग आधे घाटे में चल रहे हैं। इन घाटों की भरपाई ऋणों या करों से की जाती है जिससे विकास के लिए उपलब्ध संसाधनों में कमी आती है। प्रबंधकीय असफलता की हाल की एक समालोचना में पी. एन. धर ने विचार व्यक्त किया है कि :

> *सार्वजनिक क्षेत्र के किसी उद्यम की निर्योग्यताएं उसकी परिकल्पना और जन्म से ही आरंभ हो जाती हैं अर्थात् उसी पहले चरण से जब सार्वजनिक निवेश कार्यक्रम में शामिल करने के लिए उसकी पहचान, मूल्यांकन और चुनाव किया जाता है ..सिद्धांत रूप में, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों पर जनता का स्वामित्व होता है और उसी के हित में उनका संचालन होता है। लेकिन व्यवहार में, उन्होंने ऐसे अनेक आर्थिक हितों और राजनीतिक प्रभाव क्षेत्रों को जन्म दिया है जिनके पास प्रबल शक्ति है (धर 1989, पृ. 14-15)।*

उसमें संदेह नहीं कि कुछ उद्यम अच्छे होते हैं और कुछ बुरे यद्यपि सभी सार्वजनिक उद्यमों को समान राजनीतिक और संस्थागत बाधाओं का सामना करना पड़ता है। लेकिन सार्वजनिक उद्यमों के निकम्मे कार्यकलाप को जारी रहने देने में शक्तिशाली राजनीतिक और अन्य हितों की भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता।

विकासशील देशों में सार्वजनिक उद्यमों की समस्या के समाधान के लिए उद्यमों के निजीकरण पर हाल में बहुत ध्यान दिया गया है। सिद्धांत रूप में, अगर आर्थिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में सार्वजनिक उद्यमों के अतिप्रसार को और उनके प्रबंध में सरकार की सीमित क्षमता को देखें तो सार्वजनिक उद्यमों के निजीकरण के पक्ष में अच्छे-खासे आर्थिक तर्क दिए जा सकते हैं। लेकिन जैसाकि हम आगे देखेंगे, पूरा-पूरा निजीकरण भारत में कोई व्यावहारिक या संभव विकल्प नहीं है। न ही इससे प्रबंध की समस्याओं का कोई कारगर उत्तर मिलने की संभावना है। हां, बीमार उद्यमों के विक्रय का प्रयास किया जा सकता है बशर्ते कि उनके खरीदार मिल जाएं। इसी प्रकार, होटलों जैसी इकाइयों के विक्रय की बात सोची जा सकती है जिनका सरकार के दायरे से बाहर रहकर काम करना ही अधिक उपयुक्त है।

'निजीकरण' ऐसा शब्द है जिसका इस्तेमाल अनेक अर्थों में किया जा सकता है। रामनाथम् (1989, पृ. 2) ने ऐसे 15 अर्थ दिए हैं जिनमें साहित्य में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। इनमें 'निजी कानूनी रूपों में संक्रमण' से लेकर आंशिक या पूर्ण विराष्ट्रीयकरण अथवा परिसंपत्तियों का विक्रय सम्मिलित है। निजीकरण से बहुत सारे उद्देश्य भी पूरे होते दिखाई देते हैं। इनमें उद्यम का अधिक कारगर प्रबंध, सरकार के लिए संसाधनों की उपलब्धि, पूंजी-बाजार को व्यापक बनाना और निवेशों की आबंटन संबंधी दक्षता में सुधार शामिल हैं (रामनाथम् 1989, पृ. 419)। निजीकरण करने की विधियों, इसके आर्थिक परिणामों और निजीकरण की नीतियों को लागू

करने वाले देशों के अनुभवों पर आज प्रचुर साहित्य उपलब्ध है।[15] ग्रेट ब्रिटेन की प्रधानमंत्री थैचर ने नीतिगत साधन के रूप में निजीकरण को जो प्रोत्साहन दिया था, उसने नवें दशक के उत्तरार्ध में विकासशील देशों में तब काफी जोर पकड़ा जब लेटिन अमरीका और अफ्रीका के बहुत सारे देशों ने ऋणग्रस्त और घाटे में चल रहे उद्यमों की संसाधन संबंधी समस्याओं के हल के लिए निजीकरण को अपनाया। हाल के वर्षों में विकासशील देशों में उनके संरचनागत समायोजन कार्यक्रमों के अंग के रूप में विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने भी निजीकरण की नीति का समर्थन किया है।[16]

निजीकरण के समर्थकों ने इसके पक्ष में विचारधारा और दक्षता संबंधी जोरदार तर्क दिए हैं। फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अपने आप में, स्वामित्व और औद्योगिक निष्पादन के परस्पर संबंध पर साहित्य में मतैक्य नहीं पाया जाता। निजीकरण के ग्रेट ब्रिटेन के अनुभव से औद्योगिक निष्पादन के सुधार के लिए निजी स्वामित्व की अपेक्षा प्रतियोगिता का महत्व उजागर होता है (के और थाम्पसन 1986, विकर्स और येरो 1988)। निजी स्वामित्व वाली फर्में निजी होने के कारण ही बेहतर परिणाम देती हैं, ऐसा सिद्ध नहीं हो सका है। सार्वजनिक उद्यमों में जिस प्रकार दक्ष उद्यम भी हैं और अदक्ष भी, उसी प्रकार निजी उद्यमों में दक्ष और अदक्ष, दोनों प्रकार के उद्यम हैं। ऐसा पाया गया है कि अगर उत्पादों के बाजार प्रतियोगितापूर्ण हों तो कम दक्ष फर्मों को बाजार में घटती भागीदारी और गिरते लाभ के रूप में दंडित होना पड़ता है। लेकिन अगर वातावरण प्रतियोगिताहीन हो तो दक्षता को सुधारे बिना भी निजी फर्में भारी मुनाफे कमा सकती हैं। आबंटन की दक्षता में सुधार स्वामित्व से नहीं, प्रतियोगितापूर्ण वातावरण से आया है। सार्वजनिक उद्यम जिस नीतिगत वातावरण में काम करते हैं तथा उनकी प्रबंधकीय संरचना जैसी होती है, उसका संबंध निजी उद्यमों की तुलना में उनके निष्पादन से ज्यादा है बजाय परिसंपत्तियों के स्वामित्व के (लेवी, 1981)। नुनेनकैंप (1986) स. घ. उ. में सार्वजनिक क्षेत्र के सापेक्ष महत्व तथा सकल स्थायी निवेश, रोजगार और औद्योगीकरण के बीच सांख्यिकीय रूप से सार्थक कोई क्षेत्रपारीय संबंध खोज पाने की में असमर्थ रहे हैं।

इसका भी कोई ठोस साक्ष्य नहीं कि निजीकरण बेहतर वित्तीय परिणाम देता है। फिशलो (1990) का तर्क है कि सार्वजनिक उद्यमों का विक्रय तब तक किसी काम का नहीं होगा जब तक समष्टिगत आर्थिक वातावरण सुधारा नहीं जाता। दूसरी ओर, अगर आर्थिक नीतियों का बेहतर संचालन हो तो ऐसे विक्रय की शायद जरूरत ही न पड़े। दक्षतम उद्यमों के विक्रय से केवल भावी निवल राजस्व में कमी आ सकती है; मात्र स्वामित्व के परिवर्तन से घाटे में चल रहे उद्यम के प्रबंध में कोई बुनियादी अंतर नहीं पड़ेगा। यह भी दिलचस्प बात है कि अनेक लेटिन अमरीकी देशों में विदेशी ऋण के धारकों ने सार्वजनिक उद्यमों की इक्विटी में अपने ऋण के रूपांतरण का

विरोध किया है। उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक निजी परिसपत्तियों से उनकी बदली को प्राथमिकता दी है।

निजीकरण के समर्थक द्वारा इसके पक्ष में विचारधारा या 'आबंटन की दक्षता' संबंधी तर्क देना अतिरंजना ही है। निजीकरण के पक्ष में वास्तव में विश्वसनीय तर्क कहीं अधिक साधारण है; यह तर्क 'प्रशासन-क्षमता' की सीमाओं में तथा राजनीतिक हस्तक्षेप से वाणिज्यिक निर्णयकार्य को अलग रखने में राजनीतिक प्रणाली की अयोग्यता में निहित है। सामान्यतः उद्यमस्तरीय निर्णयों के वित्तीय परिणाम अधिकांश सरकारों के 'वस्तुनिष्ठ' प्रकार्यों के अंग नहीं होते। चुनावी मजबूरियां और बाहरी सरोकार अक्सर निवेश और उत्पादन संबंधी फैसलों का निर्देशन करते हैं और सार्वजनिक क्षेत्र ने राजनीतिक संरक्षण और शक्ति के व्यवहार के लिए एक ऐसी अपेक्षाकृत स्वायत्त व्यवस्था उपलब्ध कराई है जिसमें वास्तविक जवाबदेही बहुत कम होती है या बिल्कुल नहीं होती।[17] सार्वजनिक क्षेत्र के घाटों या अदक्षताओं का उन लोगों पर कोई असर नहीं पड़ता जो सार्वजनिक उद्यमों की ओर से निर्णयकार्य करते हैं। चूंकि घाटों की भरपाई के लिए बजटीय सहायताएं उपलब्ध होती हैं इसलिए निष्पादन सुधारने के लिए कोई कारगर मजबूरी या दबाव नहीं होता। ये ही कारक संभवतः अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र के उस अबाध प्रसार की व्याख्या करते हैं जिसमें लागत या दक्षता पर कोई विचार नहीं किया जाता। ये कारक घाटे में चलनेवाले उद्यमों के लगभग निरंतर चलते रहने की भी व्याख्या करते हैं।

भारत में केवल केंद्र सरकार कोई 250 सार्वजनिक उद्यमों को नियंत्रित करती है।[18] इसमें बैंकिंग और बीमा क्षेत्र के उद्यम नहीं आते जो पूरी तरह सार्वजनिक क्षेत्र में हैं। न ही इनमें रेलें, डाक और संचार जैसे 'विभागीय' उद्यम आते हैं। खाता मूल्यों पर 244 उद्यमों की कुल परिसंपत्ति कोई 182,000 करोड़ रुपयों की और उनकी शेयर पूंजी कोई 39,000 करोड़ रुपयो की थी (देखें तालिका 3.1)। इनमें से अधिकांश उद्यम सातवें और आठवें दशक में स्थापित किए गए थे। उनकी जमीनों की बाजारी कीमत और संयंत्रों तथा मशीनों का प्रतिस्थापन मूल्य ऐतिहासिक लागतों की अपेक्षा आज शायद कई गुना ज्यादा होगा। दूसरी ओर, भारत में नवें दशक में पूंजी बाजार की प्रभावशाली संवृद्धि के बावजूद 1989-90 में कुल 2610 करोड़ रुपये की पूंजी उगाही गयी जिसमें इक्विटी और अधिमानी पूंजी मात्र 504 करोड़ रुपये की थी। एक पूरे वर्ष में (डिबेंचरों समेत) उगाही गयी कुल पूंजी, इस प्रकार, सार्वजनिक उद्यमों की परिसंपत्तियों के खाता मूल्य का मात्र 1.1 प्रतिशत थी। भारत के सार्वजनिक क्षेत्र की कुल परिसंपत्तियों के मुकाबले पूंजीबाजार के छोटे आकार को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ उदाहरणों को छोड़ दें तो पूंजीबाजार के माध्यम से इन परिसंपत्तियों को बेचना संभव या व्यावहारिक है ही नहीं। जिन उद्यमों के पास बाजार का एकाधिकार है या जो सरकार की मूल्य नीति के कारण असामान्य लाभ अर्जित

करते हैं उनको सीधे-सीधे बेच देने का मतलब सार्वजनिक लाभों को निजी हाथों में सौंप देना है जिसे आर्थिक या सामाजिक आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता। (समुचित मूल्यांकन के बाद) इंक्विटी का आंशिक विक्रय अवश्य व्यावहारिक है लेकिन निकट भविष्य में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम काफी हद तक सरकार के नियंत्रण में बने रहेंगे।[19]

निजीकरण की नीति के चाहे जो गुण-दोष हों, यह स्पष्ट है कि सार्वजनिक उद्यमों के प्रबंध की समस्याओं का समाधान हमें मुख्यतः सार्वजनिक स्वामित्व के ढांचे में रहकर ही तलाश करना होगा। इन उद्यमों में सरकार की प्रबंधकीय भूमिका को कम करना और उसे उपलब्ध प्रशासनिक क्षमता के अधिक अनुकूल बनाना भविष्य के लिए एक महत्वपूर्ण प्राथमिकता है। इसे स्वीकार करना होगा कि दैनंदिन आधार पर सरकार जो निर्णय लेती रहती है, उनकी संख्या में भारी कमी करने की जरूरत है। सरकारी कार्यप्रणाली की अपेक्षाएं ऐसी हैं कि प्रत्येक निर्णय में समय लगता है, उसके अनेक चरण होते हैं तथा उसमे अनेक निर्णयकर्ताओं की भागीदारी होती है, भले ही किसी निर्णय विशेष का अंतर्निहित महत्व कुछ भी हो। विशालतम उद्यम के लिए अध्यक्ष या बोर्ड की नियुक्ति में भी उतना ही समय लगेगा, उतने ही चरण होंगे और उतने ही लोग निर्णय प्रक्रिया मे शामिल होंगे जितने लघुतम उद्यम के लिए। 'नियंत्रक कंपनी' की धारणा का बुनियादी तर्क यही है कि सरकार सार्वजनिक उद्यमों का समूहों के रूप में पुनर्गठन करे, इन उद्यमों का प्रबंध एक नियंत्रक कंपनी को सौंपे और खुद को नियंत्रक कंपनी में नियुक्तियां करने तथा उसके लिए निष्पादन के लक्ष्य निर्धारित करने तक सीमित रखे। फिर भी, इसमें एक खतरा है कि अगर किसी विशेष उत्पादसमूह की सारी कंपनियां एक ही नियंत्रक कंपनी के अंतर्गत होंगी तो इससे एकाधिकारवाद मजबूत होगा। इस सभावना से बचने के लिए बेहतर यह होगा कि अनेक नियंत्रक कंपनियां बनायी जाएं और उनमें से हरेक विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत कंपनियों का नियंत्रण करे। इस तर्ज पर सार्वजनिक क्षेत्र के पुनर्गठन की विस्तृत विवेचना अध्याय 5 में की गयी है।

सार्वजनिक उद्यमों की संख्या में कुछ कमी करना एक और वांछित उद्देश्य है। अपनी विशिष्ट संस्कृति के कारण, सार्वजनिक क्षेत्र सेवा उद्योगों तथा छोटे, श्रमप्रधान क़ार्यकलापों के प्रबंध के लिए खास तौर पर अनुपयुक्त होता है। ऐसे क्षेत्रों के लिए लाभकर दृष्टिकोण यह होगा कि लाभ में भागीदारी के आधार पर योग्य प्रबंधकों से प्रबंध के अनुबंध किए जाएं। साल-दर-साल अच्छे निष्पादन के पुरस्कारस्वरूप इन प्रबंधकों को शेयरों का एक हिस्सा भी दिया जा सकता है।

सार्वजनिक क्षेत्र के सिलसिले में तीन अहम नीतिगत मुद्दे हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। इनका संबंध कार्मिक नीति, वित्त नीति और ऐसे उद्यमों पर नियंत्रण

की व्यवस्था से है।

कार्मिक नीति के संबंध में ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है कि मुख्य कार्यपालकों की नियुक्ति विभिन्न हितों की आपसी खींचतान का विषय बन चुकी है। अनुभव से स्पष्ट है कि अनेकों सार्वजनिक उद्यम अधिक समय तक बिना किसी मुख्य कार्यपालक के चलते रहते हैं। मुख्य कार्यपालकों की नियुक्ति और उनकी सेवा-समाप्ति की एक पूरी तरह नयी प्रणाली आज अनिवार्य हो गयी है। सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए संघ लोक सेवा आयोग के द्वारा भरती की प्रणाली पर्याप्त कारगर साबित हुई है। यह प्रणाली राजनीतिक दबावों से सापेक्षतः मुक्त भी है। सार्वजनिक उद्यमों के मुख्य कार्यपालकों की नियुक्ति के लिए भी ऐसी ही व्यवस्था विकसित की जानी चाहिए। संघ लोक सेवा आयोग जैसी काम की दशाओं वाला एक नया निकाय कायम किया जा सकता है और मुख्य कार्यपालकों की नियुक्ति के बारे में उसकी सिफारिशें अंतिम मानी जानी चाहिए। इससे ऐसी नियुक्तियों के मामले में वैयक्तिक पसंद का तत्व अगर पूरी तरह समाप्त नहीं होगा तो काफी हद तक कम अवश्य हो जाएगा। मुख्य कार्यपालकों की सेवाओं की समाप्ति या उनके नवीनीकरण का पूरा दारोमदार भी मनोगत निर्णयों पर न होकर उद्यम की कारगुजारी पर होना चाहिए।

वित्तीय प्रबंध के बारे में आवश्यक है कि सार्वजनिक उद्यमों के प्रचालन के संबंध में एक 'कठोर' बजट नीति लागू की जाए। घाटे में चल रहे उद्यमों को दी जानेवाली विभिन्न प्रकारों की बजट और बजटेतर सहायता पूरी तरह समाप्त की जानी चाहिए। इसका मतलब है कि किसी उद्यम की भावी संवृद्धि और उसकी जीवित रहने की क्षमता उसकी कारगुजारी पर तथा गैरबजट संसाधनों से घाटों की भरपाई करने की योग्यता पर निर्भर होगी। अध्याय 5 में इस पक्ष की कुछ विस्तृत विवेचना की गयी है। राजकोषीय संकट को देखते हुए, सार्वजनिक क्षेत्र के वाणिज्यिक उद्यमों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे आगे निवेश करने के लिए नयी पूंजी बाजार से उगाहें। इसका एक और फायदा यह है कि लाभार्जक उद्यम अतिरिक्त पूंजी बढ़ौती (प्रीमियम) पर जारी कर सकेंगे। इससे शेयर पूंजी का सेवा-भार घटेगा। पूंजी-बाजार पर निर्भरता बढ़ने से संभव है कि प्रबंधमंडल को अपने नियंत्रण वाले उद्यमों की कारगुजारी सुधारने का प्रोत्साहन मिले।

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों पर अनेकों प्रकार के और बहुस्तरीय नियंत्रण होते हैं। उन पर मंत्रालयों का नियंत्रण, संसदीय नियंत्रण, लेखापरीक्षा का नियंत्रण, निवेशकारी संस्थाओं का नियंत्रण, बजट संबंधी नियंत्रण और सार्वजनिक उद्यम ब्यूरो के नियंत्रण होते हैं। जहां नियंत्रण के इतने सारे स्तर हों वहां ताज्जुब नहीं कि परियोजनाओं को लागू करने तथा अधिशेष के अर्जन में इनकी कारगुजारी इतनी बुरी रही हो। इसलिए नियंत्रण प्रणाली में भारी परिर्वतन आवश्यक हैं। जैसा ऊपर

सुझाया गया है, प्रशासकीय मंत्रालयों का नियंत्रण उपलब्धि के लक्ष्यों के निर्धारण तक सीमित रहना चाहिए। संसद का नियंत्रण केवल सार्वजनिक उपक्रम समिति के माध्यम से होना चाहिए। इसके लिए इस परंपरा का विकास आवश्यक है कि विशेष सार्वजनिक महत्व वाली नीतियों के मुद्दों के अलावा, अलग-अलग सार्वजनिक उद्यमों पर प्रश्न और बहस करने से बचा जाए। दूसरे सभी प्रकार के नियंत्रणों को समाप्त कर देना ही बेहतर है। सार्वजनिक क्षेत्र की प्रत्येक नियंत्रक कंपनी और उद्यम से अपेक्षा की जानी चाहिए कि सामान्य वाणिज्यिक उद्यमों की तरह वे भी सर्तकता और दूसरे उद्देश्यों के लिए अपनी एक आंतरिक प्रणाली विकसित करेंगे। इन अन्य वाणिज्यिक उद्यमों की तरह सार्वजनिक उद्यमों से भी अपेक्षा की जानी चाहिए कि वे कंपनियों पर लागू होने वाले कानूनों तथा समय-समय पर लागू वित्तीय एवं राजकोषीय व्यवस्थाओं के अनुसार अपना कार्य करेंगे।

आजादी के बाद के अनुभवों को देखते हुए सार्वजनिक उद्यमों के प्रबंध पर एक पूर्णरूपेण नया दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक स्वावलंबी बनाया जाना चाहिए। अगर सार्वजनिक क्षेत्र का प्रबंध ठीक हो तो वह संवृद्धि की गति को तेज करने, प्रौद्योगिकी को खपाने और निजी निगमित क्षेत्र के सम्मुख एक जवाबी शक्ति पैदा करने के लक्ष्यों की पूर्ति में अपना योगदान दे सकता है। लेकिन अगर सार्वजनिक क्षेत्र कमजोर हो और अपनी संवृद्धि के लिए घटते राजकोषीय संसाधनों पर निर्भर हो तो वह यह भूमिका नहीं निभा सकता।

सामाजिक आधार-संरचना के अभाव और देश में सामाजिक सेवाओं के अत्यंत निम्न स्तर को देखते हुए सरकार के सामने इसके अलावा और कोई विकल्प नहीं है कि ग्रामीण और नगरीय, दोनों क्षेत्रों में इन सेवाओं को जुटाने या बढ़ाने की सीधी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले। विगत वर्षों में इन सेवाओं का उल्लेखनीय प्रसार हुआ है हालांकि उनकी प्रतिव्यक्ति उपलब्धि अभी भी कम है। यह भी स्वतः स्पष्ट है कि निर्धन देशों में अगर निर्धन लोगों को एक न्यूनतम सुविधा भी सुलभ करानी हो तो सरकार द्वारा इन सेवाओं की व्यवस्था जारी रहनी चाहिए। इस क्षेत्र के यथार्थतः महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्न ये दो हैं : (अ) क्या सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था से जुड़ी सहायिकियों और सरकारी व्यय को 'लक्ष्यबद्ध' करके निर्धन जनता तक सीमित किया जा सकता है, और (ब) क्या इन सेवाओं को जनता तक पहुंचाने की प्रणाली अधिक लागत-प्रभावी बनायी जा सकती है।

सिद्धांत रूप में, सहायिकी-प्राप्त सेवाओं को विशेष लाभार्थी वर्गों के लिए लक्ष्यबद्ध करना आकर्षक लगता है और इससे राजकोष का बोझ भी कम होना चाहिए। इसकी एक स्पष्ट राजनीतिक अपील भी है क्योंकि अगर इसे लागू किया जा सके तो कम खर्च में निर्धनता का अधिक उन्मूलन हो सकता है। लेकिन जैसाकि कैनबर (1988) ने दिखाया है, इस आदर्श हल के क्रियान्वयन की अनेकों प्रशासनिक

और सूचनागत लागतें हैं।[20] व्यवहार में, गणना और पहचान की समस्याओं के कारण लक्ष्यवर्ग तक इन लाभों को सीमित रखना अत्यधिक कठिन है। बहुत निर्धन देशों में एक अन्य और अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण समस्या यह है कि यद्यपि (शुद्ध सांख्यिकीय अर्थ में) निर्धनता की रेखा से नीचे शायद 40 या 50 प्रतिशत लोग ही हों लेकिन उन लोगों का भाग 80 या 90 प्रतिशत तक हो सकता है जिन्हें 'सहायता के पात्र निर्धनजन' कहा जा सकता है (या समझा जाता है)। इस श्रेणी में औद्योगिक मजदूर, छोटे और अपने खाने भर के लिए अनाज पैदा करने वाले किसान, छोटे दुकानदार, अंशकालिक रोजगारशुदा व्यक्ति और ऐसे ही लोग आते हैं। हो सकता है कि उनकी मौद्रिक आय औसत प्रतिव्यक्ति आय की कई गुना हो या निर्धनता की रेखा निश्चित करनेवाली आय से बहुत अधिक हो मगर निरपेक्ष दृष्टि से उनके उपभोग के वास्तविक स्तर अभी भी बहुत निम्न हैं।[21] साहयिकी-प्राप्त सार्वजनिक सेवाओं के किसी भी स्वीकार्य कार्यक्रम में जनसंख्या के इस भाग को भी शामिल करना आवश्यक है जिसका अर्थ है कि 'लक्ष्यवर्गों की पहचान' से होनेवाली राजकोषीय बचतें अपेक्षाकृत बहुत कम रहेंगी।[22] राजकोष के बोझ तथा सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था में सरकार की भूमिका को घटाने के लिए एक बेहतर और अधिक लाभदायक दृष्टिकोण यह होगा कि सहायिकी-प्राप्त सेवाओं की 'सूची' घटाई जाए और एक न्यूनतम स्वीकार्य स्तर तक उनकी गुणवत्ता का मानकीकरण किया जाए।[23]

## नियंत्रण

निजी क्षेत्र की गतिविधियों के नियामक के रूप में सरकार की भूमिका हाल के वर्षों में विकास-अर्थशास्त्र में अच्छे-खासे विवाद का विषय रही है। भारत में औद्योगिक निवेश, उत्पादन, आयात-निर्यात और महत्वपूर्ण वस्तुओं की कीमतों पर नियंत्रण की एक व्यापक व्यवस्था है। हाल के वर्षों में इस नियंत्रण-प्रणाली का कुछ उदारीकरण हुआ है। इसके अलावा, लघु उद्योग, कृषि और सेवाएं भी काफी हद तक नियंत्रण के दायरे से बाहर हैं। लेकिन मध्यम और वृहत् औद्योगिक क्षेत्र, विदेश व्यापार और विदेशी निवेश के संबंध में अभी भी नियंत्रण की व्यापक और विस्तृत प्रणाली विद्यमान है। नियंत्रण के प्रमुख साधनों की संक्षिप्त रूपरेखा नीचे दी गयी है।

### (अ) औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली

निश्चित वित्तीय सीमा से अधिक निवेश करने के लिए सरकार से औद्योगिक लाइसेंस लेना पड़ता है। इसमें उन मदों की सूची निर्धारित की जाती है जिनका उत्पादन उस इकाई विशेष में हो सकता है। इसमें संयंत्र की अधिकतम क्षमता का निर्धारण भी होता है।* यह लाइसेंस भावी घरेलू मांग, वर्तमान क्षमता, विदेशी मुद्रा संबंधी निहितार्थों

* जुलाई 1991 में 18 निर्धारित उद्योगों को छोड़कर शेष सबके लिए औद्योगिक लाइसेंस लेने की आवश्यकता समाप्त कर दी गयी।

और प्रासंगिक समझे जाने वाले अन्य प्रश्नों को ध्यान में रखकर दिया जाता है। इस औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली को अनेक दूसरे नियंत्रण और सुदृढ़ बनाते हैं जिनका संबंध वित्त, पूंजी निर्गम और एकाधिकारों से है। जिन पूंजी निर्गमों के लिए सरकार की स्वीकृति आवश्यक है और जिन परियोजनाओं के लिए वित्तीय संस्थाएं धन देती हैं, उन पर सरकार के दिशानिर्देश लागू होते हैं। नए क्षेत्रों में बड़ी फर्मों के प्रवेश और प्रसार का नियंत्रण एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम (एम.आर.टी.पी.) द्वारा भी किया जाता है।

भारत की औद्योगिक संरचना और उसकी दक्षता पर लाइसेंस प्रणाली का प्रभाव विकास के अनुभव संबंधी साहित्य में तीखे वादविवाद का विषय रहा है।[29] औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली के क्रियाकलाप की पड़ताल करने के लिए सातवें दशक के मध्य से ही अनेक सरकारी समितियां गठित हुई हैं (भारत सरकार 1964, 1965, 1967, 1969, 1978 अ और 1979)। इन अध्ययनों और रिपोर्टों के फलस्वरूप 1973 के बाद से लाइसेंस प्रणाली को अनेक चरणों में पर्याप्त उदार बनाया जाता रहा है। औपचारिकताओं का सरलीकरण और क्षमता के प्रसार की प्रमुख बाधा के रूप में लाइसेंस प्रणाली में ढील देना भी इन सुधारों में शामिल रहे हैं। फिर भी, इस प्रणाली से अभी तक प्रतियोगिता बाधित और क्षमता विखंडित होती है। विभिन्न उद्योगों को अत्यधिक और भिन्न-भिन्न परिमाणों में सरंक्षण प्रदान करनेवाली प्रशुल्क नीति के साथ-साथ औद्योगिक लाइसेंस की यह प्रणाली अदक्ष और अंतमुर्खी औद्योगिक इकाइयों को प्रोत्साहन तथा सरंक्षण देने का प्रमुख साधन बनी हुई है।

### (ब) आयात-निर्यात-नियंत्रण

सभी आयात आयात-निर्यात नीति से नियंत्रित होते हैं जिसकी घोषणा तीन-तीन वर्षों के बाद की जाती है। लेकिन इस बीच मदवार नीति में प्रायः परिवर्तन होते रहते हैं। निर्यातों पर भी विभिन्न प्रकार के नियंत्रण लागू होते हैं (आयात-निर्यात नीति की अधिक विस्तृत विवेचना के लिए अध्याय 4 देखें)। भारत की व्यापार-नीति पर्याप्त अकादमिक अनुसंधान और सरकारी समितियों के अध्ययन का विषय रही है (भगवती और देसाई 1970, वुल्फ 1982, भारत सरकार 1978 ब, 1984 और 1985 अ)। औद्योगिक नीति की तरह व्यापार नीति भी अत्यधिक जटिल है तथा यह प्रतियोगिता को रोकने और 'अंतर्मुखी' औद्योगीकरण को प्रोत्साहन देने का प्रमुख साधन रही है।

### (स) मूल्य और वितरण संबंधी नियंत्रण

मूल्य-नियंत्रण के दायरे में आनेवाली वस्तुओं की संख्या समय के साथ घटी है। फिर भी, आज कम से कम 60 वस्तुओं पर किसी-न-किसी प्रकार का मूल्य-नियंत्रण लागू है। इनमें शक्कर, उर्वरक, दवाएं और पेट्रोलियम के उत्पाद प्रमुख हैं। उर्वरकों पर

वितरण संबंधी नियंत्रण भी लागू होते हैं। औपचारिक नियंत्रण के अलावा, सरकार कुछ वस्तुओं (जैसे, वनस्पति और सीमेंट) पर समय-समय पर 'स्वैच्छिक' या अनौपचारिक नियंत्रण भी लगाती रहती है। मूल्य और वितरण संबंधी नियंत्रण कभी-कभी आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन को हतोत्साहित करते हैं (जैसे, आवश्यक दवाओं के उत्पादन को जबकि कम आवश्यक दवाएं इन नियंत्रणों से मुक्त हैं)। इनसे राजकोष सहायिकियों का बोझ भी बढ़ता है (जैसे, उर्वरकों के संबंध में, जिनके उपभोक्ता मूल्य कम रखे जाते हैं जबकि उत्पादक मूल्य लागतों के साथ बदलते रहते हैं)।

### (द) वित्त और ऋण संबंधी नियंत्रण

वित्तीय संस्थाओं और बैंकों के कार्यकलाप पर सरकार और रिजर्व बैंक की निगरानी रहती है। नवें दशक में, ब्याज दर की सरंचना, वास्तविक मूल्यों में, प्रायः अत्यधिक सकारात्मक रही है। लेकिन अर्थव्यवस्था के ऐसे बड़े-बड़े क्षेत्र भी हैं जिनमें रियायती ब्याज दरें लागू होती हैं, खासकर कृषि और छोटे उद्योगों के क्षेत्र। ऋण के आबंटन पर भी सरकार द्वारा समय-समय पर घोषित दिशा-निर्देश या नीतियां लागू होती हैं। चूंकि पूरा वित्तीय क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र में आता है इसलिए वित्तीय संसाधनों पर भी सरकार का औपचारिक और अनौपचारिक नियंत्रण रहता है।

### (य) विदेशी निवेश

विदेशी निवेशों और सहयोग के प्रस्तावों का आकार कुछ भी हो, उन सब पर सरकार की स्वीकृति आवश्यक है।* सामान्यतः इक्विटी भागीदारी पर 40 प्रतिशत की सीमा होती है। इस निवेश की अनुमति चुनिंदा क्षेत्रों में दी जाती है और प्रौद्योगिकी का हस्तांतरण आवश्यक होता है। रायल्टी के भुगतान की दरों और सहयोग शुल्क पर सरकार तथा भारतीय रिजर्व बैंक की स्वीकृत आवश्यक है।

### (र) विदेशी मुद्रा

विदेशी मुद्रा नियंत्रण कानून (फेरा) के तहत भारतीय रिजर्व बैंक विदेशी मुद्रा के सारे प्रवाह को नियंत्रित करता है। यह कानून उन कंपनियों की गतिविधियों को भी नियंत्रित करता है जिनकी इक्विटी पूंजी का आधे से अधिक हिस्सा विदेशियों के पास है।

### (ल) स्थान, पर्यावरण और श्रम संबंधी अधिनियम

सभी कस्बों और नगरों के म्युनिसिपल क्षेत्रों में तथा 20 सबसे बड़े नगरों के इर्दगिर्द विशेष क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना प्रतिबंधित है। एक निश्चित आकार से बड़ी सभी

---

* जुलाई 1991 में विदेशी निवेश संबंधी नियमों को भी उदार बनाया गया।

परियोजनाओं के लिए पर्यावरण और प्रदूषण-नियंत्रण संबंधी स्वीकृति लेना भी अनिवार्य है। इकाइयों को बंद करने, श्रमिकों की छंटनी करने, मुआवजा और किसी बीमार इकाई की परिसंपत्तियों के विक्रय पर व्यापक श्रम कानून लागू होते हैं। इस समय केंद्र और राज्य स्तरों पर कोई 100 ऐसे नियम हैं जो रोजगार और मजदूरों की छंटनी को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।

यह हमारी नियंत्रण प्रणाली के मुख्य स्तंभों की एक संक्षिप्त रूपरेखा है। इसके अलावा, ऐसे प्रशुल्क और सीमाशुल्क कानून, राज्यों के कानून और अन्य स्थानीय नियम-कायदे भी हैं जो आर्थिक गतिविधि को प्रभावित या निर्देशित करते हैं। विगत वर्षों में इस नियंत्रण प्रणाली में अत्यधिक जटिलता, परस्पर-व्याप्ति, मनमानापन और अस्थायित्व आता गया है।

छठे दशक में आर्थिक गतिविधियों पर सरकार के नियंत्रण का एक अनिवार्य औचित्य था। उस समय इसे विकास-अर्थशास्त्रियों के बीच पर्याप्त बौद्धिक समर्थन भी प्राप्त था। ऐसा माना जाता था कि व्यापक 'बाजारी असफलताएं' विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की एक पहचान हैं जो संरचनागत अनम्यताओं और कीमत संकेतों के प्रति संवेदनशीलता के अभाव से उत्पन्न हुई हैं। इन असफलताओं के फलस्वरूप मुक्त बाजार की अर्थव्यवस्था समाज के हित में कार्य करने में असमर्थ है और वह संसाधनों को ऐसे उपयोग की दिशा में नहीं मोड़ सकती जहां प्रतिफल की (निजी दरों से भिन्न) सामाजिक दरें अधिक हों। बचत संबंधी बाधाओं और संसाधनों की विरलता को देखते हुए यह सुनिश्चित करना आवश्यक समझा गया कि निजी क्षेत्र हो या सार्वजनिक, निवेशों का आबंटन विकास की एक समग्र योजना के अनुरूप हो और वह देश की प्राथमिकताओं को प्रतिबिंबित करे। यह भी महसूस किया गया कि अगर बाजार के संकेतों के अनुसार संसाधनों का आबंटन हुआ तो उच्च आय-वर्गों का उपभोग अत्यधिक बढ़ जाएगा और उन क्षेत्रों में सापेक्षतः अल्पनिवेश होगा जो अर्थव्यवस्था के त्वरित विकास के लिए अनिवार्य हैं।

निजी क्षेत्र की गतिविधियों के नियंत्रण के लिए उपायों का चयन इस गंभीर संदेह से निर्धारित हुआ कि प्रतियोगिता आयोजना की विरोधी है। इसलिए औद्योगिक और व्यापार नीतियों का एक प्रमुख लक्ष्य 'अपव्ययकारी' प्रतियोगिता को रोकना था।[25] दूसरी पंचवर्षीय योजना में घोषणा की गयी थी कि "किसी व्यापक योजना को जिसका लक्ष्य अर्थव्यवस्था में निवेश की पर्याप्त वृद्धि हो और जिसकी प्राथमिकताओं का एक निश्चित क्रम हो, केवल समग्र राजकोषीय और मौद्रिक नियंत्रण के आधार पर संचालित नहीं किया जा सकता" (पृ. 38)। इसलिए यह आवश्यक है कि "आयात-निर्यात नियंत्रण, उद्योगों या व्यापार के लिए लाइसेंस, मूल्य नियंत्रण और आबंटन जैसे उपायों का सहारा लिया जाए जो अर्थव्यवस्था के विशिष्ट क्षेत्रों या उपक्षेत्रों में आर्थिक गतिविधियों को प्रभावित और नियंत्रित करें" (पृ. 38)।

नियंत्रणों के इस ढांचे की व्याप्ति को उचित ठहराने के लिए विकास-आयोजना के कुछ अन्य वांछित उद्देश्यों के हवाले दिए गए जैसे, क्षेत्रीय विषमताओं में कमी, सामाजिक न्याय का सुनिश्चय, आत्मनिर्भरता में वृद्धि तथा मेहनतकश वर्गों के हितों का संरक्षण।

भारत के लगभग साथ-ही-साथ आयोजित विकास का रास्ता अपनाने वाले अन्य कई विकासशील देशों ने भी वांछित दिशाओं में आर्थिक गतिविधियों को मोड़ने के लिए अनेक प्रकार के नियंत्रणों का अत्यधिक सहारा लिया। इनमें से अनेक देशों की संवृद्धि या समता उत्पन्न करने की असफलता ने नियंत्रणों तथा अविवेकपूर्ण राजकीय हस्तक्षेप के प्रतिकूल आर्थिक प्रभावों पर प्रचुर नवशास्त्रीय साहित्य को जन्म दिया है। इस साहित्य में दो प्रमुख योगदान इस प्रकार हैं–'अधिशेषजीविता' (रेंट-सीकिंग) पर क्रूगर (1974) और 'प्रत्यक्षतः अनुत्पादक लाभार्थी गतिविधियों' पर भगवती (1982) के योगदान। क्रूगर का तर्क है कि, मिसाल के लिए, आयातों पर लगे परिमाणात्मक प्रतिबंधों का परिणाम यह होता है कि जब फर्में आयात के लाइसेंसों और उनके अधिशेषों के लिए आपस में प्रतियोगिता करती हैं तो अधिशेषजीविता की गतिविधियों पर संसाधनों की भारी बरबादी होती है। कल्याण की दृष्टि से, समाज को अधिशेषजीविता के प्रयासों की जो लागत उठानी पड़ती है वह नीतिजन्य विकृतियों से हुई मानक आर्थिक हानियों के **अतिरिक्त** होती है। भगवती (1982) ने अधिशेषजीविता के प्रयासों के बाद सिद्धांत को और विस्तार देकर उसमें उन प्रत्यक्षतः अनुत्पादक लाभार्थी गतिविधियों को भी समाविष्ट किया है जो अधिशेषों के लिए होनेवाली प्रतियोगिता से उत्पन्न होती हैं। अधिशेषजीविता की गतिविधियां (जैसे लॉबीइंग) उन संसाधनों को चटकर जाती हैं जो उत्पादन के लिए उपलब्ध नहीं हैं। ये गतिविधियां उन लोगों को वित्तीय लाभ पहुंचाती हैं जो इनमें प्रवृत्त होते हैं मगर ऐसी वस्तुएं और सेवाएं उत्पन्न नहीं करतीं जो परंपरागत सामाजिक-उपयोगिता प्रकार्य का अंग होती हैं।

क्रूगर और भगवती की प्रस्थापनाओं में निश्चित ही बहुत कुछ सच्चाई है। भारत समेत अनेक विकासशील देशों के आर्थिक जीवन को सरसरी तौर पर देखने से ही सच्चाई सामने आती है। लेकिन इस प्रस्थापना और इसके सामान्यीकरण के साथ अनेक समस्याएं भी जुड़ी हैं। पहला, यह सिद्धांत इसकी व्याख्या नहीं करता कि लगभग एक शताब्दी लंबे अहस्तक्षेपकारी औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत और दूसरे विकासशील देश क्यों संवृद्धि नहीं कर सके। इससे इसकी व्याख्या भी नहीं होती कि 1950 से 1980 तक के तीस वर्षों के दौरान अत्यधिक हस्तक्षेपकारी व्यवस्थाओं के अंतर्गत भी विकासशील देशों में क्यों अभूतपूर्व संवृद्धि हुई। दूसरे, जैसाकि फिशलो (1990) ने दिखाया है, "अभी तक किसी ने यह सिद्ध नहीं किया है कि सरकारी हस्तक्षेप की असफलता बाजार की असफलता से **अनिवार्यतः** अधिक

हानिकर है। इसके विपरीत, कारगर राजकीय कार्यवाही को प्रायः सफल बहिर्मुखी एशियाई आर्थिक उपलब्धि की अंतर्निहित विशेषता माना जाता है" (पृ. 66)। "क्रियान्वयन में (कुछ) असफलताएं" अवश्य रही हैं जिनका सुधार आवश्यक है। मगर इससे अहस्तक्षेप की नीति का पक्ष पुष्ट नहीं होता। तीसरे, प्रत्यक्षतः अनुत्पादक गतिविधियां ही मुक्त बाजार की एकमात्र विकृति नहीं हैं। उदाहरण के लिए, विश्व बाजार पर थोड़े से ही लोगों का जबर्दस्त कब्जा हो सकता है और प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण पर भारी प्रतिबंध हो सकते हैं। चौथे, अधिशेषजीविता से संबंधित साहित्य इन नीतियों के परिणामों की भविष्योक्ति करने की अपेक्षा असफलताओं के सामने आने के बाद उनकी व्याख्या करने में अधिक सफल रहा है। जैसाकि स्टिग्लिट्ज (1991) ने प्रश्न किया है :

> *हम इसकी व्याख्या कैसे करेंगे कि तथाकथित अधिशेषजीविता का व्यवहार क्यों पाकिस्तान की आर्थिक दक्षता में दखल देता रहा है जबकि कोरिया में उसके कम हानिकारक प्रभाव रहे हैं; क्यों कोरिया में भ्रष्टाचार कुछ कालों में समस्या रहा है जबकि दूसरे कालों में समस्या नहीं रहा है; ...क्यों कुछ राज्यों और कुछ उद्योगों में 'नियंत्रणमूलक बलाधिकार' (रेगुलेटरी कैप्चर) रहा है जबकि दूसरों में नहीं रहा ? (पृ. 139)।*

अधिशेषजीविता के सिद्धांत इस अर्थ में त्रुटिपूर्ण लगते हैं कि वे विभिन्न प्रकार के हस्तक्षेपों में अंतर नहीं कर पाते। वे बाह्यताओं की उपस्थिति को भी स्वीकार नहीं करते और न इन अवसरों के उपयोग के लिए चुनिंदा और उद्देश्यपूर्ण हस्तक्षेप के सकारात्मक प्रभावों को स्वीकार करते हैं। भारत समेत अनेक विकासशील देशों की मुख्य असफलता क्रियान्वयन में रही है और इस मान्यता में रही है कि राज्य के पास हस्तक्षेप की असीम क्षमता होती है। हमारे भविष्य की दिशा हस्तक्षेप के 'स्वरूप' को बदलने में तथा इसका कार्यक्षेत्र उन रणनीतिक और चुनिंदा क्षेत्रों तक सीमित रखने में निहित है जो उपलब्ध प्रशासनिक और प्रबंधकीय क्षमता के भीतर हों। बाह्य क्षेत्र के संदर्भ में, नियमन के ढांचे के अंदर कुछ संभावित सुधारों की व्याख्या आगे एक अध्याय में की गयी है। यहां हम उन परिवर्तनों की संक्षिप्त विवेचना करेंगे जो औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली के लिए वांछित हैं।

औद्योगिक लाइसेंस की प्रणाली अपने घोषित उद्देश्यों को पाने में असफल रही है, इसे भली-भांति स्वीकार किया जाता है और सिद्ध किया जा चुका है (देखें, मोहन और अग्रवाल 1990 तथा भारत सरकार द्वारा गठित उन समितियों की रिपोर्टें जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है)। परांजपे जो आयोजना के एक घोर समर्थक रहे हैं, और 1969 की औद्योगिक लाइसेंस नीति जांच समिति के सदस्य थे, का कहना है कि "लाइसेंस प्रणाली के बारे में समिति का ठोस निष्कर्ष यह है कि यह प्रणाली लगभग हरेक नुक्ते पर असफल रही है, वह प्रश्न चाहे क्षेत्रीय विकीर्णन हो,

आयात-प्रतिस्थापन का हो या आर्थिक शक्ति के वर्तमान संकेंद्रण का हो। लाइसेंस प्रणाली मुख्यतः योजनाओं की प्राथमिकताओं के अनुसार उद्योगों का विकास भी सुनिश्चित नहीं कर सकी है।"[26] राज (1986) के अनुसार "लगभग तीन दशकों के काल में औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली इस तरह विकसित हुई है कि उसमें बहुत सा कूड़ा-करकट जमा हो गया है। आरंभ में जिन प्रकार्यों के लिए इसे लागू किया गया था, यह अब उनमें से अधिकांश को कारगर ढंग से पूरा नहीं करती। यह राजनीतिक और नौकरशाहाना भ्रष्टाचार का एक मुख्य स्रोत बन चुकी है...." (पृ. 25)। क्षमता को विखंडित, प्रतियोगिता को बाधित तथा निर्यातों को हतोत्साहित करने में लाइसेंस प्रणाली के प्रतिकूल आर्थिक प्रभावों को इसी प्रकार अन्य विद्वानों और सरकारी समितियों ने भी स्वीकार किया है। इसका एक सकारात्मक परिणाम यह रहा है कि निवेशकों के लिए घरेलू बाजार सुनिश्चित हुआ है। संभव है कि 'जोखिम' में कमी करके औद्योगिक क्षेत्र में निवेश की दर बढ़ाने में इसका योगदान रहा हो।[27]

लाइसेंस प्रणाली को सुधारते समय वर्तमान दशक की औद्योगिक प्राथमिकताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। भुगतान-संतुलन की स्थिति को देखते हुए पहली प्राथमिकता यह सुनिश्चित करने की है कि औद्योगिक गतिविधियों के फलस्वरूप व्यापार घाटे में कमी आए। औद्योगिक प्रोत्साहनों की संरचना को आयातों के बजाय घरेलू बाजार के लिए निर्यातों की दिशा में मोड़ना होगा। दूसरे, बचत की समग्र बाधा को देखते हुए हमें अब कम पूंजीप्रधान परियोजनाओं को अधिक समर्थन देना होगा। तीसरे, सार्वजनिक क्षेत्र में संसाधनों की कठिनाई को देखते हुए शेष औद्योगिक क्षेत्र को अर्थ-सहायता देने की उसकी क्षमता सीमित है (चाहे ये लागत से भी कम कीमत पर आगतों को उपलब्ध कराने के रूप में हों या प्रत्यक्ष सरकारी सहायिकी के रूप में)। सवाल यह है कि क्या वर्तमान दशक में औद्योगिक नीति की इन या अन्य प्राथमिकताओं को लाइसेंस प्रणाली के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है या इसके लिए हस्तक्षेप की एक वैकल्पिक व्यवस्था आवश्यक है जो मौद्रिक, राजकोषीय और वित्तीय उपायों पर निर्भर अधिक हो।

इस प्रश्न का कोई अनन्य या सार्वभौम रूप से वैध उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसका उत्तर संदर्भ पर निर्भर होगा। भारतीय संदर्भ में और पिछले अनुभवों, प्रशासनिक क्षमता की सीमाओं तथा वर्तमान में घटित हो रहे राजनीतिक परिवर्तनों को देखते हुए[28] मेरा विचार है कि औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली को पूरी तरह समाप्त कर देने का समय आ गया है। इसके स्थान पर औद्योगिक नीति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजकोषीय और वित्तीय साधनों का अधिकाधिक पुरजोर इस्तेमाल करना चाहिए। जैसाकि अध्याय 4 में कहा गया है, प्रोत्साहनों की संरचना को निर्यातों के पक्ष में लाने के लिए आयात और प्रशुल्क नीतियों का प्रयोग किया जा सकता है। पूंजीप्रधान और आयातप्रधान घरेलू उत्पादन को दिए जा रहे संरक्षण की प्रभावी दरों

में कमी लाने के लिए प्रशुल्क नीति को भी नयी दिशा देनी होगी। उदाहरण के लिए, इसे आगतों पर नामिक (नामिनल) संरक्षण की दरें बढ़ाकर तथा उसे तैयार मालों पर प्रशुल्क की दर के बराबर करके किया जा सकता है।

उत्पादन शुल्क घरेलू मांग को हतोत्साहित करने का एक शक्तिशाली साधन है। उत्पादन शुल्क की संरचना को पूंजीप्रधान या विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन के विपरीत श्रमप्रधान उत्पादन के पक्ष में बदलना होगा।[29] इसी प्रकार, ब्याज दर की संरचना भी निर्यातों तथा श्रमप्रधान उत्पादन के पक्ष में होनी चाहिए। यह सही है कि इनमें से कोई भी वित्तीय और राजकोषीय उपाय या फिर कोई अन्य उपाय वास्तविक उत्पादन और पूर्वनिर्धारित योजनागत लक्ष्यों के बीच पूर्ण सुसंगति स्थापित नहीं कर सकता। फिर भी, ये उपाय संसाधनों के आबंटन को निर्देशित करने में अधिक कारगर, कम भेदभावमूलक और अधिक लचकीले सिद्ध हो सकते हैं। अधिशेषजीविता तथा अनुत्पादक लाभार्थी गतिविधियों की व्यापकता पर ये उपाय जिस सीमा तक अंकुश लगाएंगे, वह एक अतिरिक्त लाभ होगा।

## निष्कर्ष

हमें विकास में शासन की भूमिका को 'समाप्त' नहीं, पुनःपरिभाषित करना होगा।[30] जैसाकि आई. जी. पटेल (1985, पृ. 14) का कहना है :

> *यह मात्र संयोग नहीं है कि हाल के वर्षों में जिन देशों को सफल विकास के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है वे सभी, कुल मिलाकर, आर्थिक क्षेत्र में सक्रियता और हस्तक्षेप के समर्थक रहे हैं। यह बात जापान के बारे में उतनी ही सच है जितनी कि दक्षिण कोरिया, ताइवान और सिंगापुर के बारे में और यही बात पिछली सदी में संयुक्त राज्य अमरीका, जर्मनी और फ्रांस के बारे में भी इतनी ही सच थी।*

भविष्य के लिए एक महत्वपूर्ण प्रश्न राजकीय हस्तक्षेप की 'गुणवत्ता' का है। जैसाकि हाल के अनुसंधानों से पता चलता है, हस्तक्षेप की भारतीय विधियां कोरिया, जापान और ताइवान आदि की विधियों से बहुत कम कारगर रही हैं। ये देश अत्यधिक हस्तक्षेपवादी थे मगर उनके हस्तक्षेप ने प्रतियोगिता और दक्षता में वृद्धि की। दूसरी ओर, भारत में हस्तक्षेप ने संसाधनों के कारगर उपयोग में बाधा डाली। राजकीय हस्तक्षेप की गुणवत्ता में सुधार वर्तमान दशक में हमारी कार्यसूची का एक प्रमुख विषय होना चाहिए।

### टिप्पणियां

1. मुक्त उद्यम और बाजार की शक्तियों का अन्यथा कट्टर समर्थक होने के बावजूद विश्व बैंक आज भी सरकारी जमानत के बिना कोई ऋण नहीं देता।

2. इस साहित्य की संक्षिप्त समीक्षा के लिए बर्धन (1988, पृ. 63-67) देखें। *दि जर्नल आफ इकनामिक पर्सपेक्टिव* में, ग्रीष्म 1 990 के अंक में, 'राज्य और आर्थिक विकास' के विषय पर एक परिचर्चा प्रकाशित की गयी है जिसमें अन्य लोगों के साथ दत्तचौधुरी, अलबर्ट फिश्लों, वेस्टफाल और एन. क्रूगर के लेख शामिल हैं। साथ में श्रीनिवासन (1985) भी देखें।

3. लगता है कि अमरीका में नवें दशक के अंत में जनमत धीरे-धीरे अधिक सक्रिय सरकारी भागीदारी के पक्ष में परिवर्तित हुआ है। *टाइम* पत्रिका का एक अग्रलेख इसका आरंभिक उदाहरण है जिसमें अमरीका में सरकार की 'मौत' पर शोक व्यक्त किया गया है। देखें : "क्या सरकार मर चुकी है ? नेतृत्व के प्रति उदासीन राजनीतिज्ञों ने अमरीका को पक्षाघात का शिकार होने के लिए छोड़ दिया है," *टाइम* (उत्तर अमरीकी संस्करण, 23 अक्टूबर 1989)।

4. राष्ट्रपति पेरेज़ और प्रधानमंत्री गोंज़ालेज के ये साक्षात्कार *टाइम*, उत्तर अमरीकी संस्करण, 23 अक्तूबर 1989 में, पृ. 50 और पृ. 54 पर प्रकाशित हुए हैं। जांबिया की अर्थव्यवस्था के लिए पिछली नीतियों के 'घातक' आर्थिक परिणामों के बारे में राष्ट्रपति कौंडा ने अपनी पार्टी की वार्षिक बैठक में जो भाषण दिया था, उसकी एक रिपोर्ट *फाइनेंशियल टाइम्स*, *लंदन*, 14 नवंबर 1989 में पृ. 8 पर उपलब्ध है। जांबिया में आजकल उदारीकरण का एक कार्यक्रम चल रहा है।

5. *वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट*, 1989

6. यह बात यकीनन सही है कि एकसमान हस्तक्षेप और नियंत्रण के मिलते-जुलते उपायों का अवलंबन करनेवाले विभिन्न देशों में प्राप्त परिणाम अंततः बहुत भिन्न रहे हैं। इसके भी उदाहरण हैं कि एक ही देश के इतिहास के विभिन्न कालों में विभिन्न परिणाम सामने आए हैं हालांकि राजकीय हस्तक्षेप की व्याप्ति मोटे तौर पर एकसमान रही है। संभव है कि अलग-अलग मामलों में, और एक ही देश में विभिन्न कालों में, जो सफलता या असफलता मिली उसका संबंध राजकीय हस्तक्षेप के स्तर या परिमाण के बजाय उसके *प्रकार* और उसकी गुणवत्ता से अधिक हो।

7. बर्धन (1988) का तर्क है कि भारतीय दृष्टांत से यह संकेत मिलता है कि वर्गीय या दबाव-समूहों की राजनीति से संबंधित मार्क्सवादी या नवशास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र राज्य को जितना शक्तिशाली मानता है, उससे वह कहीं अधिक शक्तिशाली है। "अनेक विकासशील देशों में राज्य अर्थव्यवस्था के 'शीर्ष' को नियंत्रित करता है क्योंकि वह कृषीतर अर्थव्यवस्था के एक बड़े भाग का स्वामी होता है और ऋण, विदेशी मुद्रा और औद्योगिक लाइसेंसों की स्वीकृति को नियंत्रित करता है। वह काफी हद तक एक वर्ग को दूसरे वर्ग, स्थानीय पूंजी को विदेशी पूंजी, एक बहुराष्ट्रीय कंपनी को दूसरी कंपनी के खिलाफ खड़ा कर सकता है सिर्फ इसलिए कि उसके अपने लक्ष्यों की पूर्ति हो सके।" (पृ. 65)।

8. नंदी ने एक व्यापकतर राजनीतिक-समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में भारत में राजसत्ता की वृद्धि का विश्लेषण किया है। भारतीय राजसत्ता को 'लोक-क्षेत्र में एक आधिपत्यवादीकर्ता' बताते हुए वे कहते हैं :

> न केवल यह कि पिछले 40 वर्षों ने इस धारणा के प्रति घोर निहित स्वार्थ उत्पन्न किया है बल्कि लगभग पूरा आधुनिक भारत राष्ट्र-राज्य को राजसत्ता की एकमात्र वैध और संभव धारणा मानने लगा है, उसे ऐसी संस्था मानने लगा है जिसे भारतीय सभ्यता के अन्य सभी पक्षों पर पूर्ण प्राथमिकता प्राप्त होनी चाहिए। आज राष्ट्र-राज्य इतना शक्तिमान बन चुका है कि वह भारतीय समाज की उन सभी मांगों का विरोध कर सके जो राज्य की आवश्यकताओं से टकराती हों। आज प्रत्येक मामले में समाज से अपेक्षा की जाती है कि वह राज्य के साथ

तालमेल कायम करे (पृ. 5)।

9. आयोजना और हाल के अनुभवों पर अच्छा-खासा साहित्य उपलब्ध है। आयोजना, और खासकर लेटिन अमरीका में आयोजना के अनुभवों की व्यापक समीक्षा के लिए *सी. ई. पी. ए. एल. रिव्यू*, अंक 31 (लेटिन अमरीका और कैरिबियन के लिए संयुक्त राष्ट्र आर्थिक आयोग, सांतियागो, चिली) में एंग्लेड और फोर्टिन (1987), दे मात्तो (1987) और अन्य विद्वानों के लेख देखें।

10. भारतीय आयोजना की हाल की एक समालोचना के लिए गुप्त (1989) देखें। आयोजना-प्रक्रिया और विकास पर उसके प्रभाव की समीक्षा के लिए सुदंरम (1987) भी देखें। आयोजना-प्रक्रिया और भारत के आयोजना संबंधी अनुभवों की शक्तियां और कमजोरियां "भारत में राज्य और विकास आयोजना" विषय पर एक सम्मेलन की विषय भी रही हैं। इस सम्मेलन का आयोजन प्राच्य एवं अफ्रीकी अध्ययन स्कूल, स्कूल आफ औरियंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज, लंदन विश्वविद्यालय ने अप्रैल, 1989 में किया था। इस सम्मेलन में प्रस्तुत आलेखों में भारतीय योजनाओं के ऐतिहासिक और राजनीतिक आयामों के साथ-साथ तकनीकी और क्षेत्रवार मुद्दों को भी समाविष्ट किया गया था। टेरी बायरेस इन आलेखों को एक पुस्तक-रूप में संपादित कर रहे हैं जो शीघ्र ही आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली से प्रकाशित होगी।

11. दांडेकर, सुंदरम (1987) द्वारा उद्धृत।

12. भारत में नियंत्रणों के इतिहास के लिए मोहन और अग्रवाल (1990) देखें। उनका कथन है कि भारतीय उद्योग को परिचालित करने वाले अधिकांश नियंत्रणों और नियामक व्यवस्था का स्वरूप और अंतर्वस्तु भारत रक्षा नियमों पर आधारित है जो भारत रक्षा कानून के अंतर्गत 1939 में जारी किए गए थे (यह कानून दूसरे विश्वयुद्ध के आरंभ के बाद लागू किया गया था)। नियंत्रण संबंधी बहुत से कानून जैसे, विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, आयात-निर्यात (नियंत्रण) अधिनियम और पूंजी निर्गमन (नियंत्रण) अधिनियम जो औद्योगिक निवेश को प्रभावित करते हैं, 1950 से पहले ही लागू थे। यह कानूनी ढांचा मोटे तौर पर आज भी अपरिविर्तित है।

13. कोरियाई अनुभवों की समीक्षा के लिए विश्व बैंक का देशवार अध्ययन (1987). दत्तचौधुरी (1990) और वेस्टफाल (1990) देखें। चक्रवर्ती (1987 ब) ने एक रोचक आलेख में कोरियाई अनुभवों की समीक्षा मार्क्सवादी दृष्टिकोण से की है। उनका निष्कर्ष है कि कोरिया में संवृद्धि की गति तेज तो रही है पर उस देश के अनुभव में ऐसी अनेक अंतर्विरोधी बातें भी हैं जो भविष्य में समस्याएं खड़ी कर सकती हैं। भारी बाहरी ऋण, सापेक्षतः अधिक मुद्रास्फीति और कम वैयक्तिक बचतें ऐसी ही कुछ बातें हैं। लगता है कि चक्रवर्ती का अध्ययन नवें दशक के आरंभ तक के आंकड़ों पर आधारित था। उसके बाद से कोरिया की स्थिति में उल्लेखनीय कायापलट हुई है। बाहरी ऋण में भारी कमी आयी है (यह 1985 के 46 अरब डालर से घटकर 1988 में 31 अरब डालर रह गया)। इस काल में ऋण-सेवा का अनुपात भी 24 से घटकर 16 प्रतिशत रह गया है। 1988 में वैयक्तिक बचतों में उछाल आया और वे स. रा. उ. का 30 प्रतिशत हो गयीं। थोक मूल्य स्थिर रहे हैं, और इनमें 1984-88 के पांच वर्षों में कुल 4 प्रतिशत से भी कम की वृद्धि हुई है।

14 केंद्र सरकार के सार्वजनिक वाणिज्यिक उद्यमों ने 1989-90 में लगी पूंजी पर मात्र 4.5 प्रतिशत का लाभ कमाया। उन्होंने मात्र 311 करोड़ रुपये का लाभांश दिया जो कुल शेयर पूंजी के एक प्रतिशत से भी कम था। सार्वजनिक उद्यमों के प्रचालन और वित्तीय निष्पादन की समीक्षा के लिए राव और माधवी लता (1990) देखें।

15. साहित्य-सर्वेक्षण के लिए अहरोनी (1986) देखें। रामनाथम् (1989) तथा कुक और किर्कपैट्रिक (1989) ने निजीकरण के मुद्दों और उसके संबंध में अनेक विकासशील देशों के अनुभवों के सर्वेक्षण किए हैं। विकासशील देशों में निजीकरण के बारे में लेवी (1981) और नुनेनकैंप (1986) ने अर्थमितीय और सांख्यिकीय साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं। निजीकरण के बारे में *वर्ल्ड डवलपमेंट* का विशेषांक (खंड 17, अंक 5, मई 1989) भी देखें।

16. किर्कपैट्रिक (1989) के अनुसार, 1980 और 1986 के बीच विश्व बैंक के 40 संरचनागत समायोजन कार्यक्रमों में से 73 प्रतिशत में सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय निष्पादन के बारे में किसी-न-किसी कार्यवाही की मांग की गयी थी। इन कार्यक्रमों में अधिकारहरण के बजाय नियमन से मुक्ति और प्रतियोगिता पर जोर दिया गया था। लेकिन और भी हाल के कार्यक्रमों में विश्व बैंक ने एक विशिष्ट नीतिगत उद्देश्य के रूप में निजीकरण की नीति का अनुमोदन किया है।

17. 'कानूनी' जवाबदेही (जो 'वास्तविक' जवाबदेही से भिन्न है) सुनिश्चित करने के लिए नियमों और कार्यविधियों का एक पूरा तामझाम भी निस्संदेह पाया जाता है। लेकिन इन नियम-कायदों ने प्रशासनिक और राजनीतिक मनमानेपन के खुले और अक्सर सनक भरे व्यवहार पर शायद ही कभी कारगर रोक लगायी हो।

18. भारत में सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़े मुद्दों (निजीकरण सहित) की विवेचना के लिए अय्यर (1991) और रेड्डी (1989) देखें।

19. परिसंपत्तियों के घरेलू विक्रय का एक विकल्प यह है कि उनको विदेशी निवेशकों के हाथों बेचा जाए। यह शायद भारत में राजनीतिक रूप से किसी दुर्लभ दृष्टांत को छोड़कर अस्वीकार्य होगा। इसके अलावा, ऐसा करने का आर्थिक औचित्य भी स्पष्ट नहीं है। विदेशी विक्रय केवल उन भारी मुनाफा देनेवाले और संरक्षित क्षेत्रों में ही संभव है जिनमें प्रतिफल की दरें ऊंची हैं। ये ही वे क्षेत्र भी हैं जिनमें परिसंपत्तियों के विदेशी विक्रय की आर्थिक लागतें लाभ से बहुत अधिक होंगी (अध्याय 4 देखें)।

20. पिंस्ट्रप-एंडरसन (1988) भी देखें।

21. भारत के नगरीय क्षेत्रों में निर्धनता की रेखा का निर्धारण 1985-86 के दामों पर 1600 रुपये प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति उपभोग के स्तर पर किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के किसी कर्मचारी का औसत प्रतिव्यक्ति वेतन लगभग 30,000 रुपये प्रतिवर्ष होता है।

22. भारी संख्या को देखते हुए 'लक्ष्यनिर्धारण' की एक दिलचस्प मिसाल श्रीलंका में देखी गयी। निर्धनों, जो जनसंख्या के आधे भाग के आसपास थे, के लाभार्थ चावल की सामान्य सहायिकी को खाद्य पर्ची के कार्यक्रम में बदल दिया गया—आगे चलकर इन पर्चियों का वास्तविक मूल्य मुद्रास्फीति के कारण कम हो गया। इस समाधान की अपनी स्पष्ट सामाजिक-राजनीतिक लागतें थीं।

23. खाद्य सहायिकियों की 'सूची' को सीमित रखने का एक प्रयोगात्मक कार्यक्रम मेक्सिको में चलाया गया। 1983 से पहले अधिकांश खाद्य पदार्थों के लिए सहायता दी जाती थी। 1989 के बाद इन सहायिकियों को शक्कर, टार्टिला और मक्के के टिक्कों तक सीमित कर दिया गया जो निर्धन जनता के प्रमुख भोजन हैं। सहायिकी प्राप्त दूध तथा सहायिकी ग्रामीण खाद्य स्टोरों के दो अन्य कार्यक्रमों का विस्तार किया गया। विश्व बैंक (1988) देखें।

24. लाइसेंस प्रणाली और उसके आर्थिक प्रभावों का एक व्यापक विश्लेषण भगवती और देसाई(1970)

में मिलता है। और भी हाल की समीक्षाओं के लिए मोहन और अग्रवाल (1900) तथा केलकर आदि (1990) देखें।

25. मूलजी (1990) ने जवाहरलाल नेहरू के पत्रों से एक दिलचस्प उद्धरण दिया है। इसमें नेहरू ने प्रथम सोवियत योजना की प्रशंसा करते हुए कहा था कि "पूंजीवाद के अंतर्गत ये (सभी) गतिविधियां वैयक्तिक पहलकदमी और संयोग पर छोड़ दी जाती हैं तथा प्रतियोगिता के कारण प्रयास व्यर्थ जाते हैं। विभिन्न उत्पादकों या मजदूरों के विभिन्न समूहों के बीच कोई समन्वय नहीं पाया जाता।" (पृ. 129)।

26. लेकिन 1969 की औद्योगिक लाइसेंस नीति जांच समिति ने स्वीकार किया था कि इस प्रणाली के कारण क्षमताओं का पूर्व-हस्तगन हुआ है तथा दूसरी कई खामियां पैदा हुई हैं। फिर भी, उसने लाइसेंस व्यवस्था को जारी रखने की सिफारिश की थी।

27. फिर भी, यह साक्ष्य किसी भी प्रकार अंतिम नहीं है। तेजी से विकास करने वाले अनेक देशों ने लाइसेंस प्रणाली का सहारा लिए बिना भी औद्योगिक निवेश की भारी दरें प्राप्त करने में सफलता पायी है।

28. प्रस्तावना देखें।

29. भारी प्रशुल्क और उत्पादन शुल्क के द्वारा मांग को सीमित करने में एक समस्या यह है कि इससे तस्करी का रास्ता खुल सकता है। लेकिन भारी प्रशुल्क के साथ लाइसेंस प्रणाली के बारे में भी यह बात सही है। लाइसेंस प्रणाली की जगह उत्पादन शुल्क लगाने का लाभ यह है कि इससे अतिरिक्त घरेलू लाभ राजकोष में आएंगे।

30. एफ. फुकुयामा का लेख 'दि एंड आफ हिस्टरी ?' (*नेशनल इनटेरेस्ट*, युगान्त विज्ञान खंड 16, 1989, वाशिंगटन डी. सी., में प्रकाशित) एक लेखक के शब्दों में "विनाशवाद' संबंधी आलेखों में नवीनतम है। फुकुयामा के आलेख ने राजनीतिशास्त्रियों और इतिहासकारों का बड़ा ध्यान आकर्षित किया है।

## तालिका 3.1
## 244 सार्वजनिक उद्यमों का समेकित तुलन-पत्र तथा गैरसरकारी कंपनियों द्वारा उगाही गयी पूंजी

*एक* *सार्वजनिक उद्यमों का तुलन-पत्र (31 मार्च, 1990)* *(करोड़ रुपयों में)*

| | *देनदारियां* | | | *परिसंपत्तियां* | |
|---|---|---|---|---|---|
| (अ) | शेयर पूंजी | 36.957 | (अ) | परिसंपत्तियां | 82.452 |
| (ब) | ऋण | 60,358 | (ब) | निवेश | 11.129 |
| (स) | नकद उधार तथा अल्पकालीन पेशगी | 13.948 | (स) | चालू और अन्य परिसंपत्तियां | 75.965 |
| (द) | चालू देनदारियां और प्रावधान | 41.368 | (द) | घाटा | 12,873 |
| | योग | 182.419 | | योग | 182.419 |

*दो* *गैरसरकारी कपनियों द्वारा उगाही गयी पूंजी, 1989-90* *(करोड़ रुपयों में)*

| | | |
|---|---|---|
| (अ) | इक्विटी और अधिमान शेयर | 504 |
| (ब) | डिबेंचर | 2106 |
| | योग | 2610 |

स्रोत : भारत सरकार, *सार्वजनकि उद्यम सर्वेक्षण*, 1989-90, खंड 1 और रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया, *मुद्रा तथा वित्त पर रिपोर्ट*, 1989-90

# 4

# भुगतान-संतुलन की क्षमता की दिशा में

दूसरी पंचवर्षीय योजना से लेकर अब तक के 35 वर्षों में से 29 में भारत को हमेशा ही कम या अधिक परिमाण मे भुगतान-संतुलन की समस्या का सामना करना पड़ा है।[1] फिर भी, भारत के योजनाकार इस समस्या से निपटने के लिए एक सक्षम रणनीति निकाल पाने में असफल रहे हैं। ठीक इसी काल में, अनेक विकासशील देशों ने कुल उत्पादन में विनिर्माण का हिस्सा बढ़ाने और अपने भुगतान-संतुलन में अधिशेष अर्जित करने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है। ये वही देश हैं जिन्होंने कमोबेश भारत जितने औद्योगीकरण और आय-स्तर के साथ अपना विकास आरंभ किया था। भारत को इस असफलता की भारी कीमत चुकानी पड़ी है। आयोजना-प्रक्रिया समय-समय पर संकटग्रस्त होती रही है और परिवर्तनशील घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय वातावरण की प्रतिकियास्वरूप समष्टिगत आर्थिक नीतियां विकसित करने की हमारी तालमेल की क्षमता घटी है। इन संकटों के कारण बाहरी पूंजी-बाजारों पर देश की निर्भरता बढ़ी है और बाहरी झटकों के सामने देश की असहायता भी बढ़ी है। खाड़ी का संघर्ष छह माह से अधिक नहीं चला मगर उसने चालीस वर्षों की आयोजना के बाद भी भारत के समष्टिगत आर्थिक संतुलन की कमजोरी को अच्छी तरह उजागर कर दिया। भुगतान-संतुलन की रणनीति पर नए सिरे से विचार करना आज आवश्यक है।

भविष्य के लिए आवश्यक सबक क्या हैं, इसे जानने के लिए यह उपयोगी होगा कि अतीत की भुगतान-संतुलन की समस्या की प्रकृति पर विचार किया जाए और यह भी देखा जाए कि अगर इसका एक स्थायी हल निकाल सकना कठिन सिद्ध हुआ है तो इसके कारण क्या हैं।

## भुगतान-संतुलन की समीक्षा, 1956-57 से 1989-90 तक

1956-57 के बाद के काल को हम तीन उपकालों में बांट सकते हैं। यह विभाजन भुगतान-संतुलन की समस्या की प्रकृति, समग्र समष्टिगत आर्थिक वातावरण तथा बाहरी सहायता की स्थिति पर आधारित है। ये तीन उपकाल इस प्रकार हैं : 1956-57 से 1975-76 तक (पहला काल); 1976-77 से 1979-80 तक (दूसरा काल) और 1980-81 से आज तक (तीसरा काल)। पहले और तीसरे काल की विशेषता भुगतान-संतुलन की सतत समस्या रही है। फिर भी, इनमें समष्टिगत आर्थिक वातावरण और खासकर राजकोषीय स्थिति को लेकर महत्त्वपूर्ण अंतर थे। रियायती शर्तों पर विपुल सहायता भी पहले काल की विशेषता रही है जबकि तीसरे काल में वाणिज्यिक ऋणों का जबर्दस्त सहारा लेना पड़ा है और विदेशी ऋण में पर्याप्त वृद्धि हुई है। दूसरे काल में, जो अपेक्षाकृत संक्षिप्त था, भुगतान-संतुलन और विदेशी मुद्राभंडार की स्थिति में पर्याप्त सुधार आया।[2] तालिका 4.1 में तीनों कालों के लिए प्रासंगिक समष्टिगत आर्थिक आंकड़े दिए गए हैं। नीचे की विवेचना में मुख्यतः मैं तीसरे काल (1980-81 से आज तक) पर ज्यादा ध्यान दूंगा। पहले के कालों के समष्टिगत आर्थिक वातावरण और भुगतान-संतुलन की स्थिति की संक्षिप्त समीक्षा भी की गयी है मगर इसका प्रमुख उद्देश्य वर्तमान स्थिति से उनके अंतर को स्पष्ट करना है।

### (अ) 1956-57 से 1975-76 तक (पहला काल)

यह पूरा काल भारत के भुगतान-संतुलन के लिए बहुत कठिन था। इसका कारण अंशतः यह था कि आयात की आवश्यकताओं के मुकाबले निर्यात की संवृद्धि धीमी थी। प्रतिकूल बाह्य कारक एक अन्य आंशिक कारण था। इस काल में तीन युद्ध हुए (चीन के साथ 1962 में तथा पाकिस्तान के साथ 1965 और 1971 में), अनेक सूखे पड़े (इनमें 1965-66 और 1966-67 के भयानक सूखे शामिल हैं) और 1973 में तेल की कीमतों के कारण पहला झटका लगा। (परिमाणात्मक प्रतिबंधों के द्वारा लगाए गए) कठोर आयात-नियंत्रणों और विदेशी मुद्रा नियमनों के बावजूद चालू लेखा घाटा स. घ. उ. का 1.8 प्रतिशत रहा। विदेशी मुद्रा का भंडार काफी कम रहा जो आम तौर पर तीन माह के आयातों के लिए आवश्यक स्तर से भी कम था। लगभग पूरे चालू लेखा घाटे (92 प्रतिशत) की भरपाई भारी रियायती शर्तों पर मिली विदेशी सहायता से की जाती रही। वाणिज्यिक ऋण शायद ही कोई लिया गया हो।

राजकोषीय कठोरता इस काल की एक उल्लेखनीय विशेषता थी। (केंद्र, राज्यों और संघशासित क्षेत्रों का) राजकोषीय घाटा स. घ. उ. के 6 प्रतिशत कम रहा (इसके विपरीत, 1989-90 में यह घाटा स. घ. उ. का 10.5 प्रतिशत रहा; नीचे देखें)। मौद्रिक नीति को भी इस कठोर राजकोषीय नीति ने प्रभावित किया। मुद्रा-आपूर्ति की औसत

संवृद्धि-दर केवल 11 प्रतिशत रही (जबकि 1989-90 में यह 19.4 प्रतिशत थी)। मुद्रास्फीति की दर भी सापेक्षतः कम (6.7 प्रतिशत) रही। एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि सार्वजनिक बचतें 1956-57 के 1.9 प्रतिशत से बढ़कर 1975-76 में 4.2 प्रतिशत हो गयीं। लेकिन इस काल में स. घ. उ. की औसत वार्षिक संवृद्धि-दर मात्र 3.9 प्रतिशत रही। पूंजी-निर्गत अनुपात में भी महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई—अंशतः कम उत्पादकता के कारण और अंशतः अधिक पूंजीप्रधान क्षेत्रों की ओर निवेश की संरचना में आए परिवर्तन के कारण।

## (ब) 1976-77 से 1979-80 (दूसरा काल)

ये वर्ष भारत के भुगतान-संतुलन के संदर्भ में स्वर्णिम वर्ष थे। चालू लेखे में थोड़ा सा अधिशेष था (जो औसतन स. घ. उ. का 0.6 प्रतिशत था) और विदेशी मुद्राभंडार भी सात माह के आयातों के बराबर थे। निर्यात की संवृद्धि भी अच्छी रही। लेकिन भुगतान-संतुलन में आए भारी सुधार का प्रमुख कारण निवल (नेट) अदृश्य आयों में (मुख्यतः प्रेषित धन के कारण) नाटकीय सुधार का आना था। निवल अदृश्य आय 1974-75 में बहुत मामूली अर्थात 193 करोड़ रुपये थी जो 1979-80 तक बढ़कर 2486 करोड़ हो गयी।[3] इस काल में विदेशी परिसंपत्तियों की वृद्धि के कारण मुद्रा-आपूर्ति की वृद्धि में पर्याप्त (लगभग 20 प्रतिशत प्रतिवर्ष की) तेजी आयी। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि मुद्रास्फीति की दर कम रही। 1979-80 के सूखे के वर्ष को निकाल दें तो मुद्रास्फीति की दर मुश्किल से 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। स. घ. उ. के प्रतिशत के रूप में राजकोषीय घाटे भी कम (औसतन लगभग 7 प्रतिशत) रहे।

इस काल मे औद्योगिक और आयात संबंधी उदारीकरण की भी हल्की-सी शुरूआत हुई। आयात नीति में धीरे-धीरे ढील दी गयी तथा घरेलू उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे मालों और घटकों के आयात की नीति में अधिक 'स्वचलता' का समावेश हुआ। आयात नीति में सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन 1978-79 में किया गया। इस वर्ष वे सभी वस्तुएं जो विशेष रूप से नियंत्रित या प्रतिबंधित न थीं, मुक्त सामान्य लाइसेंस के अंतर्गत लायी गयी। अब घरेलू उत्पादन के लिए उनका खुलकर आयात किया जा सकता था।[4] औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली में भी कुछ परिवर्तन किए गए जिनके कारण (सीमेंट जैसे) महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में उत्पादन का प्रसार हुआ। औद्योगिक लाइसेंस पाने के लिए छूट की सीमा (संयंत्रों और मशीनों में निवेशार्थ) एक करोड़ रुपये से बढ़ाकर 3 करोड़ रुपये कर दी गयी।[5]

लेकिन भुगतान की स्थिति में 1979-80 में भारी परिवर्तन आया। इसका कारण तेल की कीमतों का दूसरा झटका तथा भारत की व्यापार स्थिति में आई गिरावट थी। व्यापार-संतुलन पर तेल की कीमतों में हुई वृद्धि का पूरा-पूरा प्रभाव 1980-

81 में देखा गया। 1978-79 में व्यापार घाटा 2200 करोड़ रुपयों का था जो 1979-80 में 3400 करोड़ और 1980-81 में 6200 करोड़ हो गया (तालिका 4.2 देखें)।[6] 1979-80 में प्रेषित धन और निवल अदृश्य आयों में हुई वृद्धि के कारण मुद्राभंडार पर व्यापार घाटे की इस वृद्धि का मामूली-सा प्रभाव पड़ा।[7]

## (स)1980-81 से 1989-90 तक (तीसरा काल)

1981 में भारत ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ एक समझौता किया। इसके अनुसार उसे विस्तारित कोष सुविधा के अंतर्गत 5 अरब विशेष आहरण अधिकार (एस. डी. आर.) का ऋण मिलना था। यह रकम भारत को तीन वर्षों में प्राप्त होनी थी। लेकिन भारत ने इससे केवल 3.9 अरब वि. आ. अ. की राशि ली और 1984 के आरंभ में भारत के अनुरोध पर यह अनुबंध समाप्त कर दिया गया। इसका कारण यह था कि 1983-84 में भुगतान-संतुलन में कुछ सुधार हुआ था। अं. मु. कोष के ऋण के कारण नवें दशक के पूर्वार्ध में मुद्राभंडार की स्थिति संतोषजनक रही हालांकि 1979-80 के बाद चालू लेखा घाटा बढ़ चुका था। तेल के घरेलू उत्पादन में भी तेजी से वृद्धि हुई। इससे तेल का कुल आयात कम हुआ। कच्चे तेल का घरेलू उत्पादन 1981-82 में 162 लाख टन था जो 1984-85 में 290 लाख टन हो चुका था। फलस्वरूप उपभोग की आवश्यकताओं की पूर्ति में घरेलू उत्पादन का भाग जो 50 प्रतिशत से जरा सा कम था, 1984-85 में बढ़कर 75 प्रतिशत हो गया। 1982-85 में आयातों के कुल परिमाण की संवृद्धि-दर मात्र 2 प्रतिशत रही। लेकिन निर्यात भी शिथिल रहे और 1982-85 में उनकी संवृद्धि-दर मात्र 3.2 प्रतिशत थी।[8]

निवल अदृश्य आयों में क्रमिक गिरावट इस काल की एक और विशेषता थी।[9] इस काल में चूंकि व्यापार घाटा (भुगतान के आधार पर) भी तेजी से बढ़ रहा था इसलिए इस घाटे के वित्तीयन में निवल अदृश्य आयों का योगदान कम हो गया। इससे विदेशी पूंजी की आमद पर निर्भरता बढ़ी। 1981-82 से 1984-85 तक के काल में निवल अदृश्य आयों से व्यापार के घाटे के लगभग आधे भाग का वित्तीयन किया जाता था लेकिन 1988-89 और 1989-90 में वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति में उनका योगदान मात्र 20 प्रतिशत रहा (तालिका 4.2 और 4.3 देखें)।

नवें दशक में भारत में रियायती सहायता की आमद में भी कमी आयी, खास तौर पर विश्व बैंक समूह से। हल्की शर्तों पर अंतर्राष्ट्रीय विकास संगठन से मिलने वाले उधारों में कमी आयी जबकि बाजारी शर्तों पर विश्व बैंक से मिलने वाले ऋण तेजी से बढ़े। फलस्वरूप भारत के सार्वजनिक ऋणों पर ब्याज की औसत दर 1980 के 2.4 प्रतिशत से बढ़कर 1982 में 6.1 प्रतिशत हो गयी। विश्व बैंक के ऋणों पर ली जाने वाली ब्याज दर चूंकि बाजारी दरों के साथ घटती-बढ़ती रहती है इस कारण भारत के सार्वजनिक ऋणों पर ब्याज की औसत दरें भी तब से घटती-बढ़ती रही

हैं (यह दर 1989 में 5.6 प्रतिशत थी)। ऋणों की परिपक्वता का औसत काल 1980 में 40.8 वर्ष था जो 1982 में 32.6 और 1989 में 24.4 वर्ष रह गया। इस प्रकार शर्तों के कड़ी होने से 1985 के बाद भारत के बहुपक्षीय ऋणों की ऋण-सेवा संबंधी देनदारियों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा (ये शर्तें 1981-82 में कड़ी हो चुकी थीं मगर ऋणों पर लागू अनुग्रह कालों के कारण ऋण-सेवा पर इसका प्रभाव आगे चलकर ही महसूस किया गया)। बहुपक्षीय ऋणों पर ऋण-सेवा की देनदारियां 1984 में 37.1 करोड़ डालर थीं। 1989 तक इनमें तिगुनी वृद्धि होकर ये 110.6 करोड़ डालर की हो चुकी थीं।[10]

भारी चालू लेखा घाटा खास तौर पर 1984-85 के बाद वित्तीयन पूंजी की भारी आमद से कम किया गया। यह आमद वाणिज्यिक ऋणों तथा अनिवासी भारतीयों की जमाराशियों के रूप में होती थी। 1980 में कुल देय विदेशी ऋण 18.7 अरब डालर का था। यह 1984 तक 26.5 अरब और 1989 तक 56.3 अरब डालर हो चुका था (स. रा. उ. की दृष्टि से यह 1980 में 10.8 प्रतिशत था जो बढ़कर 1989 तक 21.5 प्रतिशत हो चुका था)। वाणिज्यिक बैंकों और अनिवासियों समेत, निजी लेनदारों के ऋणों में और भी नाटकीय वृद्धि हुई। निजी लेनदारों को देय ऋण 1980 में 2.3 अरब डालर का था जो 1984 में 7.4 अरब और 1989 में 22.8 अरब डालर हो चुका था।[11] इस काल में विदेशी ऋण की वृद्धि के कारण ऋण-सेवा में भी भारी वृद्धि हुई। निर्यातित मालों और वस्तुओं के भाग रूप में ऋण सेवा जो 1980 में 9.1 प्रतिशत थी, बढ़कर 1984 में 18.1 प्रतिशत और 1989 में 26.3 प्रतिशत हो गयी।

पहले और तीसरे काल की भुगतान-संतुलन की समस्याओं की प्रकृति में एक प्रमुख अंतर वित्त के स्रोतों में घटित परिवर्तन है। पहले काल में लगभग पूरे घाटे का वित्तीयन रियायती सहायता की आमद से होता था जिससे ऋण-सेवा का बोझ हल्का रहता था। तीसरे काल में (डालर रूप में) लगभग पूरे वृद्धिक घाटे का वित्तीयन उन गैररियायती ऋणों से हुआ जिनके साथ बाजारी शर्तें जुड़ी थीं। यह उल्लेखनीय है कि (बहुपक्षीय और द्विपक्षीय स्रोतों से) भारत को जो रियायती कर्जे मिले, उनका कुल परिमाण 1989 में लगभग उतना ही था जितना 1982 में था (यह इन दोनों वर्षों में 1.5 अरब डालर था)।[12] इससे विकास-सहायता के बदलते परिवेश का संकेत मिलता है। इससे उस विचार के प्रति औद्योगिक देशों और बहुपक्षीय संस्थाओं की घटती प्रतिबद्धता का भी संकेत मिलता है जिसे कभी 'विकास में साझेदारी' कहा जाता था।[13]

एक और प्रमुख अंतर यह है कि पहले काल के विपरीत तीसरे काल में समष्टिगत आर्थिक नीति अत्यधिक प्रसारमूलक रही। केंद्र और राज्यों का संयुक्त राजकोषीय घाटा लगातार बढ़ा और 1989-90 में स. घ. उ. का 10.5 प्रतिशत हो

गया (यह पहले काल में 6 प्रतिशत से भी कम था)। (नकदी-आरक्षण अनुपात में की गयी पर्याप्त वृद्धि के बावजूद) मुद्रा-आपूर्ति की औसत संवृद्धि-दर 17 प्रतिशत रही। स. घ. उ. से घरेलू बचतों का अनुपात पूरे नवें दशक में 21 प्रतिशत के आसपास स्थिर बना रहा। मुद्रास्फीति की औसत दर 8.2 प्रतिशत रही।

लेकिन तीसरे काल में आर्थिक और खासकर औद्योगिक संवृद्धि में पर्याप्त तेजी आयी। इस काल में राष्ट्रीय आय की संवृद्धि-दर 5.6 प्रतिशत रही। खासकर 1984-85 के बाद औद्योगिक संवृद्धि में तेजी आयी। इन पांच वर्षों के दौरान, तीस वर्ष में पहली बार औद्योगिक संवृद्धि की औसत दर 8 प्रतिशत प्रतिवर्ष हुई।

भारत की वर्तमान समस्याओं से संबंधित बहस में एक मुद्दा यह उठता है कि नवें दशक का उद्योग और आयात संबंधी उदारीकरण किस सीमा तक वर्तमान संकट के लिए उत्तरदायी रहा है। इस विचार के समर्थकों का तर्क है कि नवें दशक के उत्तरार्ध में, रुपयों में व्यक्त करें तो, आयात में काफी तेजी से वृद्धि हुई है (तालिका 4.4 और 4.5देखें)।[14] इस विचार के अनुसार आयातों में यह तेजी आयात और उद्योग संबंधी उदारीकरण के कारण आयी। दूसरी ओर, इसके विपरीत विचार रखने वाले यह तर्क देते हैं कि भारत के घरेलू उत्पादन की आयात-सघनता वास्तव में बढ़ी नहीं है और 1985-90 के दौरान स. घ. उ. से आयातों का अनुपात 8 से 9 प्रतिशत के बीच घटता-बढ़ता रहा है।[15] आयातों के बढ़ने का कारण संवृद्धि की द्रुत गति है। रुपए के मूल्य में आयी कमी का समायोजन किया जाए तो आयातों की औसत संवृद्धि-दर (वि. आ. अ. में व्यक्त करें तो) 3.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। तेल को छोड़ अन्य आयातों की संवृद्धि-दर 7.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। इसका मुख्य कारण 1988-89 और 1989-90 में निर्यातोन्मुखी आयातों की तीव्रतर वृद्धि है—इस काल में निर्यातों में खूब वृद्धि हुई। विविध (या 'अन्य') आयात भी बढ़े मगर वे कुल आयातों का बहुत छोटा सा भाग थे (तालिका 4.6 देखें)।

ऊपर से देखें तो सांख्यिकीय साक्ष्य द्वितीयोक्त विचार की पुष्टि करते हैं। यह मानना भी गलत होगा कि यदि केवल नौकरशाहाना नियंत्रण और लाइसेंस की विस्तृत औपचारिकताएं जारी रहतीं तो आयातों की संवृद्धि-दर कम रही होती (यहां हम यह मान लेते हैं कि औद्योगिक उत्पादन की संवृद्धि-दर स्थिर रही है)। भारत में उन आयातों का बहुत कम उदारीकरण हुआ है जो घरेलू उद्योगों या उपभोक्ता वस्तुओं की प्रतियोगिता में आते हैं।[16] आयातों और उद्योगों संबंधी उदारीकरण जो भी हुआ वह प्रशासनिक और विवेकाधीन नियंत्रणों में कुछ कमी के रूप में हुआ। इसकी संभावना नहीं है कि आयात-आबंटनों की एक कठोरतर प्रणाली या कोटा-प्रणाली से आयातों की संवृद्धि में तब तक कोई कमी हो सकती थी जब तक कि ये आयात घरेलू उत्पादन की निविष्टि के रूप में आवश्यक थे।[17] फिर भी, यह तथ्य अपनी जगह ठीक है कि भारत अपने निर्यातों, अन्य प्राप्तियों और सामान्य

सहायता से जितने आयातों का बोझ उठा सकता था, उससे अधिक आयात हुए। आयातों की संवृद्धि का वित्तीयन वाणिज्यिक ऋणों या कड़ी शर्तों पर मिले अन्य ऋणों से किया जाता रहा। यह तभी तक जारी रह सकता था जब तक ऐसे ऋण खुलकर उपलब्ध थे। जैसे ही वित्त के ये स्रोत सूखे, अर्थव्यवस्था संकट का शिकार हो गयी। इसलिए इस संकट का मूल स्वयं आयात-उदारीकरण में निहित नहीं है। इसका मूल राजकोषीय नीति समेत समष्टिगत आर्थिक नीतियों के उस समग्र ढांचे में है जिसने घरेलू बाजार के लिए आंतरिक मांग का प्रसार तो होने दिया मगर निर्यातों में पर्याप्त वृद्धि नहीं की, खास तौर से ऐसी स्थिति में जबकि भारत के लिए सहायता का बाहरी वातावरण प्रतिकूल हो रहा था। जो भी उदारीकरण हुआ वह 'अंतर्मुखी' था, और घरेलू अर्थव्यवस्था की तीव्रतर संवृद्धि का वित्तीयन कड़ी शर्तों पर लिए गए विदेशी कर्जों से किया गया। यह एक भूल साबित हुई है।

कुछ अर्थों में भारत की वर्तमान स्थिति उस स्थिति से मिलती-जुलती है जो नवें दशक के आरंभ में कई भारी कर्जदार लेटिन अमरीकी देशों की थी।[18] यह संकट वाणिज्यिक स्रोतों से प्राप्य उस 'नयी दौलत' पर अर्थव्यवस्था की अतिशय निर्भरता के कारण आया है जो अब देने वाले नहीं लग रहे हैं। भारत की अर्थव्यवस्था के आकार को देखते हुए उसका कुल ऋण और ऋण-सेवा का बोझ अभी भी नवें दशक के आरंभ में कर्ज से बुरी तरह लदे लेटिन अमरीकी देशों के मुकाबले काफी कम है। लेकिन निर्यातों के भाग के रूप में ये अनुपात मिलते-जुलते हैं। इसके अलावा, भारत का व्यापार घाटा काफी अधिक है। दूसरी ओर मेक्सिको, ब्राजील और वेनेजुएला जैसे लेटिन अमरीकी देशों के पास कुछ-न-कुछ व्यापार अधिशेष था हालांकि ब्याज के भुगतान के कारण उनको चालू लेखा घाटे का सामना करना पड़ रहा था। भारत का राजकोषीय संकट भी लेटिन अमरीका के अनेक भारी कर्जदार देशों से मिलता-जुलता है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है : इस संकट को पहले से भांपने और उत्पन्न होने से रोकने के लिए कोई कार्यवाही क्यों नहीं की गयी ? उपलब्ध प्रकाशित दस्तावेजों से पता चलता है कि वास्तव में सरकार ने काफी पहले ही भुगतान-संतुलन के उभरते स्वरूप का तथा भारी राजकोषीय घाटों और वाणिज्यिक ऋणों के परिणामों का पूर्वाभास कर लिया था। 1983-84 में जबकि भुगतान-संतुलन की स्थिति काफी संतोषजनक थी, तभी से वित्त मंत्रालय के आर्थिक सर्वेक्षण इसकी आशंका व्यक्त कर रहे थे कि नवें दशक के उत्तरार्ध में भुगतान-संतुलन की कठिन स्थिति का सामना करना पड़ सकता है और यह कि उपभोग तथा कम उत्पादकता वाले घरेलू निवेशों के लिए वाणिज्यिक ऋणों पर निर्भरता घटाना आवश्यक है। मिसाल के लिए, 1983-84 के आर्थिक सर्वेक्षण में कहा गया था कि :

*भारत विदेशी मुद्रा की स्थिति के विवेकपूर्ण प्रबंध के कारण उस प्रकार की ऋण*

*समस्या से बचने में सफल रहा है जो अनेक दूसरे विकासशील देशों को भुगतनी पड़ी है... छठी योजना के दौरान लिए गए वाणिज्यिक ऋणों और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के धन से देश की ऋण-सेवा की स्थिति पर भार बढ़ा है और इसमें और बढ़ोतरी करना बुद्धिहीनता होगी (आर्थिक सर्वेक्षण, 1983-84, पृ. 75) ।*

1984-85 के आर्थिक सर्वेक्षण में भी स्थिति का ऐसा ही आकलन दृष्टव्य है। बाद के वर्षों के आर्थिक सर्वेक्षण भी राजकोषीय घाटों को कम करने, विदेशी वाणिज्यिक ऋणों पर रोक लगाने तथा व्यापार-संतुलन सुधारने की आवश्यकता पर जोर देते रहे।

इस काल के वित्तमंत्रियों के बजट भाषण भी भुगतान-संतुलन की उभरती समस्या के प्रति ऐसी ही चिंता से भरे पड़े हैं। मसलन 1985-86 का बजट प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन वित्तमंत्री ने कहा था :

*कुछ ऐसे कारक जो छठी योजना के दौरान हमारे पक्ष में क्रियाशील हैं, सातवीं योजना के दौरान उसी रूप मे क्रियाशील नहीं रहेंगे । तेल का उत्पादन जो पिछले 5 वर्षों में लगभग 180 लाख टन बढ़ा है, संभव है भविष्य में इसी दर से न बढ़ पाए । अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ऋण तथा विदेशी वाणिज्यिक ऋणों की चुकौती में भी भारी वृद्धि होगी...इसमें शायद ही कोई संदेह है कि अगर हमें भुगतान-संतुलन की एक संतोषजनक स्थिति का एक सहनीय ऋण-स्थिति से तालमेल बिठाना है तो हमें अपने आयातों के अधिकाधिक भाग का वित्तीयन निर्यात की कमाई से करना होगा ताकि हमारे भुगतान-संतुलन के घाटे में कमी आए (भारत सरकार 1990, पृ. 539) ।*

1987 के अंत तक भुगतान-संतुलन की स्थिति काफी कठिन हो चुकी थी। 1988-89 के बजट भाषण में तत्कालीन वित्तमंत्री ने कहा था कि :

*जैसीकि आशंका थी, अनेक कारणों से भुगतान-संतुलन की स्थिति तनावग्रस्त रही है । इनमें खाद्य तेलों और दलहनों का बढ़ा आयात, कच्चे तेल और पैट्रोलियम उत्पादों के आयात में वृद्धि, विदेशों में बढ़ती संरक्षणवादी प्रवृत्तियां और अधिकाधिक विकास-सहायता का प्रतिकूल वातावरण शामिल हैं...भारत ने ऋण-प्रबंध की एक विवेकपूर्ण नीति का अनुसरण किया है और ऐसी समस्याओं से बचता रहा है जिनका सामना अनेक दूसरे विकासशील देशों को करना पड़ा है । हम अपने भुगतान-संतुलन की दीर्घकालीन क्षमता सुनिश्चित करने के लिए प्रतिबद्ध हैं (भारत सरकार 1990, पृ. 584) ।*[19]

भुगतान-संतुलन की नीति का विकास उसके आयोजित विकास से भिन्न क्यों रहा है, इसके कारण राजनीतिक अर्थव्यवस्था में तथा 1983-84 के बाद भारत की चुनावी राजनीति की बढ़ती अनिश्चितता में निहित हैं। इस काल में आर्थिक नीतियों

के निर्धारण पर राजनीतिक कारकों के प्रभाव का विश्लेषण अन्य लोगों के अलावा रुबिन (1985), कोचनेक (1985), हैरिस (1987) और कोहली (1989) ने किया है। उनके विश्लेषण से संकेत मिलता है कि नवें दशक में आर्थिक नीतियों की दिशा पर भारी प्रभाव तीन कारकों का पड़ा है। पहला कारक 1983-84 के बाद उभरा लोकवाद (पापुलिज्म) है। भूमिहीनों, निर्धन ग्रामीणों, निर्धन नगरवासियों और गृहहीनों के नाम पर व्यय के अनेक नये कार्यक्रम शुरू किए गए। बढ़ते राजकोषीय घाटों और सार्वजनिक क्षेत्र के घटते अधिशेषों के बावजूद योजना निवेशों में भारी वृद्धि की गयी और देश के विभिन्न भागों में ढेरों नयी परियोजनाएं शुरू की गयीं। 1984 के अंत में हुए चुनावों तथा उसमें सत्तारूढ़ दल की भारी चुनावी विजय के बाद दो वर्षों तक ऐसा लगा कि सरकार की नीति लोकवाद से दूर हट रही है। लेकिन मई, 1987 में हरियाणा के चुनावों में हुई हार के बाद स्थिति एक बार फिर बदल गयी।

'वर्चस्वकारी' गठबंधन में घरेलू औद्योगिक प्रतिष्ठान की भूमिका एक और कारक है। इसकी अभिव्यक्ति ऐसे औद्योगिक और आयात उदारीकरण में हुई जिससे विदेशी प्रतियोगिता या प्रशुल्क संरक्षण में किसी प्रकार की कमी की आशंका से मुक्त रहते हुए सुरक्षित घरेलू बाजार के लिए घरेलू उत्पादन को बढ़ावा मिला। आयातों की सुलभता में उदारता लायी गयी लेकिन केवल उन्हीं वस्तुओं के लिए जिनका उत्पादन देश मे नहीं होता था। वास्तव में इस बात के सबूत मौजूद हैं कि देश में विनिर्मित वस्तुओं के लिए प्रभावी संरक्षण में और वृद्धि हुई (केलकर आदि, 1990)। पूंजीप्रधान निवेशों की विदेशी मुद्रा की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए विदेशी वाणिज्यिक ऋण लेने की खुली छूट दी गयी। सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में निर्यात-क्षमता से रहित और कम उत्पादकता वाले निवेशों के लिए वाणिज्यिक ऋण घरेलू बचतों के स्थानापन्न बन गए। अंत मे, मुख्यतः मध्यवर्ग ही उस औद्योगिक और उपभोक्ता उत्कर्ष से लाभान्वित हुए जो नवें दशक में आया। ये वर्ग जिनमें सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के शिक्षित पेशेवर भी शामिल हैं, सार्वजनिक नीतियों की दिशा के निर्धारण में प्रभावी भूमिका निभाते रहे। उदाहरण के लिए, उनके प्रभाव के कारण आयकर से छूट की सीमा में समय-समय पर पर्याप्त वृद्धियां की जाती रहीं जिससे प्रत्यक्ष करों का आधार और संकुचित हुआ। टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं, इलैक्ट्रानिक सामानों तथा वाहनों आदि पर उत्पादन शुल्क भी अपेक्षाकृत कम रखे गए जिससे अत्यंत आयात-सघन तथा उच्च प्रभावी संरक्षण पाने वाली नयी इकाइयों की स्थापना को बढ़ावा मिला।

1987 के बाद भुगतान-संतुलन की समस्याएं विकट लगने लगीं तो निर्यात बढ़ाने के प्रयास किए गए। इनमें कुछ हद तक कामयाबी भी मिली। लेकिन चालू लेखा घाटे और वित्तीयन की आवश्यकताओं में कमी नहीं लाई जा सकी

कारण कि आयात भी बढ़े, खासकर कच्चे तेल के। 1988 के अंत के बाद चुनावी सरोकारों (आम चुनाव तब प्रत्याशित थे) और राजनीतिक अनिश्चितताओं के कारण राजकोषीय और व्यापार घाटों को कम करने की कारगर कार्यवाहियों में और भी बाधा पड़ी।

## निर्यात उपलब्धियों और व्यापार-व्यवस्था की समीक्षा*

भारत की व्यापार-व्यवस्था और निर्यात की उपलब्धियां अनेक अध्ययनों का विषय रही हैं। सिंह (1964), नय्यर (1976) और वुल्फ (1982) ने क्रमशः छठे, सातवें और आठवें दशक की निर्यात और व्यापार नीतियों के विकास के विवरण दिए हैं। पंचमुखी (1978) ने सैद्धांतिक दृष्टिकोण से भारत के समग्र व्यापार और व्यापार नीति की पड़ताल की है। अहलूवालिया (1986) और रंगराजन (1990) ने आठवें दशक के मध्य से भारत के भुगतान-संतुलन के उतार-चढ़ाव की विवेचना की है। इनके अलावा, भगवती और देसाई (1970) की अग्रगामी कृति भी है जो भारत के औद्योगीकरण के स्वरूप पर उसकी व्यापार नीति के प्रभावों और नीतियों के वास्तविक क्रियान्वयन के बारे में रोचक अंतर्दृष्टियां प्रदान करती है। अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं और खासकर विश्व बैंक ने नीतिगत सुधारों के लिए अनुशंसाएं करने के उद्देश्य से अनेकों अध्ययन कराए हैं।[20] इन अध्ययनों के आधार पर भारत की व्यापार संबंधी उपलब्धि, प्रोत्साहनों की संरचना और नियंत्रण-व्यवस्था के उन पक्षों की संक्षिप्त प्रस्तुति संभव है जो भावी नीतिनिर्धारण के लिए प्रासंगिक हैं।

### (अ) निर्यात उपलब्धियां

भारत की दीर्घकालिक निर्यात उपलब्धि दूसरे विकासशील देशों की तुलना में और विश्व व्यापार की संवृद्धि की तुलना में खराब रही है। कुल विश्व-निर्यात में भारत का भाग 1965 में 0.98 प्रतिशत था जो 1988 तक मात्र 0.45 प्रतिशत रह गया। विनिर्माणों के विश्व-निर्यात में उसका भाग इसी काल में 0.65 प्रतिशत से घटकर 0.4 प्रतिशत रह गया (1965-80 के दौरान तेरह देशों की निर्यात उपलब्धियों के एक तुलनात्मक अध्ययन में अग्रवाल (1988) ने पाया कि पाकिस्तान को छोड़ दें तो भारत अकेला ऐसा देश था जिसका विकासशील देशों तक को किए जाने वाले विनिर्माण-निर्यातों में भाग कम हो गया)। तेल की कीमतों के कारण 1979 में लगे दूसरे झटके से फौरन बाद के काल में निर्यात उपलब्धि खास तौर पर निराशाजनक

* यह खंड मुख्यतः वर्णनात्मक है। जो पाठक भारत की निर्यात संबंधी उपलब्धियों और व्यापार-व्यवस्था से परिचित हैं, इस खंड को छोड़कर आगे बढ़ सकते हैं।

रही। 1979-80 से 1985-86 तक के काल में कुल निर्यातों में मात्र 0.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई जबकि विनिर्माण-निर्यातों की वृद्धि की दर लगभग 1.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही और प्राथमिक निर्यात वास्तव में घटकर 0.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष के आसपास रह गए।[21] 1985-86 के बाद से 1989-90 तक सरकार की अनेक नीतिगत पहलकदमियों के कारण निर्यातों में तेजी आयी। निर्यातों की समग्र संवृद्धि लगभग 15 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। इसमें विनिर्मित और प्राथमिक वस्तुओं के निर्यातों की संवृद्धि-दरें क्रमशः 20 और 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष थीं। 1979-80 से 1985-86 के बीच निर्यातों में आया ठहराव नवें दशक के अंत में आए भुगतान-संतुलन संबंधी गंभीर संकट के प्रमुख कारणों में एक है। इस काल में भारत को घरेलू तेल-उत्पादन में तीव्र वृद्धि का लाभ मिला। उसने अं. मु. कोष से 3.9 वि. आ. अ. की रकम भी उधार ली। वह मजदूरों द्वारा भेजी जाने वाली रकमों के रूप में मध्यपूर्व के उत्कर्ष से लाभान्वित हुआ। नवें दशक के उत्तरार्ध में तेल के उत्पादन और मजदूरों द्वारा भेजी जाने वाली रकमों में कोई अधिक वृद्धि नहीं हुई तथा अं. मु. कोष के ऋण की चुकौती भी करनी पड़ी। इस काल में निर्यात की तीव्रतर संवृद्धि इतनी अधिक न थी कि इससे पहले निर्यातों में जो ठहराव रहा था, उसकी भरपाई कर पाती।

कपड़ों के विश्वव्यापी निर्यातों में भारत के अंश में जो कमी आयी है, वह भारत की व्यापार नीति में नीतिजन्य निर्यात-विरोधी अभिनति का दिलचस्प उदाहरण है। विकासशील देशों में भारत ऐसा देश था जिसने सबसे पहले एक फलते-फूलते कपड़ा उद्योग का विकास कर लिया था। यह एक श्रमप्रधान उद्योग है तथा कपड़ा उद्योग में भारतीय मजदूरियों के कम होने के कारण भारत कपड़ा-निर्यात में स्वाभाविक रूप से एक तुलनात्मक लाभ की स्थिति में होना चाहिए था। हाल के एक अध्ययन में मिश्र (1991) ने भारतीय कपड़ों के निर्यात के विकास की विस्तृत छानबीन की है। बहुत आगे चलकर 1971-74 तक भी कपड़ों और परिधानों के विश्व बाजार में भारत का भाग चीन के बराबर (4.5 प्रतिशत) ही था। उस समय कोरिया का भाग 7.7 प्रतिशत और पाकिस्तान का भाग मात्र 1.7 प्रतिशत था। 1983-86 तक चीन का भाग तेजी से बढ़कर 14.6 प्रतिशत और कोरिया का 13.6 प्रतिशत तक पहुंच गया। पाकिस्तान, थाइलैंड और हांगकांग जैसे दूसरे विकासशील देशों के भाग भी काफी बढ़े। प्रमुख विकासशील निर्यातक देशों में भारत अकेला ऐसा देश था जिसका भाग वास्तव में इस काल में कम होकर 4.5 की जगह 3.8 प्रतिशत रह गया। 1986 में भारत के वस्त्र एवं परिधान निर्यात का मूल्य उस मूल्य का मात्र दो-तिहाई था जो बाजार में उसके 1971 वाले भाग को बनाए रखने के लिए अपेक्षित होता।[22]

भारत 1971 और 1986 के बीच विश्वव्यापी वस्त्र-निर्यात में अपने पहले ही

कम भाग को बनाए रखने में भी असफल रहा जिसका कारण अंशतः यह था कि उसने अपेक्षाकृत गतिरुद्ध वस्तुओं (मानवनिर्मित के बजाय सूती कपड़ों) का निर्यात किया और अपेक्षाकृत गतिरुद्ध बाजारों (गैर-कोटा बाजारों के बजाय कोटा बाजारों) को किया। यह सुविदित है कि भारत की नीति स्पष्ट रूप से मानवनिर्मित रेशों के प्रतियोगितासमर्थ विनिर्माण या निर्यातमूलक उत्पादन के लिए उनके आयात के विरुद्ध रही। विनिर्माण की ऊंची लागतें तथा विश्वसनीयता और गुणवत्ता जैसे मूल्येतर कारक भारत के निर्यात को बाधित करनेवाले दूसरे कारक थे। मिश्र का यह भी निष्कर्ष था कि वस्त्रों और परिधानों के निर्यात के सिलसिले में भारत की खराब कारगुजारी में मांगपक्षीय कारकों की अधिक-से-अधिक एक महत्त्वहीन भूमिका रही होगी। एशिया के दूसरे वस्त्रोत्पादकों के निर्यात की अभूतपूर्व संवृद्धि उनकी इस सायास नीति के कारण थी कि अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता की क्षमता को बढ़ाया जाए और कपडों और परिधानों के विश्व विनिर्माण में बदलते तुलनात्मक लाभ का फायदा उठाया जाए। भारत कपड़ों के निर्यात में अपनी लाभ की आरंभिक स्थिति को बनाए रखने में असफल रहा। इससे निर्यात की सफलता को बाधित करने में समष्टिगत आर्थिक नीतियों के वातावरण के अलावा 'व्यष्टिगत आर्थिक' नीतियों की भूमिका भी स्पष्ट होती है।

## (ब) निर्यात की लाभदायकता और संरक्षण

भारत में निर्यात के लिए प्रोत्साहनों की एक विस्तृत प्रणाली विद्यमान है। इसमें नकद मुआवजा सहायता (कैश कंपेंसेटरी सपोर्ट), आगतों पर देय सीमाशुल्क और उत्पादन शुल्क की वापसी, आयातों के लिए पुनःपूर्ति (रिप्लेनिशमेंट) लाइसेंस, निर्यातों के लाभ पर करों से छूट तथा उधार-सहायता शामिल हैं। लेकिन भारतीय औद्योगिक तथा निवेश निगम और विश्व बैंक द्वारा संकलित आंकड़ों से पता चलता है कि इन प्रोत्साहनों को ध्यान में रखा जाए तो भी निर्यात की लाभदायकता घरेलू लाभदायकता से काफी कम बैठती है। कुल लागत के आधार पर यह लाभदायकता ऋणात्मक थी यद्यपि परिवर्तनशील लागत के आधार पर धनात्मक थी (तालिका 4.7 देखें)। आंकड़ों से पता चलता है कि निर्यात में भारतीय फर्मों के रुचि लेने की तभी संभावना होती है जब घरेलू बिक्रियों के बाद कुछ फालतू माल बच जाए। उल्लेखनीय है कि विभिन्न उद्योगों के बीच निर्यात की लाभदायकता में अत्यधिक भिन्नताएं पायी जाती हैं। एक ही उद्योग के लिए अलग-अलग कालों में भी यह भिन्न-भिन्न रही हैं।

इस बात के पर्याप्त साक्ष्य हैं कि निर्यात बाजारों के मुकाबले घरेलू बाजारों की कहीं ज्यादा लाभदायकता का कारण उच्च नामिक (नामिनल) और साथ ही, उच्च प्रभावी संरक्षण है।[23] नामिक दृष्टि से भारत में संरक्षणमूलक प्रशुल्क औसतन लगभग 116 प्रतिशत है जिसके मानक विचलन का मान 37 प्रतिशत है।[24] वास्तविक 'संग्रह'

की दर विशिष्ट अपवादों के कारण कम है। ये अपवाद अंत्योपयोग (एंड-यूज़) और निर्यातमूलक उत्पादन के लिए आयातों की शुल्कमुक्ति पर निर्भर करते हैं (संग्रह की वास्तविक दरें कानूनी नामिक दरों की आधी से कम होती हैं)। प्रशुल्क की दरों की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि ये सामान्यतः उन मालों के लिए अधिकतम होती हैं जिन पर घरेलू उपलब्धता के कारण परिमाणात्मक नियंत्रण (क्वांटिटेटिव रेस्ट्रिक्शंस) लगे होते हैं और उन मालों के लिए न्यूनतम होती है जो मुक्त सामान्य लाइसेंस की सूची में हैं अतः जिनका खुलकर आयात किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि घरेलू बाजार के लिए किए जाने वाले उत्पादन को प्रशुल्क और परिमाणात्मक संरक्षण, दोनों का लाभ मिलता है। विश्व बैंक ने विभिन्न स्रोतों से संकलित करके प्रभावी संरक्षण के जो आंकड़े दिए हैं, उनसे भी पता चलता है कि (अंतर्राष्ट्रीय कीमतों मे वर्धित मूल्यों पर) प्रभावी संरक्षण के स्तर भी ऊंचे हैं और विभिन्न उद्योगों के बीच उनमें अत्यधिक अंतर हैं जिनका कोई स्पष्ट औचित्य नहीं है।[25] नामिक और प्रभावी संरक्षण की ऊंची दरों से यह सुनिश्चित हुआ है कि घरेलू कीमतें अंतर्राष्ट्रीय कीमतों से सामान्यतः काफी अधिक रहे। घरेलू बाजार में विक्रय के लिए किए गए निवेशों की लाभदायकता भी इस कारण अधिक रही है।

संरक्षण की अत्यधिक परिवर्तनशील और ऊंची दरों के आर्थिक प्रभावों का विश्लेषण, अन्य लोगों के अलावा, बर्ग्समैन (1970) ने दो दशक से भी अधिक पहले किया था। उनका यह प्रसिद्ध अध्ययन ब्राजील के औद्योगीकरण पर था। उन्होंने बताया कि किसी देश की उत्पादन-संरचना में परिवर्तन लाने के लिए मुक्त व्यापार से विचलन का पर्याप्त औचित्य अवश्य होता है लेकिन काफी लंबे समय तक अविवेकपूर्ण सरक्षण को जारी रखने से व्यापक पैमाने पर अदक्षता भी आ सकती है और 'शांत जीवन' के प्रति वरीयता उत्पन्न हो सकती है। जैसाकि बर्ग्समैन ने कहा था :

> *शांत जीवन के प्रभाव स्वयं में तब अधिक महत्त्वपूर्ण लगते हैं जब हम यह महसूस करते हैं कि आर्थिक विकास लंबे समय में घटित होनेवाली प्रक्रिया है। उत्पादन और खासकर प्रतिव्यक्ति उत्पादन,जो विकास का एक मूल तत्व है, की संवृद्धि का एक बड़ा भाग प्रौद्योगिक दक्षता में हुई वृद्धियों के कारण होता है। अगर संरक्षण बेहतर विधियों, बेहतर संगठन, उपकरणों के बेहतर रखरखाव तथा प्रौद्योगिक दक्षता के अन्य सभी तत्त्वों के प्रयासों में ढील पैदा करता है तो अर्थव्यवस्था स्थायी और बढ़ती लागत के कारण हानि उठाएगी (बर्ग्समैन 1970, पृ. 179)।*

लगता है कि भारत के साथ यही बात घटित हुई है।

औद्योगिक संरचना पर संरक्षण व्यवस्था का प्रभाव एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक

प्रश्न है। इसे हाल के वर्षों में भारतीय इलेक्ट्रानिकी उद्योग की कारगुजारी का विश्लेषण करके दिखाया जा सकता है। यह उन तथाकथित 'सूर्योदयी' उद्योगों में प्रमुखतम है जिनके बारे में माना जाता है कि भारत ने कुशल श्रमशक्ति की सहज उपलब्धता और ठोस प्रौद्योगिक आधार के कारण, सापेक्ष लाभ की स्थिति प्राप्त की है। 1981 से इस उद्योग की संवृद्धि को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक नीतियां अपनायी गयी हैं। इनमें क्षमता संबंधी सीमाओं को समाप्त करना, विदेशी फर्मों के लिए औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली को उदार बनाना, विदेशी सहयोग और इक्विटी निवेश की शर्तों को उदार बनाना, घटकों और कच्चे मालों के आयात की नीति को उदार बनाना तथा आगतों (इनपुट्स) पर लगनेवाले आयात शुल्कों में भारी छूट देना शामिल हैं। लेकिन जो तैयार इलेक्ट्रानिक चीजें यहां उत्पादित नहीं होतीं, उन्हें छोड़कर शेष इलेक्ट्रानिक उत्पादों पर प्रशुल्क में कोई कमी नहीं आयी है या बहुत कम आयी है और उनके आयात पर परिमाणात्मक नियंत्रण कम नहीं किए गए हैं। फलस्वरूप, प्रभावी संरक्षण की दरें बहुत ऊंची रही हैं। मिसाल के लिए, टेलीविजन सेटों के मामले में, जो भारत में सबसे तेजी से बढ़ रहे क्षेत्रों में से एक है, प्रभावी संरक्षण की दरें 150 प्रतिशत थीं (ये दरें श्वेत-श्याम और रंगीन टी.वी. सेटों के पूरे समूह के लिए हैं)।[26] इन नीतियों के कारण अनेक इकाइयों में विदेशी पूंजीनिवेश बढ़ा मगर प्रत्येक इकाई में उत्पादन का पैमाना अंतर्राष्ट्रीय मानकों को देखते हुए कम था। उत्पादन की लागतें भी अधिक बनी रहीं। मिसाल के लिए, दस प्रमुख इलेक्ट्रानिक उत्पादों को लें तो पाएंगे कि भारत के इनके कारखाना मूल्य 1986 में अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों की अपेक्षा 20 से 170 प्रतिशत तक अधिक थे, और अनेक उत्पाद घटिया दर्जे के भी थे।

इलेक्ट्रानिकी उद्योग के विकास पर इन नीतियों के प्रभावों का विश्लेषण जोसेफ (1989) ने किया है। 1980 के बाद के काल में उत्पादन में नाटकीय संवृद्धि हुई। अधिकतम संवृद्धि-दर उपभोक्ता इलेक्ट्रानिकी में हुई (39.6 प्रतिशत) और उसके बाद वृत्तिक (प्रोफेशनल) इलेक्ट्रानिकी (30.9 प्रतिशत) और घटकों (26 प्रतिशत) का स्थान आता है। उपभोक्ता इलेक्ट्रानिकी के क्षेत्र में अधिकांश वृद्धि टी.वी. सेटों के कारण आयी जिनका उत्पादन 66 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा। उत्पादन-वृद्धि का काफी भाग उन इकाइयों में हुआ जो विदेशी सहयोग से स्थापित की गयी थीं और ये काफी हद तक घटकों के आयात पर निर्भर थीं। आमतौर पर, इस उद्योग को सापेक्षतः श्रमप्रधान माना जाता है लेकिन इसमें घरेलू रोजगार की संवृद्धि उत्पादन की संवृद्धि से काफी कम रही। 1980 के बाद के काल में, इसमें रोजगार की संवृद्धि-दर मात्र 11 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही।

इलेक्ट्रानिकी उद्योग के आयात-निर्यात के विकासक्रम उल्लेखनीय हैं। जोसेफ की गणनाओं के अनुसार, कुल आयात 1975-80 में उत्पादन का 33 प्रतिशत था जो 1981-86 में बढ़कर 45 प्रतिशत हो गया। चूंकि आयातों में उत्पादन की अपेक्षा

**अधिक** तेजी से बढ़ोतरी हुई, इसलिए कुल मांग में आयातों का भाग तेजी से बढ़ा—आठवें दशक में यह भाग 25 प्रतिशत था जो नवें दशक में बढ़कर 35 प्रतिशत हो गया। यह उद्योग पूंजीगत मालों के आयात पर भी अत्यधिक निर्भर रहा। अनुमान है कि ये आयात कुल आवश्यकता के 85 प्रतिशत थे। यह एक दिलचस्प जानकारी है कि इसी काल में दक्षिण कोरिया में कुल मांग में आयातों का भाग 43 से घटकर लगभग 35 प्रतिशत रह गया और अधिकांश उत्पादन का निर्यात किया गया। दूसरी ओर, भारत में इलेक्ट्रानिक उद्योग का निर्यात कम ही रहा है और यह नवें दशक में कुल उत्पादन का मात्र 7 प्रतिशत था। फलस्वरूप, यह उद्योग विदेशी मुद्राभंडार पर एक भारी बोझ बनकर रह गया।

## (स) प्रोत्साहनों की संरचना

भारत में निर्यातकों को अनेक प्रोत्साहन दिए जाते हैं। यहां कम-से-कम सात प्रमुख प्रोत्साहन हैं जो एक से अधिक संस्थाओं द्वारा दिए जाते हैं। ये इस प्रकार हैं :

**नकद मुआवजा सहायता** उन छूटरहित अप्रत्यक्ष करों की भरपाई के लिए दी जाती है जो निर्यातक आगतों, माल भाड़ा की उच्चतर दरों और बाजार के विकास की लागतों के रूप में अदा करते हैं।* उनकी दरें अलग-अलग उत्पादों और प्रायः अलग-अलग निर्यातकों के लिए अलग-अलग रहती हैं।

**शुल्कवापसी की योजना** के द्वारा निर्यातकों को उन आगतों पर दिए गए सीमाशुल्क और उत्पादन शुल्क की भरपाई की जाती है जो निर्यात संवर्धन के लिए आवश्यक होते हैं।

**पुनः पूर्ति लाइसेंस** द्वारा निर्यातको को प्रतिबंधित कच्चे माल और घटक सुलभ कराए जाते हैं। ये लाइसेंस सामान्यतः 'वास्तविक उपभोगकर्ता' लाइसेंसों के अलावा होते हैं तथा इनको बाजार में खुले आम बेचा जा सकता है। सामान्यतः ये लाइसेंस प्रीमियम पर बिकते हैं और इनसे निर्यातकों को अपनी आयात संबंधी आवश्यकताएं पूरी करने में महत्त्वपूर्ण लचीलापन अनुभव होता है।

**अग्रिम लाइसेंस** बिना कोई सीमाशुल्क अदा किए निर्धारित प्रकार के कच्चे माल के आयातों की सुविधा देते हैं। ये लाइसेंस निर्यात के निश्चित आर्डरों और साखपत्रों या दोनों के होने पर ही दिए जाते हैं।

**मुक्त व्यापार क्षेत्रों और शतप्रतिशत 'निर्यातोन्मुखी इकाइयों'** की योजना के तहत बिना कोई सीमाशुल्क अदा किए कच्चे माल, घटकों और पूंजीगत माल के आयात की सुविधा प्रदान की जाती है। मुक्त व्यापार क्षेत्रों को कर संबंधी कुछ विशेष लाभ

---

* जुलाई 1991 में यह सहायता समाप्त कर दी गयी और पुनः पूर्ति लाइसेंसों की जगह आयात-निर्यात पत्रों (एक्ज़िम स्क्रिप्स) की व्यवस्था लागू की गयी।

भी दिए जाते हैं। जटिल औपचारिकताओं और आधारिक ढांचे संबंधी समस्याओं के कारण ये योजनाएं निर्यात बढाने में बहुत सफल नहीं रहीं हैं।

**घरेलू कच्चे मालों के लिए सहायिकी :** इस श्रेणी की सबसे महत्वपूर्ण योजना इस्पात के लिए अंतर्राष्ट्रीय मूल्य प्रतिपूर्ति योजना (इंटरनेशनल प्राइस रिइम्बर्समेंट स्कीम) है। इसमे इस्पात के अंतर्राष्ट्रीय मूल्य और घरेलू स्रोतों से प्राप्त इस्पात के मूल्य के अंतर की भरपाई की जाती है।

**लाभ-कर और उधार सहायिकियाँ** : निर्यातों से प्राप्त लाभ आयकर से मुक्त हैं। निर्यातकों को वरीयता के आधार पर उधार उपलब्ध कराया जाता है। उनको माल की रवानगी से पहले और बाद की ब्याज दरो पर भी भारी रियायतें दी जाती हैं।

निर्यात संबंधी प्रोत्साहनों के कारण निर्यातों की औसत लाभदायकता बढ़ी है। इन्होंने घरेलू बिक्री और निर्यात की लाभदायकता का अंतर कम किया है और निर्यात बढ़ाने में एक प्रमुख भूमिका निभाई है। लेकिन प्रोत्साहनों की संरचना की बहुलता और जटिलता के कारण इसके तीन ऐसे प्रभाव भी रहे हैं जिनके बारे में पहले सोचा नहीं गया था। इससे इनकी दक्षता कम हुई है। ये प्रभाव इस प्रकार हैं : (अ) प्रोत्साहन-संरचना का वास्तविक संयुक्त लाभ पारदर्शी नहीं होता और उसकी गणना करना भी कठिन है। इस प्रकार, सरकार के लिए इन प्रोत्साहनों की जो लागत बैठती है तथा विभिन्न उत्पादों के निर्यात से जो निवल विदेशी मुद्रा मिलती है, उनके बीच कोई स्पष्ट संबंध स्थापित करना संभव नहीं हो पाता : (ब) इन प्रोत्साहनों को पाने के लिए निर्यातकों को अच्छी-खासी लागत उठानी पड़ती है। इसका कारण भुगतान में देरी और व्याख्या संबंधी मतभेद हैं ; और (स) इस या उस प्रोत्साहन को बनाए रखने और बढ़ाने के लिए दबावसमूह उत्पन्न हो गए हैं। ऐसी स्थिति में 'प्रोत्साहन संबंधी सौदेबाजी' निर्यातों के प्रसार और नए बाजारों की तलाश की अपेक्षा निर्यात-लाभदायकता का अधिक महत्वपूर्ण निर्धारक बन गयी है।

## (द) प्रशासनिक जटिलता

आयात और निर्यात, दोनों के संदर्भ में हमारी व्यापार व्यवस्था प्रशासनिक नियम-कायदों और छूटों का एक भरा-पूरा जमघट है। प्रशुल्क और प्रोत्साहन आम तौर पर उत्पाद-विशिष्ट हैं तथा अंत्योपयोग और दूसरे कारकों के आधार पर मिलते-जुलते उत्पादों के लिए भी इनमें काफी भिन्नताएं हो सकती हैं। समय के साथ-साथ भी इनमें भारी परिवर्तन होते रहते हैं तथा प्रशासन इनको बिना किसी पूर्वसूचना के भी बदल देता है। आयात लाइसेंस नीति आयातों के नियमन का प्रमुख साधन है। इसी से यह निर्धारित होता हे कि किसी विशेष उत्पाद का आयात किया जा सकता है अथवा नहीं और अगर किया जा सकता है तो किस सीमा तक

और किन उद्देश्यों के लिए। आयात की अनेक 'सूचियां' हैं जैसे 'निषिद्ध' सूची', 'प्रतिबंधित' सूची, 'सीमित अनुमति' की सूची, 'मुक्त सामान्य लाइसेंस' और 'सरणिबद्ध' (कैनलाइज्ड) वस्तुओं की सूची।* भौतिक गैर-प्रशुल्क नियंत्रणों के अलावा आयातों पर सीमाशुल्क भी लगता है जिसमें उत्पादों के अनुसार अत्यधिक भिन्नता पायी जाती है।

निर्यातों और खासकर खेतिहर निर्यातों पर लाइसेंस संबंधी नियंत्रण भी होते हैं। लगभग 170 उत्पाद ऐसे हैं जिन पर निर्यात-नियंत्रण लगा हुआ है। निर्यात-नियत्रण की सीमा में आनेवाले उत्पाद आमतौर पर निम्नलिखित श्रेणियों मे से किसी एक में आते हैं : (अ) जिनका निर्यात पूरी तरह निषिद्ध है, (ब) जिनके निर्यातों की अनुमति 'गुण-दोष' के आधार पर दी जाती है, (स) जिनके निर्यात की अनुमति 'परिमाणात्मक सीमा' के अंदर दी जाती है, (द) जिनके निर्यात किसी राजकीय अभिकरण के द्वारा सरणिबद्ध किए जाते हैं, तथा (य) जिनके निर्यात की अनुमति कुछ निर्धारित शर्तों पर दी जाती है।

मुख्य आयात-निर्यात नियंत्रक और सीमाशुल्क अधिकारियों द्वारा प्रयुक्त नियंत्रण के अलावा आयातों और निर्यातों पर विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम के अंतर्गत विदेशी मुद्रा के प्रत्यावर्तन और धनप्रेषण संबंधी नियम-कायदे भी लागू होते है। उपर्युक्त अधिनियम का प्रवर्तन भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा किया जाता है। देसाई आदि (1990) ने हाल के एक अध्ययन में भारत के निर्यातों पर जटिल नियम-कायदों के प्रतिकूल प्रभावों का विस्तृत विश्लेषण किया है।

## व्यापार नीति के मुद्दे : साक्ष्यों की समीक्षा

भविष्य के विकल्पों पर विचार करने के लिए आवश्यक है कि व्यापार नीति के कुछ मुद्दो पर हुए सैद्धांतिक और अनुभवाश्रित अनुसधानो के परिणामों पर ध्यान दिया जाए। साहित्य मे इन मुद्दों की व्यापक विवेचना हुई है तथा ये भारत के लिए कुछ प्रासंगिक हैं। इनमें महत्वपूर्ण मुद्दे इस प्रकार हैं :

(अ) तथाकथित 'बहिर्मुखी' या 'निर्यातोन्मुखी' रणनीति आदि का व्यापार नीति संबंधी साहित्य में जिस अर्थ में प्रयोग हुआ है, उस अर्थ में क्या यह रणनीति भुगतान-संतुलन की क्षमता पाने के लिए अनिवार्य है ?

(ब) क्या इसके लिए 'आयातों का उदारीकरण' अनिवार्य है ?

(स) क्या व्यापार संबंधी सुधार धीरे-धीरे लाए जा सकते हैं या इसके लिए 'आघात चिकित्सा' (शाक ट्रीटमेंट) आवश्यक है ?

यहां इन मुद्दों की संक्षिप्त विवेचना की गयी है। इनसे संबद्ध साहित्य प्रचुर

---

* जुलाई 1991 में आयात लाइसेंस प्रणाली को पर्याप्त सरल बना दिया गया।

और आसानी से उपलब्ध है। इसलिए केवल उन्हीं पक्षों को उजागर किया गया है जो भारत की नीतियों के निर्धारण के लिए संगत लगते हैं।

## (अ) छठे दशक का निर्यात संबंधी निराशावाद

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद, निर्यात संबंधी निराशावाद मूर्धन्य विकास अर्थशास्त्रियों के चिंतन की विशेषता रहा है। इसका एक प्रमुख कारण **महान मंदी** का अनुभव था जब प्राथमिक उत्पादों के दाम एकदम गिरे थे और निजी पूंजी के प्रवाह पूरी तरह रुक गए थे। विदेशी बाजार पर निर्भर होने के कारण प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादक देश बुरी तरह प्रभावित हुए थे। छठे दशक के आरंभिक वर्षों में व्यापार के प्रसार की संभावना क्षीण नजर आती रही जब यूरोप अपनी अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण में लगा था और उसकी मुद्राएं अभी पूरी तरह परिवर्तनीय नहीं हुई थीं। तब यह विश्वास पनपा कि एक कम बहिर्मुखी रणनीति घरेलू विकास की एक आवश्यक उपपत्ति है और अनेक देशों ने घरेलू बाजार को अपना आर्थिक केंद्रबिंदु बनाया। इस दृष्टिकोण के पक्ष में प्रबलतम आर्थिक तर्क विकास-अर्थशास्त्र के दो अग्रजों राउल प्रेबिश और रेग्नर नुर्क्स ने रखे।

प्रेबिश (1950) की मान्यता थी कि विकासशील देशों के व्यापार की शर्तें समय के साथ-साथ उनके प्रतिकूल होती जाती हैं **चाहे विकासशील देशों की नीतियां कुछ भी हों**।[27] कहा जाता है कि विकसित देशों में उत्पादकता बढ़ने पर मजदूरियां बढ़ती हैं लेकिन विकासशील देशों में श्रम-आपूर्ति की अधिकता के कारण मजदूरियां अपरिवर्तित रहती हैं और इससे कीमतें घटती हैं। तदनुसार प्रेबिश का दावा था कि "बड़े औद्योगिक केंद्रों ने न केवल अपनी अर्थव्यवस्थाओं में प्रयुक्त तकनीकों के लाभ अपने लिए सुरक्षित रखे बल्कि वे इस अनुकूल स्थिति में भी हैं कि परिधि पर होनेवाली तकनीकी प्रगति से प्राप्त लाभ का भी एक भाग ले सकें" (1950, पृ. 14)।

एशिया और अफ्रीका के नवस्वाधीन देशों के तथा साथ ही, दक्षिणी अमरीका के देशों के विकास-नियोजकों पर भी प्रेबिश की प्रस्थापना का गहरा असर पड़ा। तब दक्षिण अमरीका के ये देश प्राथमिक उत्पादों के निर्यात पर बुरी तरह निर्भर थे। ऐसा प्रतीत होता था कि यह प्रस्थापना संवृद्धि के संतुलित स्वरूप में समन्वित निवेश के पक्ष में रोजेंस्टाइन-रोडन (1943) के तर्कों की पुष्टि करती है। उनके विचार में संतुलित और समन्वित संवृद्धि के लिए आयोजना के ऐसे ढांचे की आवश्यकता थी जो अनेक पूरक उद्योगों की सहकालिक स्थापना के द्वारा बाह्य मितव्ययिताओं को हासिल कर सके। ऐसी आयोजना के बिना निवेश के लिए कोई कारगर प्रेरणा संभव नहीं होती और न ही ग्रामीण अल्पविकास को दूर करने के लिए कोई बड़ा जोर लग पाता है।

व्यापार की शर्तों पर प्रेबिश की कृति के प्रकाशन के तुरंत बाद नुर्क्स ने

विकासशील देशों में पूंजी-निर्माण की समस्याओं पर अपनी कृति प्रकाशित की और उसके बाद व्यापार और विकास के कई पक्षों पर उनके प्रसिद्ध व्याख्यान प्रकाशित हुए (नुर्क्स 1953 और 1959)। नुर्क्स का विश्वास था कि नवोदित देशों के लिए अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अब आगे 'संवृद्धि के चालक' का काम नहीं कर सकता। नुर्क्स का निर्यात संबंधी निराशावाद इस धारणा से उपजा था कि विकासशील देशों के विकास की गति तेज होने पर विदेशी बाजार पर्याप्त बड़े पैमाने पर आयातों को नहीं खपा सकेंगे। इस स्थिति में, विकासशील देशों के लिए अपनी संवृद्धि के वास्ते आवश्यक होगा कि वे विभिन्न उद्योगों में निवेश का एक संतुलित स्वरूप अपनाएं। उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर-सहायक निवेशों का स्वरूप घरेलू बाजार का विस्तार करेगा और इस प्रकार औद्योगीकरण को सहारा देगा।[28]

विकासशील देशों के राजनीतिक और बौद्धिक नेताओं की राजनीतिक धारणाओं और विचारों ने इन प्रबल आर्थिक तर्कों को और भी पुष्ट किया। उनकी राय में औद्योगीकरण सामाजिक-राजनीतिक प्रगति की कुंजी था और औद्योगिक देशों तथा प्राथमिक उत्पादकों के बीच व्यापार का जो स्वरूप उस समय था, वह उद्योग के प्रसार में प्रमुख रूप से बाधक था। औद्योगीकरण का मतलब था विविधीकरण, अधिक मजदूरियां और विकास। सबसे बढ़कर इसका मतलब था आर्थिक स्वाधीनता और औपनिवेशिक शोषण से मुक्ति। यह भी व्यापक रूप से माना जाता था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद मुक्त व्यापार की ब्रिटिश वकालत पर टिका हुआ था जिसका मतलब अन्यत्र प्रतियोगी उत्पादन के विकास को रोकना या कुछ नहीं तो उसे कम करना था (किंडिलबर्गर 1980, पृ. 294 देखें)। इन व्यापारिक नीतियों को 'मुक्त व्यापार का साम्राज्यवाद' नाम दिया गया था।[29]

मायर ने उन राजनीतिक बाध्यताओं के प्रति कम अनुकूल दृष्टिकोण अपनाया है जो विकासशील देशों में अंतर्मुखी प्रवृत्ति को बढ़ावा दे रही थीं। उनका तर्क है कि :

> *सुरक्षित घरेलू बाजार का विकास नौकरशाहाना-एकाधिकारवादी राज्य, नगरीय विनिर्माताओं और प्रौद्योगिकी तथा पूंजी देनेवाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए समान रूप से आकर्षण का विषय था। संरक्षणवाद अधिकतम राजस्व प्रशुल्कों और निर्यात करों के द्वारा राजस्व और व्यय को अधिकतम बनानेवाली गतिविधियों का अनुगमन करने के राज्य के लक्ष्य को भी पूरा करता था (पृ. 156)।*[30]

पांचवे और छठे दशक के मुकाबले आज आर्थिक और राजनीतिक, दोनों ही संदर्भ बहुत बदल चुके हैं। यद्यपि व्यापारिक संबंध अत्यधिक राजनीतिक बने हुए हैं लेकिन व्यापार-वृद्धि के द्वारा औद्योगिक देशों के वर्चस्व का भय कम हो गया है। वास्तव में, घरेलू राजनीतिक लाबियों के दबाव के कारण संरक्षणवादी भावनाएं

आज विकसित देशों में पर्याप्त प्रबल हैं। प्रमुख आर्थिक शक्तियों के रूप में जापान और जर्मनी के उदय ने भी सिद्ध कर दिया है कि निर्यात की सफलता आर्थिक स्वाधीनता को कमजोर नहीं, मजबूत करती है। इसके विपरीत, विकासशील देशों में भुगतान-संतुलन के संकट बार-बार फूटते हैं और ऋण की समस्याएं बनी हुई हैं जिनके कारण ये देश औद्योगिक शक्तियों पर आज पहले से अधिक निर्भर हो गए हैं।

युद्धोत्तर काल का निर्यात संबंधी निराशावाद आर्थिक दृष्टि से औचित्यहीन सिद्ध हुआ है। छठे और सातवें दशक में विश्व व्यापार अंतर्राष्ट्रीय आयों की अपेक्षा तेजी से बढ़ा। विश्व व्यापार में कई विकासशील देशों के भाग नाटकीय रूप से बढ़े। युद्धोत्तर विश्व में विकासशील देशों के निर्यातों में विनिर्माणो का भाग भी नाटकीय रूप से बढ़ा है। 1955-78 के काल में विकासशील देशों के निर्यात तीन गुना बढ़े हैं; ये समग्र निर्यात के एक-चौथाई थे। आज विनिर्माणों का परिमाण अन्य गैर-ईंधन निर्यातों जैसे खाद्य, खनिजों और खेतिहर कच्चे मालों के बहुत करीब है। वास्तव में, विकासशील देशों के विनिर्माण-निर्यात विकसित देशों की आयों की अपेक्षा सातवें दशक में दो गुना और आठवें दशक में चार गुना बढ़े हैं (भगवती, 1988 ब, पृ. 30)।

निर्यात संबंधी निराशावाद को उचित ठहराने के लिए यकीनन कुछ नए तर्क भी दिए जा सकते हैं लेकिन यह स्पष्ट है कि अधिकांश अंतर्राष्ट्रीय साक्ष्य उन लोगों के पक्ष में हैं जो विशेषीकरण, प्रौद्योगिक नवोन्मेष (इन्नोवेशंस) तथा मांग और सापेक्ष लाभ के बदलते स्वरूपों के कारण व्यापार के प्रसार की पर्याप्त संभावनाएं देख रहे हैं।[31]

## (ब) संवृद्धि, व्यापार और 'बहिर्मुखी प्रवृत्ति'

संवृद्धि और व्यापार के संबंधों पर विपुल साहित्य उपलब्ध है।[32] अनेक अध्ययनो ने आयों की संवृद्धि और निर्यात के प्रसार के बीच एक सहसंबंध स्थापित करने के प्रयास किए हैं। इनमें माइकेली (1977), बलासा (1978) और फेडर (1983) के अध्ययन प्रमुख हैं। इनमें से अधिकांश अध्ययनों ने पाया है कि निर्यातों की संवृद्धि और आयों की संवृद्धि के बीच भारी सहसंबंध है हालांकि उनके विशिष्ट निष्कर्ष काल, प्रतिदर्शी देशों और चयनित चरों पर निर्भर हैं। लेकिन क्षेत्रपार समाश्रयण पर आधारित ये सांख्यिकीय अध्ययन निर्यात और संवृद्धि के कार्य-कारण संबंध पर प्रकाश नहीं डालते। यह तर्क आसानी से दिया जा सकता है कि निर्यात की ऊंची संवृद्धि-दरें संभवतः उत्पादन की ऊंची संवृद्धि-दरों से उत्पन्न हुई हों—जो संभव है कि स्वयं अधिक बचत-प्रयासों जैसे दूसरे बहिर्जात कारकों से उत्पन्न हुई हों—न कि इसका विपरीत घटित हुआ हो।

अनेक विस्तृत देशवार अध्ययन भी इसलिए किए गए हैं कि व्यापार-संवृद्धि पर विकास नीति के और संवृद्धि पर व्यापार नीति के प्रभावों को उजागर किया जा सके। ऐसे दो बहुदेशिक अध्ययन विशेष रोचक हैं। इनमें एक को सातवें दशक में आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन ने और दूसरे को आठवें दशक में राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान ब्यूरो ने प्रायोजित किया था।[33] इनकी बहुत सारी सामग्री का संबंध प्रोत्साहनों की संरचनाओं से है, खासकर इससे कि ये निर्यातों के मुकाबले घरेलू बाजार के लिए किए जाने वाले उत्पादन की लाभदायकता को और सामान्यतः ग्रामीण क्षेत्रों और विशेषकर कृषि के मुकाबले नगरीय विनिर्माणों में किए गए निवेशों की लाभदायकता को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। सामान्यतः इन अध्ययनों ने संरक्षण की एक अत्यंत विकृत संरचना की उपस्थिति की पुष्टि की है जिसके कारण निर्यात और उत्पादन, दोनों की संवृद्धि बाधित हुई है। इसके कारण दक्षता मे खासी कमी आयी है जबकि अधिक न्यायोचित या बेहतर आय-वितरण के रूप में किसी क्षतिपूर्ति का कोई साक्ष्य दिखायी नहीं देता। विरोधाभास यह है कि अंतर्मुखी रणनीति को इस आधार पर प्रोत्साहन दिया जाता था कि इससे औद्योगीकरण बढ़ेगा लेकिन कई देशों में इसकी ठीक उल्टी बात हुई है। वहां निर्यातविरोधी झुकाव के कारण बाजार संकुचित हुआ है, संरक्षण की लागतें आरोपित हुई हैं और उद्योगों की संवृद्धि-दर कम हुई है। यह रणनीति विकास के आरंभिक चरणों में अधिक सफल रही जब निर्यात मुख्यतः विनिर्माणेतर वस्तुओं का होता था।

देशवार अध्ययनों के इस निष्कर्ष पर कई लेखकों ने प्रश्नचिह्न लगाए हैं कि एक अधिक खुली और बहिर्मुखी रणनीति संवृद्धि के लिए अनिवार्यतः अधिक अनुकूल होती है। संवृद्धि की गति के निर्धारण मे 'आरंभिक दशाओं' के महत्त्व पर ब्रूटन (1990) ने जोर दिया है। इन दशाओं में संसाधन भंडारों की भिन्नताएं, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के अवसर, तकनीकी ज्ञान का भंडार, विद्यमान आर्थिक-सामाजिक संबंध आदि शामिल हैं। फ्रांसिस स्टेवर्ट ने (फ्रांजमैन और किंग, 1984) मे लिखा है कि "कुछ समाजों में प्रभावी नवोन्मेष क्यों होते है और कुछ मे क्यों नहीं हो पाते, इसकी मूलभूत और अंतर्निहित व्याख्या अक्सर विशेष नीतियो के बजाय इतिहास और रुचियों में निहित दिखाई देती है" (पृ. 88)। इसी प्रकार ऐतिहासिक साक्ष्यो की पड़ताल करने के बाद किंडिलबर्गर (1990) ने भी निष्कर्ष निकाला है कि "दीर्घावधि में, निर्यातों में राष्ट्रों के भाग तुलनात्मक लाभ की स्थिति के गहरे परिवर्तनों से निर्धारित होते हैं जिनका उद्भव संवृद्धि को अधिक तेज या धीमी करने वाली शक्तियों से होता है। इनकी दिशा बदलने में नीतियां शायद ही कुछ कर सकें" (पृ. 297)।

ब्रूटन, स्टेवर्ट और किंडिलबर्गर ने हमें ठीक ही याद दिलाया है कि नीतियों के परिणामों के निर्धारण में आरंभिक दशाओं, ऐतिहासिक कारकों और राजनीतिक वातावरण का अपना महत्त्व होता है। फिर भी, विभिन्न देशों में व्यापार नीतियां जिन

अलग-अलग तरीक़ों से संचालित हुई हैं, उनके अंतर्देशिक साक्ष्य और विस्तृत अध्ययनों से विकास के स्वरूप और गति के निर्धारण में प्रोत्साहनों की संरचना के महत्त्व का संकेत मिलता है। व्यापार नीति स्वयं में विकास को तेज या धीमी करने में समर्थ नहीं होती लेकिन अंतिम परिणामों को प्रभावित करने में उसका निश्चित ही महत्त्व होता है। जहां तक अंतर्मुखी रणनीति पर निर्यात-संवर्धन की रणनीति की श्रेष्ठता का प्रश्न है, बलासा (1990) का निष्कर्ष तर्कसंगत प्रतीत होता है। उनका तर्क है कि विकास की अंतर्मुखी रणनीति आरंभिक चरणों में द्रुत आर्थिक प्रसार का कारण बन सकती है लेकिन अंततः यह कठिनाइयों का शिकार हो जाती है जब घरेलू बाजारों की सीमाओं के कारण ऐसी नयी गतिविधियां आरंभ होती हैं जो देश के संसाधन भंडारों के अनुकूल नहीं होतीं और बड़े पैमाने की मितव्ययिताओं का लाभ उठाने की संभावनाओं को सीमित कर देती हैं। सतत अंतर्मुखी प्रवृत्ति के कारण उठने वाली एक और समस्या यह है कि विदेशी मुद्रा संबंधी कठिनाइयां खड़ी हो जाती हैं और आर्थिक संरचना घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय मांग के स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों की पर्याप्त अनुक्रिया करने मे सक्षम नहीं बन पाती। इससे चालू लेखा घाटा बढ़ सकता है और औद्योगीकरण के परवर्ती चरणों में वित्तीयन की कठिनाइयां उठ सकती हैं। भारतीय अनुभव तथा दूसरे कई विकासशील देशों के आर्थिक इतिहास से भी यह निष्कर्ष पुष्ट होता लगता है।[34]

अधिक बहिर्मुखी प्रवृत्ति संसाधनों के कारगर उपयोग में क्यों सहायक हो सकती है, इसके कई कारण हैं। भगवती (1988 ब) ने आबंटन की दक्षता के कारण व्यापार से प्राप्त लाभों पर जोर दिया है। निर्यातोन्मुख व्यापार रणनीति के कारण घरेलू संसाधनों के आबंटन संबंधी प्रोत्साहन ऐसी स्थिति के अधिकाधिक निकट पहुंचते हैं जो सामान्यतः दक्षतापूर्ण परिणाम देती है। उनका यह तर्क भी है कि इस प्रकार की रणनीति से उन गतिविधियों के आरंभ की संभावना कम होती है जिनको अर्थशास्त्री प्रत्यक्षतः अनुत्पादक लाभोन्मुख गतिविधियां कहते हैं। सुंदरम (1990) ने अधिकाधिक नवोन्मेष (इन्नोवेशन) और उत्पादों व नई तकनीकों के ज्ञान के आधार पर होने वाले व्यापार के गतिशील लाभों का हवाला दिया है।[35] व्यापार के गतिशील लाभों का एक विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण रूप उत्पादन के पैमाने के बढ़ने के साथ प्राप्त वर्धमान प्रतिफल है। निर्यात के बढ़ने पर उत्पादन का पैमाना बढ़ता है और उसके साथ उससे जुड़ी मितव्ययिताएं बढ़ती हैं। इसके कारण संसाधनों के उपयोग की दक्षता निरंतर बढ़ती जाती है।

आर्थिक संवृद्धि में निर्यात एक और प्रकार से योगदान दे सकते हैं–संवृद्धि की विदेशी मुद्रा संबंधी कठिनाइयों को कम करके। इसी तर्क का स्पष्टतम प्रतिपादन चेनरी, ब्रूनों और स्ट्राउट के 'दो अंतरालों' के सिद्धांत में किया गया है।[36] उनके मॉडलों में अगर विदेशी मुद्रा का अंतराल निवेश-बचत अंतराल से कम हो तो विदेशी मुद्रा

संबंधी कठिनाई को बाध्यकारी कहा जाता है। इस दशा में विदेशी सहायता की किसी विशेष मात्रा के लिए, विदेशी मुद्रा अंतराल द्वारा निर्धारित संवृद्धि-दर निवेश-बचत अंतराल द्वारा निर्धारित दर से कम होगी। निर्यातों में कोई भी वृद्धि, विदेशी मुद्रा के अंतराल को कम करके, देश को अपेक्षाकृत अधिक संवृद्धि-दर पाने में सहायक होगी। निर्यातोन्मुखी रणनीति के कुछ और भी लाभ गिनाए जाते हैं जिनमे कुल कारक उत्पादकता में वृद्धि, अल्पप्रयुक्त संसाधनों का अधिकाधिक उपयोग और मांग के प्रसार के कारण उत्पन्न अधिक निवेश की प्रेरणा शामिल है।

निर्यात संबंधी व्यापारिक रणनीति से आखिर ठीक-ठीक मतलब क्या है ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की व्यापारिक व्यवस्थाओं के वर्णन के लिए इस अभिव्यक्ति का प्रयोग किया है। भगवती (1988 ब) की परिभाषा संभवतः सबसे शुद्ध और परिमाणीकरण-योग्य परिभाषा है जिसका व्यापार के सिद्धांतशास्त्री आज अधिकाधिक इस्तेमाल कर रहे हैं। निर्यातसंवर्धी रणनीति (EP) की परिभाषा के अनुसार यह देश के निर्यातों के लिए अपनायी गयी ऐसी प्रभावी विनिमय दर ($EER_x$) है जो आयातों की प्रभावी विनिमय दर ($EER_m$) के बराबर हो। आयात प्रतिस्थापन (IS) या अंतर्मुखी रणनीति वह है जिसमें $EER_x$, $EER_m$ से कम होता है। $EER_x$ में सभी निर्यात सहायताएं, कर-साख, विशेष उधार और निर्यातोन्मुखी उत्पादन में प्रयुक्त आगतों पर दी जाने वाली हरेक अन्य सहायिकी शामिल होती है। इसी प्रकार, $EER_m$ में आयात शुल्क, परिमाणात्मक नियंत्रणों से उत्पन्न आयात प्रीमियम और अन्य प्रकार आ जाते हैं। उसके अनुसार निर्यात संबंधी रणनीति को अपनाने का मतलब एक 'तटस्थ' रणनीति को अपनाना और निर्यातविरोधी रुझानों को समाप्त करना है। ($EER_x$ जब $EER_m$ से अधिक होता है तब निर्यातों के **पक्ष** में एक झुकाव पाया जाता है जिसे भगवती ने 'अतिनिर्यातसंवर्धी रणनीति' कहा है)।[37] भगवती ने इस बात पर जोर दिया है कि किसी निर्यातसंवर्धी या अतिनिर्यातसंवर्धी रणनीति को अपनाने का मतलब यह नहीं है कि चुनिंदा क्षेत्रों में आयात-प्रतिस्थापन का सहारा न लिया जाए। न ही निर्यातसंवर्धी रणनीति का मतलब सरकार के हस्तक्षेप का अभाव है। कोरिया और ताइवान जैसी कई अर्थव्यवस्थाएं निर्यातसंवर्धी रणनीति (E P) के काफी नजदीक पहुंची हैं हालांकि उनमें पर्याप्त सरकारी हस्तक्षेप है। निर्यातसंवर्धी रणनीति और 'निर्यातजन्य' संवृद्धि की परंपरागत धारणा का अंतर स्पष्ट तौर पर समझना होगा। 'निर्यातजन्य संवृद्धि' में देश के निर्यात ऐसा आय-विस्तार करते हैं जो व्यापार के प्रत्यक्ष लाभों तथा अप्रत्यक्ष हितकारी प्रभावों से उत्पन्न होता है। भगवती और दूसरे विद्वानों के अनुसार, प्रोत्साहन से जुड़ी निर्यातसंवर्धी (EP) रणनीति का ऐसी हितकारी बाह्य चीजों से कुछ भी लेना-देना नहीं होता।

## (स) आयातों का उदारीकरण

व्यापार नीति संबंधी हाल के अनुसधानों ने संवृद्धि पर प्रोत्साहन-संरचना के प्रभावों के बारे में हमारी समझ को बढ़ाया है। उसने आयातों के उदारीकरण तथा 'खुलेपन' के पक्ष में एक प्रथमदृष्ट्या तर्क भी प्रस्तुत किया है। अपने भुगतान-संतुलन और संरचनागत समायोजन कार्यक्रमों की रूपरेखा निर्धारित करते समय विश्व बैंक तथा अं. मु. कोष ने बड़े उत्साह के साथ इस दृष्टिकोण को अपनाया है, खासकर 1979 के दूसरे तेल संकट के बाद। उस समय कई विकासशील देशों ने स्वयं को गंभीर बाहरी कठिनाइयों से घिरा पाया और उन्होने सहायता के लिए अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के सामने गुहार लगायी। नवें दशक के मध्य तक एक नया रूढ़िवाद जन्म ले चुका था और विकास की एक 'अच्छी' या 'जोरदार' रणनीति आयातों के उदारीकरण और बहिर्मुखी रुझान का पर्याय बन गयी। दृष्टिकोण के इस परिवर्तन को एक ठोस रूप विश्व बैंक ने 1987 की **वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट** में दिया जब उसने व्यापार-प्रोत्साहनों की अंतर्मुखी या बहिर्मुखी प्रवृत्ति की कोटि के आधार पर विभिन्न देशों को वर्गीकृत किया।[38] इसका स्पष्ट निहितार्थ यह था कि प्रथम श्रेणी के देशों का प्रबंध बेहतर था और उनकी आर्थिक कारगुजारी बेहतर रही थी। नवें दशक में विकासशील देशों के लिए विश्व बैंक और अं. मु. कोष के सहायता कार्यक्रमों में आयात-उदारीकरण को प्रायः अच्छी कारगुजारी का सूचक माना गया है।

लेकिन जल्द ही यह स्पष्ट हो गया कि विश्व बैंक और अं. मु. कोष के अनेक कार्यक्रम कठिनाइयों के शिकार हो गए हैं और वास्तविक परिणाम आशाओं से कम रहे हैं। कुछ कार्यक्रम सफल रहे मगर काफी कार्यक्रमों का अंत इस प्रकार का रहा कि संबद्ध देश पहले से बेहतर नहीं बने (बल्कि पहले से बदतर हो गए)। विषय का और आगे अध्ययन करने के लिए कोष-बैंक के स्थिरीकरण और संरचनागत समायोजन कार्यक्रमों के बारे में देशवार अनुभवों के अनेक अध्ययन आरंभ किए गए। इनमें कुछ अध्ययन स्वयं इन संस्थाओं द्वारा कराए गए। हाल के अध्ययनों में विकास अर्थशास्त्र अनुसंधान के विश्व संस्थान,[39] संवृद्धिमुखी समायोजन कार्यक्रमों पर कोष-बैंक की परिचर्चा (1987), शेपिरो और टेलर (1990), हेलाइनर (1990), रोडरिक (1990) तथा सैक्स (1989) के अध्ययन उल्लेखनीय हैं। भुगतान-संतुलन के स्थिरीकरण के संदर्भ में उदारीकरण कार्यक्रमों की प्रभावोत्पादकता पर इन अध्ययनों ने कई प्रश्न खड़े किए हैं।

वर्तमान दशक में भारत के व्यापार-नीति संबंधी विकल्पों पर विचार करते समय एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या भुगतान-संतुलन की क्षमता अधिक 'खुलेपन' और आयात-उदारीकरण की नीति पर निर्भर होती है। खुलेपन और आयात-उदारीकरण का अर्थ क्या है, इसकी सटीक परिभाषा साहित्य

में या कोष-बैंक द्वारा नहीं की गयी है।[40] लेकिन सामान्यतः व्यापार उदारीकरण का अर्थ यह लिया जाता है कि परिमाणात्मक नियत्रणों की जगह कम और एकसमान प्रशुल्क लगाए जाएं और भुगतान-संतुलन में स्थिरता लाने के लिए (परिमाणात्मक नियंत्रणो या प्रशुल्कों के बजाय) विनिमय दर का उपयोग किया जाए।[41] स. घ. उ. से आयातों और विदेशी व्यापार के अनुपात में वृद्धि आयात उदारीकरण की नीति का एक संभावित परिणाम है। संक्षेप में, आयात उदारीकरण का प्रमुख लाभ यह बताया जाता है कि इससे संरक्षण की प्रभावी दरों मे जो कमी आती है वह देश के तुलनात्मक लाभ के अनुरूप निवेश के अधिक दक्ष आबंटन को प्रेरित करती है। निर्यात और पूंजीसघनताविरोधी रुझानों को कम करने के अलावा यह भी संभव है कि आयात उदारीकरण कृषिविरोधी रुझान को दूर करे। परिमाणात्मक नियंत्रणो की समाप्ति उन लागतों को भी समाप्त करती है जो हस्तक्षेपवादी नौकरशाहियों तथा अपव्ययकारी अधिशेषजीविता से जुड़ी होती हैं।

भारत में आयात उदारीकरण की आवश्यकता पर विचार करने से पहले यह उपयोगी होगा कि प्रासंगिक अनुभवाश्रित साक्ष्यों पर दृष्टिपात कर लिया जाए। जापान, कोरिया और ताइवान के दृष्टांत यहां विशेष ऐतिहासिक रुचि के हैं, कारण कि ये देश बहिर्मुखी प्रवृत्ति और दक्ष औद्योगीकरण के प्रमुख सफल दृष्टांत हैं। पूर्वी एशिया के देशों के ऐतिहासिक अनुभवों की छानबीन करने के बाद सैक्स (1990) ने निष्कर्ष निकाला है कि कठोर आयात-नियत्रणों और पूंजी बाजार के कठोर नियमन के होते भी कोई नियंत्रणवादी सरकार निर्यात संवर्धन की नीति का पालन कर सकती है। सैक्स के अनुसार इन सभी देशों मे युद्धोत्तर काल का आरंभ समष्टिगत आर्थिक अस्थायित्व के एक आरंभिक चरण के साथ हुआ जिसके बाद स्थिरीकरण और आयात-प्रतिस्थापक संवृद्धि के कुछ वर्ष रहे और अंततः सातवें दशक के आरंभ में निर्यातजन्य संवृद्धि का रुझान विकसित हुआ। इनमें से किसी देश ने प्रशुल्क को या घरेलू उद्योगों को प्राप्त कोटा-सरक्षण को एकाएक नहीं हटाया और न ही ऐसा कुछ किया जो कम और एकसमान प्रशुल्क अपनाने से मिलता-जुलता हो। जैसाकि कि कोरिया और ताइवान के बारे में लिन ने (सैक्स में, 1987, पृ. 19 पर) कहा है :

> *वास्तव में, सातवें दशक के अंत तक अर्थात् निर्यात-संवर्धन के प्रयासों की सफलता के काफी बाद तक भी इनमें से किसी भी देश में आयातों को व्यवस्थित रूप से नियंत्रणमुक्त नहीं किया गया। इस बीच, व्यापार के उदारीकरण के उपाय मुख्यतः ये थे कि निर्यात प्रक्रमण (प्रोसेसिंग) में उपयोग के लिए मध्यवर्ती उत्पादों के शुल्कमुक्त आयातों की छूट दी गयी और आयात प्रतिस्थापक वस्तुओं के घरेलू उत्पादकों से अपेक्षा की जाती रही कि वे संभावित आयातों के मुकाबले अपने दाम कम करें ताकि उनके उत्पाद आयात-नियंत्रण के अधीन रहें।*

जापान, कोरिया और ताइवान के अनुभवों के आधार पर सैक्स ने सुझाव दिया है कि निर्यात संवर्धन की नीतियों और व्यापार-उदारीकरण के बीच एक व्यावहारिक अंतर करना आवश्यक है। 1962 से 1984 के बीच दूसरे विकासशील देशों के अनुभवों से भी यह नहीं सिद्ध होता कि द्रुत संवृद्धि वाले देशों के स. घ. उ. में निर्यातों का भाग औसतन अधिक रहा है या तेजी से बढ़ता रहा है (मैकार्थी, टेलर और तलाती, 1987)। विकास अर्थशास्त्र अनुसंधान के विश्व संस्थान ने विभिन्न प्रकार के स्थिरीकरण के अनुभवों पर जो अध्ययन कराया है (टेलर 1988) उससे भी संकेत मिलता है कि उदारीकरण की नीतियां आमतौर पर सफल नहीं रही हैं। वास्तव में टेलर का तर्क तो यह है कि "अगर दक्षिणी कोन, मेक्सिको और जायरे जैसे अफ्रीकी देशों के हाल के इतिहास को हम पथप्रदर्शक मानें तो उदारीकरण के अंतर्गत आर्थिक पतन का जोखिम क्षुद्र नहीं लगता" (पृ. 168)। कुछ कम आत्यंतिक दृष्टांतों में टेलर ने पाया कि भुगतान-संतुलन की कठिनाई वाले कालों में व्यापार-उदारीकरण के कारण व्यापार घाटा कम नहीं हुआ बल्कि बढ़ा है। तंजानिया, घाना, श्रीलंका और अर्जेंटीना में यही हुआ जहां व्यापार संबंधी बाधाओं के हटाए जाने के बाद नए आयातों का एक काफी बड़ा भाग पूंजीगत मालों या मध्यवर्ती उत्पादों के बजाय उपभोक्ता वस्तुओं के रूप में रहा। आयात की गतिविधि से संबद्ध सेवा क्षेत्रों को छोड़कर घरेलू उत्पादक गतिविधियों में कोई वृद्धि नहीं हुई।

रोडरिक (1990) ने भी आयात-उदारीकरण कार्यक्रम अपनाने के दौरान सचेत रहने की सलाह दी है। उनका निष्कर्ष था कि आर्थिक उदारीकरण से प्राप्त दक्षता आमतौर पर उदारीकरण से की गयी महती आशाओं से कम रही है। अपने नकारात्मक प्रभावों के कारण यह नीति 'अनौचित्यपूर्ण' हो गयी और तज्जनित अनिश्चितता के कारण समस्या और गंभीर हो गयी। उनके शब्दों में :

> *विशेष रूप से उदारीकरण के उन उपायों से बचना आवश्यक है जिनसे आयों के पुनर्वितरण में एक भारी धमाका हो सकता है मगर जो संसाधनों के उपयोग की दक्षता की दृष्टि से फुसफुसाकर रह जाते हैं। इन नीतियों से उत्पन्न राजनीतिक विरोध की तुलना में आर्थिक लाभों का अनुपात वास्तव में बहुत कम हो सकता है जिसके कारण सुधारों को जारी रखना कठिन हो सकता है (रोडरिक 1990, पृ. 939)।*

उदारीकरण के समर्थकों और आलोचकों के परस्पर-विरोधी दावों की समीक्षा करने के बाद शैपिरो और टेलर (1990) ने निष्कर्ष निकाला है कि "अभी तक सर्वोत्तम सारसंक्षेप यह है कि यह बहस अभी अधूरी है: किसी खुली या बंद व्यापार नीति व्यवस्था के लिए कोई प्रागनुभविक ( ए प्रियोरी) पक्ष कभी पूरी तरह स्थापित नहीं किया जा सकता" (पृ. 870)। यह एक उपयुक्त निष्कर्ष है और अधिक से अधिक यही कहा भी जा सकता है।[42]

स्पष्ट है कि ऐसा कोई जादुई समाधान या नीतियां नहीं हैं जो संदर्भ से कटकर सफल हो सकें। जैसाकि आगे कहा गया है, भारतीय संदर्भ में आयात व्यवस्था के युक्तीकरण की और प्रोत्साहन-संरचना को सरल बनाने की भारी आवश्यकता है। आवश्यकता निर्यातो को अधिक लाभकारी बनाने तथा प्रशासनिक मनमानेपन के दायरे को कम करने की भी है। फिर भी, आज भुगतान-संतुलन की जो कठिनाइयां हैं तथा इस समय जो वित्तीय विकल्प उपलब्ध हैं, उनको देखते हुए अगले कुछ वर्षों तक आयात-उदारीकरण की रणनीति व्यावहारिक नहीं लगती। यह एक व्यावहारिक दृष्टिकोण है जो उदारीकरण के तर्कों की सैद्धांतिक या किसी अन्य वैधता पर निर्भर नहीं है। यह जरूर है कि आयात-उदारीकरण के कारण, अल्पकालीन परिप्रेक्ष्य में भी, स. घ. उ. मे आयातों का भाग बढ़ेगा। यह अपने-आपमें अवांछनीय नहीं है मगर इसके लिए अगले कुछ वर्षों में विदेशी पूंजी की भारी आमद आवश्यक होगी और यह पूंजी **वाजिब शर्तों** पर उपलब्ध नहीं है। पिछले अनुभवों से पता चलता है कि आयात-उदारीकरण के वित्तीयन का भार उठाने के लिए अगर हम और व्यापारिक ऋण लें, भले ही वह पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो, तो भी वह हमारे विदेशी ऋणों के दुर्वह स्तर को देखते हुए अवांछनीय होगा। इस स्थिति में, आयात-उदारीकरण अनावश्यक जोखिमों से भरा होगा और अनेक दूसरे विकासशील देशों के कड़वे अनुभवों की पुनरावृत्ति ही करेगा। आयात-नियंत्रणों की समाप्ति के साथ-साथ प्रशुल्कों में की गयी कमी उल्टा परिणाम देने वाली सिद्ध हो सकती है यदि नयी प्रोत्साहन-संरचना के प्रति अनुक्रिया असममित हो (कूपर 1971)। जिन क्षेत्रों को नए नकारात्मक संकेत प्राप्त होंगे, वे इनको उन क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक तेजी से और कारगर ढंग से अपनाएंगे जो सकारात्मक संकेतो की अनुक्रिया में प्रसार कर रहे होंगे। फलस्वरूप अगर हानियां तात्कालिक हों और लाभ भविष्य के गर्भ में हों तो तगड़े राजनीतिक विरोध का सामना करना पड़ेगा और इस नीति को जारी रखना असंभव हो जाएगा।

भारत की वर्तमान स्थिति में उपयुक्त यही होगा कि हम फिशलो (1985) ने जिसे 'निर्यातजन्य' संवृद्धि से भिन्न 'निर्यातसमर्थ' संवृद्धि कहा है, उसे प्राप्त करने के प्रयास करें। जो नीतियां निर्यात को अधिक लाभकारी बनाती हैं, वे उन नीतियों से अधिक साध्य सिद्ध हो सकती हैं जो विकास की एक नयी रणनीति के रूप में आयात-उदारीकरण की मांग करती हैं। हमें सरलीकरण, प्रशासनिक सुधार और अभेदात्मक आयात-नियंत्रणों का एक साहसिक कार्यक्रम भी अपनाने की आवश्यकता है। अल्पकालीन परिप्रेक्ष्य में आयातों का अनुपात बढ़ाए बिना प्रशासनिक सुधार करने आवश्यक हैं। नीतिगत सुधारों का उद्देश्य यह होना चाहिए कि निकट भविष्य में भुगतान-संतुलन के संकट को दूर करने के प्रयास किए जाएं और संकट प्रबंधन वर्तमान दशक में नीतिनिर्धारकों के लिए उतना सरदर्द न रहे।

## (द) 'आघात चिकित्सा'

व्यापार रणनीति में और स्थिरीकरण कार्यक्रम के अन्य अंगों में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों को साहित्य मे उन कार्यक्रमों से विपरीत माना गया है जिनका उद्देश्य नीतियों में 'एकबारगी' बड़े परिवर्तन लाना या अर्थव्यवस्था की 'आघात चिकित्सा' (शाक ट्रीटमेंट) करना होता है। इस समय कोष-बैंक का स्वीकृत सिद्धांत यही लगता है। कहा जाता है कि सुधारपुंज (रिफार्म पैकेज) की विश्वसनीयता और उसे जारी रखने की क्षमता, आरभ में ही की गयी कड़ी कार्रवाई के कारण बढ़ जाती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, छोटे-छोटे और क्रमिक परिवर्तन आसानी से व्यर्थ जा सकते हैं और सरकार की प्रतिबद्धता के अभाव के सूचक हो सकते हैं। हेलाइनर (1990, पृ. 893) के अनुसार, इस दृष्टिकोण का समर्थन विश्व बैंक के अर्थशास्त्रियों के उन अप्रकाशित शोधों से होता है जो विकासशील देशों में उदारीकरण के 39 प्रयासों पर किए गए हैं। एक भिन्न संदर्भ को लें तो लेटिन अमरीका में नवें दशक के मुद्रास्फीति-विरोधी 'अपारंपरिक' (हेटेरोडाक्स) स्थिरीकरण कार्यक्रमों में आघात चिकित्सा का प्रमुखता के साथ उल्लेख हुआ है (उदाहरण के लिए, अर्जेंटीना, ब्राजील और पेरू के कार्यक्रमों में)।[43]

आघात चिकित्सा के दृष्टिकोण को (जिसे कभी-कभी 'भारी धमाके' का या 'आमूल' दृष्टिकोण भी कहा जाता है) कुछ जोरदार ढंग से कोष-बैंक और उनकी सहयोगी संस्थाओं द्वारा हाल में सोवियत संघ के एक अध्ययन में प्रस्तुत किया गया है।[44] इस अध्ययन में स्वीकार किया गया है कि स्थिरीकरण के एक जोरदार समष्टिगत आर्थिक कार्यक्रम से और साथ ही, कीमतों पर से नियंत्रण हटाने के उपायों तथा ऐसे दूसरे उपायों से कीमत-स्तर अपेक्षाकृत तेजी से बढ़ सकता है। इससे भारी बेरोजगारी भी पैदा हो सकती है और उत्पादन में तेजी से गिरावट आ सकती है। लेकिन तर्क यह दिया गया है कि नीतिगत सुधारों और स्थिरीकरण का अपेक्षाकृत रूढ़िवादी कार्यक्रम भी असफल हो जाएगा क्योंकि उससे वे लाभ प्राप्त नहीं होंगे जो

> *उत्पादकता की उस असाधारण वृद्धि से उत्पन्न होते हैं जो बाजार-निर्धारित कीमतों और उद्यमशीलता संबंधी पहलकदमियों के कारण सामने आते हैं। उत्पादन फिर भी गिरेगा और मुद्रास्फीति में भारी वृद्धि फिर भी होगी। जब निराशाजनक परिणामों के कारण बाजारी अर्थव्यवस्था के उद्देश्य बदनाम हो जाते हैं और काफी पहले के चरण मे ही नीतिगत दिशाहीनता उत्पन्न हो जाती है तथा रणनीति असफल हो जाती है तब आत्मविश्वास का अभाव आत्मपोषक भी बन सकता है (अं. मु. कोष आदि 1990, पृ. 18)।*

ऐसा माना जाता है कि चेकोस्लोवाकिया और हंगरी मे पहले की सुधार की प्रक्रियाएं इस कारण असफल हुईं कि वे जानबूझकर धीमी गति से और सावधानी के साथ चलाई जाती रहीं जिसके कारण संवृद्धि का संवेग उत्पन्न नहीं हो सका।

विभिन्न क्षेत्रों मे किए गए सुधार परस्पर-निर्भर थे और कुछ क्षेत्रों के सुधार साथ-ही-साथ अन्य क्षेत्रों के सुधारो के बिना सफल नहीं हो सकते थे।

दूसरी ओर, सुधार के क्रमिक दृष्टिकोण के पक्ष में कहा जा सकता है कि संक्रमण काल की समस्याओं और जोखिम से अधिक आसानी से निपटा जा सकता है बशर्ते कि लक्ष्य और नीतिगत परिवर्तन मर्यादित लेकिन दृढ़ और यथार्थवादी हों। क्रमिकता के दृष्टिकोण के पक्ष में कुछ तर्क लिटिल, शितोव्स्की और स्काट (1970) ने रखे हैं।[45] उदाहरण के लिए, उत्पादन की संरचना के अधिक निर्यातोन्मुखी बनने में समय लगेगा और इसके लिए सहायक आधारिक संरचना, नए कौशलों के अर्जन और बाजारो के विकास की आवश्यकता होगी। इसी तरह, सापेक्षिक कीमतों में बड़े परिवर्तनों के कारण आय के वितरण में तीव्र और भारी परिवर्तन होंगे। इन परिवर्तनो का वे लोग विरोध करेंगे जिन्हें इनसे हानि पहुंचेगी। इसके कारण सामाजिक असंतोष और मुद्रास्फीति पैदा हो सकती है जिसमें परिवर्तनो की दिशा पलटेगी, उत्पादन गिरेगा तथा व्यापारिक विश्वास और निवेश में गिरावट आएगी। पूर्वी यूरोप की आर्थिक प्रणाली में हाल में हुए परिवर्तनों की लागत पर विचार करते हुए गैलब्रेथ (1991) ने कहा है कि "जिस चीज को आघात चिकित्सा कहा जाता है, वह केवल उन्हीं लोगो को राजनीतिक रूप से स्वीकार्य होती है जो उससे प्रभावित नहीं होते। फलस्वरूप राजनीति और वैयक्तिक अभिव्यक्ति में बड़े स्वागत-योग्य उदारीकरण के साथ कष्टदायक आर्थिक वंचना और दुख भी जुड़े रह हैं" (पृ. 45)।

सुधार के आमूल प्रस्तावों की दो बुनियादी मान्यताएं हैं। पहली तो यह कि उत्पादन में आरंभिक कमी और कीमतो में वृद्धि के बाद स्थिति में ठहराव आ जाएगा और आमूल सुधारो के कारण उत्पादकता और दक्षता मे तात्कालिक वृद्धि होगी। दूसरे, यह कहा जाता है कि समाज निष्क्रिय होता है तथा रोजगार और वास्तविक आयो मे भारी कमी को भी लोग राजनीतिक-सामाजिक विरोध के बिना स्वीकार कर लेंगे। इन दोनो मान्यताओ के वैध होने की संभावना नहीं है। उत्पादकता की सभावित वृद्धि साकार होगी या नही, यह अन्य बातों के अलावा उत्पादन, विपणन और वितरण की व्यवस्थाओ समेत अर्थव्यवस्था की सस्थागत सरचना पर निर्भर होगी। विद्यमान संस्थागत सरचना को आदेशों के द्वारा फौरन नहीं बदला जा सकता।[46] इसी तरह सुधारपुंज को जारी रखने की क्षमता उसकी राजनीतिक-सामाजिक स्वीकार्यता पर अनिवार्यतः निर्भर करती है। वितरण सबंधी प्रश्न का तथा विभिन्न क्षेत्रों और समूहों के द्वारा समायोजन के भार के सापेक्ष वहन का भी सावधानी के साथ निरूपण आवश्यक है। यह भी संभव है कि व्यापार-रणनीति के आमूल परिवर्तन का भार उठाने के लिए बड़ी मात्रा में विदेशी सहायता आवश्यक हो। अगर, ऐसी सहायता न मिले तो सुधार-प्रक्रिया की साख जाती रहेगी और उसे रोक देना होगा।

क्रमिकतावादी या आमूल दृष्टिकोण के बीच चुनाव करने की संभवतः कोई

तार्किक विधि उपलब्ध नहीं है। सही दृष्टिकोण का निर्धारण केवल देश में विद्यमान परिस्थितियों के प्रकाश मे ही किया जा सकता है। अगर विभिन्न असंतुलन व्यापक हों और अर्से से चले आ रहे हों तो छोटे और मर्यादित परिवर्तनों की सफलता की संभावना अधिक नहीं होगी। तब आमूल सुधारपुंज की राजनीतिक स्वीकार्यता की संभावना अधिक होगी। दूसरे शब्दों में, आरंभिक असंतुलन जितना अधिक होगा, आमूल दृष्टिकोण की संभावित स्वीकार्यता भी उतनी ही अधिक होगी।[47] किसी कार्यक्रम की 'अंतर्वस्तु' और उसके क्रियान्वयन की 'गति' में अंतर करना भी आवश्यक है। जहां तक क्रियान्वयन की गति का प्रश्न है, उस कार्यक्रम की गुणवत्ता अधिक होती है जिसे तीव्रता के साथ लागू किया जा सके। इससे निश्चितता में वृद्धि होती है और इसकी संभावना भी नहीं रहती कि कार्यक्रम के अगले चरणों में वह जड़ता या निहित स्वार्थों के कारण गतिरुद्ध हो जाएगी। जहां तक कार्यक्रम की 'अंतर्वस्तु' का प्रश्न है, यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि कार्यक्रम को जारी रखना संभव हो और वह पर्याप्त वित्त के द्वारा पोषित हो।

अंतर्राष्ट्रीय मानदंडों के अनुसार, भारत की भुगतान-संतुलन की स्थिति में जितना सुधार आवश्यक है वह बहुत ही साधारण है–सामान्य परिस्थितियों में स. घ. उ. के 1 से 1.5 प्रतिशत तक।[48] उत्पादन की संरचना को (घरेलू बाजार के बजाय) अधिक निर्यातोन्मुखी बनाने का कोई कार्यक्रम चले और साथ में अन्य प्रशासनिक और नीतिगत सुधार किए जाएं तो यह लक्ष्य किसी असह्य सामाजिक-राजनीतिक लागत के बिना दो या तीन वर्षों में पूरा किया जा सकता है।

## भुगतान-संतुलन की नीति : भविष्य की दिशाएं

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं ने निवेश और आय-संवृद्धि के योजनागत प्रक्षेपणों में निहित चालू लेखा घाटों का हमेशा ही अल्पाकलन किया है (तालिका 4.8 देखें)। पांचवी योजना को छोड़कर हमेशा ही आयात संबंधी आवश्यकताओं का अल्पाकलन किया गया है।[49] इसका आंशिक कारण अनुरक्षण आयातों की संवृद्धि का अल्पाकलन हो सकता है। आयात-प्रतिस्थापन की संभावना के बारे में अतिशय आशावादी मान्यताएं एक और आंशिक कारण हो सकती हैं। जिन उद्योगों के बारे में आशा थी कि वे आयातों का प्रतिस्थापन करेंगे, वास्तव में, उन्होंने खुद ही कच्चे मालों और घटकों की अपनी आयात आवश्यकताओं में पर्याप्त वृद्धि कर दी (जैसे, पेट्रोरसायन, स्वचालित वाहन तथा इलेक्ट्रानिक उद्योग)। चालू लेखा घाटों के इस अल्पाकलन का परिणाम यह हुआ है कि भुगतान-संतुलन के संकट बार-बार आए हैं, परियोजनाओं के लिए धन की कमी हुई है, उनमें विलंब हुआ है और लागतें बढ़ी हैं। भविष्य के लिए एक महत्वपूर्ण आवश्यकता यह है कि योजनाओं और उनके वित्तीयन के भुगतान-संतुलन संबंधी निहितार्थों का अधिक यथार्थवादी

आकलन किया जाए।

आज यह बात काफी हद तक स्थापित हो चुकी है कि हाल के वर्षों में बढ़ते राजकोषीय घाटे भुगतान-संतुलन की समस्याओं के प्रमुख कारण रहे हैं। निकट भविष्य की एक प्रमुख प्राथमिकता यह है कि सरकार के राजकोषीय घाटे को घटाया जाए। साथ ही, आयात-निर्यात नीति तथा वाणिज्यिक ऋणों को लेने की नीति में भी कुछ संशोधन आवश्यक हैं।

## (अ) राजकोषीय घाटे

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सातवें और नवें दशक के भुगतान-संतुलन संबंधी संकटों का एक प्रमुख अंतर देश के समष्टिगत आर्थिक वातावरण को, और खासकर बिगड़ती राजकोषीय स्थिति को, लेकर है। नवें दशक के बढ़ते राजकोषीय घाटे ने भुगतान-संतुलन की स्थिति पर दो तरह से प्रतिकूल प्रभाव डाला है। पहला, राजस्व घाटे तथा उनके वित्तीयन के लिए सरकार द्वारा बैंकिग क्षेत्र और भारतीय रिजर्व बैंक का अधिकाधिक सहारा लेना अर्थव्यवस्था में समग्र मुद्रा आपूर्ति के प्रसार का प्रमुख कारण है।[50] समग्र मांग की वृद्धि के कारण मुद्रास्फीति बढ़ी है और आयातों की समग्र मांग भी बढी है। दूसरे, घरेलू संसाधनों की तंगी के कारण सार्वजनिक क्षेत्र के निवेशों के लिए विदेशी वाणिज्यिक ऋणों पर निर्भरता बढ़ी है। 1985-86 से 1989-90 तक अनुमोदित विदेशी वाणिज्यिक ऋणों का (मूल्यानुसार) लगभग 90 प्रतिशत भाग सार्वजनिक क्षेत्र की आवश्यकताएं पूरी करने के काम आया है।[51] यद्यपि विदेशी ऋणों का अधिकांश भाग सार्वजनिक क्षेत्र (और सरकार) की देनदारी है लेकिन निर्यातों में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान बहुत ही कम है।[52] अतीत के भारी विदेशी वाणिज्यिक ऋणों ने ऋण-सेवा के बोझ को बढ़ाया है और भुगतान-सतुलन के प्रबंधन को और अधिक कठिन बना दिया है।

इस बात के पर्याप्त साक्ष्य हैं कि भारी राजकोषीय घाटो और भारत जैसी समष्टिगत आर्थिक अस्थिरता वाले देशों में राजकोषीय घाटों मे कमी लाना भुगतान-संतुलन की क्षमता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। मिसाल के लिए अर्जेंटीना, ब्राजील, पेरू और जांबिया जैसे देशों में राजकोषीय घाटों पर नियंत्रण पाने की असफलता के ही कारण भुगतान-संतुलन का प्रबंधन लगभग असंभव कार्य हो गया (सैक्स 1987, रोडरिक 1990)। दूसरी ओर जापान, कोरिया और ताइवान जैसे देशों का उदाहरण दिखाता है कि निर्यात बाजारों में सफलता के लिए राजकोषीय स्थिरता बनाए रखने का केंद्रीय महत्व है। इन देशों में सरकारी बजट संतुलन के बहुत करीब रखे जाते रहे और अक्सर बजट के चालू लेखे में बड़ी-बड़ी राशियां अधिशेष के रूप में बनी रहीं, मुद्रास्फीति की दर नीची रही और उसमें काफी स्थिरता बनी रही। अन्य बातों के अलावा, इसका मतलब यह था कि निर्यात की लाभदायकता

पर आंच आए बिना नामिक विनिमय दरें पर्याप्त स्थिर रखी जा सकीं। सरकारी बचतों के कारण तेजी से पूंजी का संचय हुआ और सरकार को भी पर्याप्त संसाधन एवं अर्थव्यवस्था के विशेष क्षेत्रों को बढ़ावा देने के लिए अर्थसहायताएं और दूसरे राजकोषीय प्रोत्साहनों का इस्तेमाल करने की स्वतंत्रता रही।[53]

मौद्रिक क्षेत्र, राजकोषीय लेखे ओर भुगतान-संतुलन का औपचारिक संबंध पोलक (1957) द्वारा सुप्रसिद्ध 'पोलक मॉडल' में स्थापित किया गया था। इसी मॉडल ने स्थिरीकरण के पैकेजों के निर्धारण में अतंर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के दृष्टिकोण को निर्धारित किया था।[54] अपने सरलतम रूप में, पोलक मॉडल में यह कहा गया है कि, मुक्त अर्थव्यवस्था की कुछ मान्यताओं के अंतर्गत भंडारों और घरेलू उधार का योग उत्पादन के मूल्य को और गति से भाग देने पर प्राप्य भागफल के बराबर होना चाहिए। इसलिए अगर उधार राष्ट्रीय आय के एक फलन के रूप में मानी गयी मौद्रिक मांग के मूल्य से अधिक हो जाए तो अंतर्राष्ट्रीय भंडारों में कमी आ जाएगी। इसमें एक बुनियादी मान्यता यह है कि मुद्रा की मांग घरेलू उधार में घटित परिवर्तनों से प्रभावी दृष्टि से स्वतंत्र है और यह कि (वास्तविक आय जैसे) चरों की एक सीमित संख्या से इसका एक पूर्वकथनीय एवं स्थिर संबंध है। यह मॉडल आगे यह भी कहता है कि अगर अवशोषण (अर्थात् घरेलू व्यय का मूल्य) नामिक आय से अधिक हो तो मुद्रा की नयी मांग की अपेक्षा (पूंजी की आमद निकालकर) उधार का सृजन अधिक होगा। इससे चालू लेखे में घाटा पैदा होगा। राजकोषीय घाटे और चालू लेखा घाटे का परस्पर संबंध यह मानकर स्थापित किया गया है कि सरकार किसी भी घाटे का वित्तीयन निवल विदेशी ऋणों में वृद्धि करके या फिर घरेलू बैंकिग प्रणालियों से निवल उधार की वृद्धि के द्वारा करेगी (दूसरे शब्दों में, निजी गैर-बैंक क्षेत्रों को सरकारी ऋणों का कोई भी विक्रय नहीं होगा)।

यह एक सरल मॉडल है और ऐसी मौद्रिक मान्यताओं पर आधारित है जो किसी यथार्थ स्थिति के लिए पूरी तरह वैध नहीं हैं। फिर भी, यह भुगतान-संतुलन के सरोकारों और घरेलू राजकोषीय सरोकारों के समन्वय के लिए एक उपयोगी वैश्लेषिक ढांचा प्रदान करता है। साथ ही, यह भी स्वीकार करना होगा कि, अल्पकालीन परिप्रेक्ष्य में, उत्पादन, रोजगार और आय-वितरण के लिए राजकोषीय घाटे कम करने की नीतियों के महत्वपूर्ण निहितार्थ होते हैं। इसलिए राजकोषीय नीतियों का सावधानी के साथ निरूपण और संतुलन करना होता है ताकि समाज के विभिन्न वर्गों पर समायोजन का बोझ न्यायोचित मात्रा में पड़े और उत्पादन पर उसका प्रतिकूल प्रभाव न्यूनतम रहे।

दिसंबर, 1990 में संसद में दिए गए एक वक्तव्य में वित्तमंत्री ने अपना यह इरादा घोषित किया कि वे केंद्र सरकार के राजकोषीय घाटे को जो 1990-91 में स.घ.उ. का 8.3 प्रतिशत था, घटाकर 1991-92 में 6 5 प्रतिशत करना चाहते हैं।[55]

('राजकोषीय घाटा' राजस्व प्राप्तियों और पूंजीगत व्यय समेत तमाम व्यय के अंतर का माप है। इसे बजट घाटे के अन्य मापों से भिन्न करना आवश्यक है।) आशा थी कि राजकोषीय घाटे में इस कमी से तीन वर्षों के भीतर एक सुसाध्य व्यवस्था की ओर बढ़ने की शुरूआत होगी। सरकार का इरादा यह था कि राजकोषीय घाटा घटकर स. घ. उ. का 3 से 4 प्रतिशत रह जाए जो, मोटे तौर पर, आठवें दशक के मध्य के घाटे के बराबर था। भारत के विभिन्न समष्टिगत आर्थिक चरों पर राजकोषीय घाटे में कमी (एक वर्ष में लगभग 1.8 प्रतिशत) करने के प्रभाव को जांचने के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था के एक समष्टिस्तरीय आर्थिक मॉडल का अनुरूपण (साइम्यूलेशन) किया गया ; इस मॉडल का विकास राष्ट्रीय व्यावहारिक अर्थशास्त्र अनुसंधान परिषद ने किया था।[56] पाया गया कि 1991-92 में सामान्य मानसून की मान्यता के आधार पर 1.8 प्रतिशत बिंदु तक के राजकोषीय संकुचन के कारण उत्पादन की संवृद्धि-दर में 0.6 से 1 प्रतिशत की कमी संभव थी और संभावना थी कि मुद्रास्फीति की दर 2 से 3 प्रतिशत कम हो जाएगी। इस अनुरूपण से पता चला कि राजकोषीय समायोजन का भुगतान-संतुलन पर अनुकूल प्रभाव तो पड़ेगा मगर उस सीमा तक नहीं जिस सीमा तक घाटे में हुई नामिक कमी का पड़ता। राजकोषीय समायोजन चालू लेखा मे सुधार लाएगा जो (रुपयों में) राजकोषीय घाटे में हुई कमी का (रुपयों में) मात्र एक-तिहाई था।[57] इस प्रकार, राजकोषीय संकुचन चालू लेखा घाटे को कम करने में सहायक तो होगा मगर भुगतान-सतुलन को सुधारने के लिए पर्याप्त नहीं होगा। इसलिए व्यापार नीति संबंधी अतिरिक्त उपाय भी करने आवश्यक होंगे।[58]

इस अनुरूपण से यह भी पता चला कि राजकोषीय घाटे में कमी होने पर आरक्षित मुद्रा की वृद्धि में कमी होने के कारण मुद्रा की आपूर्ति में 3.5 प्रतिशत बिंदु तक की कमी आएगी। लेकिन सरकारी व्यय में कमी होने पर निर्धन जनता की वास्तविक आयो में भी कमी सभव थी और यह कमी अन्य वर्गों की आय में होनेवाली कमी से अधिक होगी। इससे अर्थव्यवस्था के असंगठित क्षेत्रों में कुछ बेरोजगारी भी पैदा होगी। रोजगार-सुरक्षा तथा श्रम कानूनों द्वारा प्रदत्त संरक्षण के कारण संगठित क्षेत्र अपेक्षाकृत कम प्रभावित होंगे। इसलिए निर्धन और कमजोर वर्गों पर राजकोषीय संकुचन के प्रभावों का तीखापन कम करने के लिए क्षतिपूर्ति के कार्यक्रमों और नीतियों को लागू करने की आवश्यकता होगी। इस प्रकार, राजकोषीय सुधारों का कार्यक्रम उत्पादक रोजगार के कार्यक्रमों के साथ ही साथ चलना चाहिए। खाद्य के समुचित वितरण और दामों को स्थिर रखने के उपायों का खास महत्व है।

वर्तमान दशक में भुगतान-संतुलन की क्षमता पाने के लिए भारत को राजस्व घाटा कम करने को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी। लेकिन राजकोषीय समायोजन के पूरक के रूप में अन्य उपाय भी आवश्यक हैं।

## (ब) आयात-निर्यात नीति

पीछे के खंडों में व्यापार रणनीति के कुछ बुनियादी मुद्दों जैसे बहिर्मुखी प्रवृत्ति, आयातों के उदारीकरण, आघात चिकित्सा बनाम क्रमिकवाद की विवेचना की गयी है। वर्तमान आयात-निर्यात नीति के व्यापार ढांचे में ऐसे अनेक परिवर्तन किए जा सकते हैं जो संतुलन को घरेलू बाजार के लिए होनेवाले उत्पादन के बजाय निर्यातों की दिशा में मोड़ें। जैसाकि दियाज़ अलेजांद्रो (1975) ने बताया है, निर्यातों की तीव्र वृद्धि के लिए विद्यमान व्यापार व्यवस्था को पूरी तरह तहसनहस करना आवश्यक नहीं है। दक्षिण कोरिया समेत कई दृष्टांतों से पता चलता है कि अनेक प्रशासनिक नियमों को पलटकर उनका उपयोग नए निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि उनका उपयोग पहले नयी आयात-प्रतिस्थापक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने के लिए किया गया था। ऐसे समय में जबकि बाहरी पूंजी की उपलब्धता अत्यधिक सीमित हो, सबसे कम जोखिम वाली रणनीति यह है कि पहले निर्यात बढ़ाए जाएं और फिर आयातों के उदारीकरण की बात सोची जाए। पर्याप्त निर्यात-संवृद्धि या बाहरी पूंजी की भरपूर आपूर्ति के बिना आयातों का उदारीकरण करना आत्मघाती हो सकता है।

आयात-निर्यात नीति में सुधार के लिए पहला कार्य यह है कि लाभदायकता का संतुलन निर्यातकों के पक्ष मे मुड़े। इस लक्ष्य को पाने के लिए आवश्यक नहीं कि आयात-प्रतिस्थापक उद्योग को नष्ट कर दिया जाए, केवल उसका केंद्रबिंदु निर्यात-बाजार बना दिया जाए। पिछले 40वर्षो में विकसित अनेक आयात-प्रतिस्थापक उद्योग प्रतियोगिता में इतने अक्षम और प्रौद्योगिक रूप से इतने पिछड़े नहीं हैं जितने आयात-प्रतिस्थापन के कट्टर आलोचक बताते हैं। निर्यातों को पर्याप्त पुरस्कृत करने वाली एक समुचित प्रोत्साहन-सरचना हो तो विद्यमान उत्पादन-क्षमता का उपयोग निर्यात-वृद्धि के लिए किया जा सकता है। घरेलू विक्रय की अपेक्षा निर्यातों की अपेक्षाकृत कम लाभदायकता का प्रमुख कारण प्रशुल्क और प्रशुल्केतर सरंक्षण की वह ऊंची दर है जो आयात-प्रतिस्थापक उद्योगों को प्राप्य है। इससे निर्यातों के दामों के मुकाबले घरेलू दाम काफी बढ़ जाते हैं। बजट की वर्तमान तंगी और विद्यमान अंतर्राष्ट्रीय 'गाट्ट' नियमों के कारण निर्यातों को सहायिकी देने की अपेक्षा आयातों पर कर लगाना आसान है। चूंकि बजट की यह तंगी आगे भी जारी रहने की आशंका है, इसलिए निर्यातों की लाभदायकता बढ़ाने का सर्वोतम उपाय यह है कि निर्यात-सहायताओं का अतिरिक्त बोझ आयातकों पर डाला जाए। यह कार्य आयातों के वित्तीयन के लिए पुनःपूर्ति लाइसेंस प्रणाली का अधिक जोरदार इस्तेमाल करके किया जा सकता है।

आयात-नियंत्रण की वर्तमान प्रणाली में घरेलू उत्पादकों को कच्चे मालों और घटकों के आयात की छूट है, चाहे वे अपना माल देश में बेचें या विदेशों में। इनको

सामान्यतः 'वास्तविक उपयोगकर्ताओं' के आयात कहा जाता है। ये आयात मुक्त सामान्य लाइसेंस के तहत भी हो सकते हैं और प्रतिबंधित सूची के तहत भी। प्रथमोक्त के लिए पहले से स्वीकृति या लाइसेंस लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। लेकिन प्रतिबंधित सूची की वस्तुओं पर प्रशासनिक छानबीन और परिमाणात्मक नियंत्रण लागू होते हैं और उनको लाइसेंस लेकर ही आयातित किया जा सकता है (इसके अलावा एक 'निषिद्ध' सूची भी है)। लाइसेंस प्रणाली की विभिन्न श्रेणियों में वस्तुओं के वर्गीकरण का मुख्य मानदंड उनकी घरेलू उपलब्धता है। पुनःपूर्ति लाइसेंस निर्यातकों को आयात की अतिरिक्त सुविधा प्रदान करते हैं जो निर्यातों के मूल्य से जुड़ी होती है। पुनःपूर्ति लाइसेंस तथा अन्य निर्यात-संबद्ध योजनाओ के अंतर्गत किए गए आयातों से वास्तविक उपयोगकर्ता योजना के अंतर्गत आयात करने की उत्पादकों की पात्रता पर प्रभाव नहीं पडता।[59] पुनःपूर्ति लाइसेंसों का खुलकर हस्तांतरण भी किया जा सकता है। हस्तांतरण के समय पुनःपूर्ति लाइसेंसों पर आमतौर से बाजार में एक 'प्रीमियम' मिलता है जिससे निर्यातक को कुछ अतिरिक्त सहायिकी प्राप्त हो जाती है।

पुनःपूर्ति लाइसेसों के विक्रय से निर्यातक को जो अतिरिक्त सहायिकी उपलब्ध होती है वह वास्तविक उपयोगकर्ता नीति की प्रतिबंधात्मकता और पुनःपूर्ति लाइसेंसों के बाजार के आकार के अनुसार बदलती रहती है।[60] यह सहायता राशि आयातक द्वारा उस निर्यातक को दी जाती है जो अपना आयात का अधिकार छोड़ देता है। इसका मतलब यह है कि अगर केवल लोचदार पुनःपूर्ति लाइसेंसों के तहत ही सारे आयात होने दिए जाएं तो आयातों और निर्यातों के बीच एक स्पष्ट संबंध स्थापित हो सकेगा। निर्यातक अधिक सहायिकी और लाभ प्राप्त करेंगे और घरेलू बाजार में वस्तुओं की बिक्री की लागत बढ़ेगी जो उनकी आयात-अंतर्वस्तु पर निर्भर होगी। यदि अन्य बातें पूर्ववत् रहें तो निर्याती की लाभदायकता बढ़ेगी जबकि घरेलू उत्पादन की लाभदायकता कम होगी।

वाणिज्य मंत्रालय द्वारा संकलित आंकड़ों के अनुसार 1989-90 में जारी वास्तविक उपयोगकर्ता (वा. उ.) लाइसेंसों का कुल मूल्य 2900 करोड़ रुपये था (इसमें मुक्त सामान्य लाइसेंस के तथा दूसरे गैर-लाइसेंसशुदा आयात शामिल नहीं थे) तथा (जवाहरात और आभूषणों को छोड़कर) पुनःपूर्ति लाइसेंसों का मूल्य 3500 करोड़ रुपये था।[61] इन दो प्रकार के आयातों के तुलनात्मक आकारों को देखते हुए यह व्यावहारिक नही कि सभी वा. उ. आयातों को एक झटके से पुनःपूर्ति बाजार में हस्तांतरित कर दिया जाए। इससे घरेलू उत्पादन पर गहरा असर पड़ सकता है

---

* जुलाई 1991 में आयात नीति को सरल बना दिया गया और पुनःपूर्ति लाइसेंसों की जगह 'आयात-निर्यात पत्रों (एक्ज़िम स्क्रिप्स)' की व्यवस्था लागू की गयी।

और अल्पावधि मे घरेलू लागतों में भी बहुत भारी बढ़ोतरी आ सकती है। एक अधिक व्यावहारिक योजना यह हो सकती है कि आरंभ में वा . उ. लाइसेंसों की पात्रता का कोई 50 प्रतिशत भाग पुनःपूर्ति बाजार में हस्तांतरित कर दिया जाए। इससे पुनःपूर्ति लाइसेसों की मांग में 40 प्रतिशत की वृद्धि होगी (यहां हमने यह माना है कि किसी विशेष वर्ष में जारी लाइसेंसों का उसी वर्ष में उपयोग किया जाता है और उन्हें आगे के लिए नहीं रखा जाता)। अगर यह बहुत अधिक लगे तो निर्यातकों की पुनःपूर्ति लाइसेंसों की पात्रता को लगभग 10 से 15 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है। मुक्त सामान्य लाइसेंस के अंतर्गत आयातों पर लाइसेंस नहीं लेना पड़ता, इसलिए सामान्यतः इन्हें छेड़ने की जरूरत नहीं है। ये प्रतिशत दृष्टांतस्वरूप हैं और निर्यातों के लिए वांछित मात्रा में सहायिकी उपलब्ध कराने के हिसाब से घटाए-बढ़ाए जा सकते हैं।

हम देख सकते हैं कि इस योजना या इसके अन्य रूप-भेदों से प्रोत्साहनों की संरचना आयातों मे वृद्धि किए **बिना** निर्यातकों के पक्ष में आ जाएगी। यह निर्यात-संवर्धन की 'सर्वोतम' या 'इष्टतम' रणनीति नहीं है लेकिन वित्तीय कठिनाइयों की दशा में यह अपेक्षाकृत जोखिम से रहित रणनीति अवश्य है। इससे पर्याप्त तीव्रता के साथ अनेक लाभों का मिलना संभव है। पहला, इससे निर्याती की लाभदायकता बढ़ेगी। दूसरे, जो वस्तुओं का निर्यात नहीं करते, संभव है वे यह पाएं कि उनके मुनाफे घट रहे हैं। तीसरे, आयातों पर प्रशासनिक लाइसेंस व्यवस्था का क्षेत्र संकुचित होगा क्योंकि तब आबंटन के प्रकार्य का एक भाग बाजार-व्यवस्था को हस्तांतरित हो जाएगा। चौथे, विभिन्न उद्योगों के बीच प्रभावी संरक्षण की दरों की भिन्नता कम होगी। घरेलू विनिर्माण के लिए कच्चे मालों और घटकों के आयात की लागत बढ़ेगी जिससे तैयार मालों पर संरक्षण की दर में कमी आएगी (आज यह दर बहुत ऊची है) और घटकों तथा कच्चे मालों पर संरक्षण की दर बढ़ेगी (जो आज बहुत कम है)। इस योजना का एक सभावित दोष यह है कि प्रीमियम दरें, तथा निर्यातों के लिए निहित सहायिकी में, आयात नीति के परिवर्तनों तथा घरेलू और विदेशी मांग के परिवर्तनों के साथ काल-क्रम में अस्थिरता आ सकती है। इस योजना के व्यवहार का जब तक और अनुभव प्राप्त न हो, बुद्धिमत्ता इसी में है कि यह योजना लागू करते समय निर्यातकों के लिए सभी निर्यात-प्रोत्साहनों समेत वर्तमान प्रभावी विनिमय दरों को न छेड़ा जाए। आयात नीति में स्थिरता बनाए रखना भी वांछित होगा।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, विभिन्न उद्योगों को प्राप्त प्रभावी संरक्षण अत्यधिक परिवर्तनशील है और वह तर्कसंगत नहीं है। जिन उद्योगों को 'प्राथमिकताप्राप्त' माना जाता है, उन्हें कम संरक्षण प्राप्त है जबकि 'प्राथमिकताहीन' कहलाने वाले उद्योगों को अधिक संरक्षण मिलता है। इससे प्रथमोक्त प्रकार के उद्योगों की कीमत पर द्वितीयोक्त प्रकार के उद्योग फलते-फूलते हैं। प्रशुल्क और प्रभावी

संरक्षण-दरों की इस बेढंगी संरचना का कारण यह है कि भारत में प्रशुल्क सामान्यतः 'लागत पर आधारित' होते हैं। नीति यह है कि उत्पादन की घरेलू लागत के आधार पर पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया जाए, चाहे वह लागत कितनी ही अधिक हो और अंतर्राष्ट्रीय कीमतों पर वांछित मूल्य चाहे कितना ही कम हो। इस नीति ने घरेलू फर्मों को तुलनात्मक लाभ और उत्पादन की सापेक्ष लागतों का ध्यान रखे बिना उत्पादन के क्षेत्रों में प्रवेश करने के लिए प्रेरित किया है। ऐसे अलाभकर निवेश फिर सभी उपयोगकर्ता उद्योगों के लिए प्रशुल्क वृद्धि उत्पन्न करते हैं और उत्पादन की लागतों को बढ़ाते हैं। आज आवश्यक है कि 'लागत पर आधारित' संरक्षण-प्रणाली से हटकर एक 'आदर्शमूलक (नार्मेटिव) प्रणाली' को अपनाया जाए जिसमें विभिन्न उद्योगों के लिए प्रशुल्क की दरों में अपेक्षाकृत अधिक समानता हो।

शुल्कवापसी की प्रणाली सुधार का एक और महत्वपूर्ण क्षेत्र है। कोरिया समेत अनेक देशो मे शुल्कवापसी की एक सरल और उदार प्रणाली निर्यात-संवर्धन का एक बेहद कारगर उपाय साबित हुई है। निर्यातकों द्वारा पूजीगत मालों के आयातों पर दिए गए शुल्क को भी वापसी की दरों को चतुर्दिक बढाकर शुल्क-वापसी प्रणाली के दायरे में लाया जाना चाहिए। वापसी की इस प्रणाली में वे अप्रत्यक्ष निर्यातक भी आने चाहिए जो निर्यातकों को देश में बनी आगतों की आपूर्ति करते हैं। यह काम घरेलू साखपत्र जारी करके किया जा सकता है जिसके प्रयास दूसरे देशों में किए गए हैं। शुल्कवापसी की दर की संरचना को सरल बनाया जाना चाहिए और यह शुल्कदाता फर्मों की अलग-अलग छानबीन पर आधारित नही होना चाहिए।

अंत में, प्रशासनिक नियम-कायदों को सरल बनाने और प्रणाली मे और भी स्थिरता लाने की तात्कालिक आवश्यकता है। आयातो / निर्यातों के मामलों की जो अलग-अलग प्रशासनिक छानबीन की जाती है, उसे कालक्रम में पूरी तरह समाप्त करने की आवश्यकता है। जैसाकि पहले सुझाया गया है, आयात की जिन मदों पर प्रतिबंध आवश्यक है, उनको अगले दो या तीन वर्षों के भीतर पुनः पूर्ति लाइसेसों या अधिक प्रशुल्क सहित मुक्त सामान्य लाइसेंस के अंतर्गत लाया जाना चाहिए। जहां तक निर्यात का ताल्लुक है, उन पर कोई भी परिमाणात्मक या कोटा संबंधी प्रतिबंध नहीं होना चाहिए। अनेक मामलों में ये प्रतिबंध अनावश्यक हैं क्योंकि घरेलू कीमतें अंतर्राष्ट्रीय कीमतों से काफी अधिक हैं। हां, एक क्षेत्र खेतिहर निर्यातों का है जिनमें ये प्रतिबंध प्रभावी सिद्ध होते हैं। जिन मामलों में अंतर्राष्ट्रीय कीमतें घरेलू कीमतों से अधिक हैं, उनमें खेतिहर निर्यातों पर कोटा संबंधी प्रतिबंध लगाने से कृषकों की आय कम होती है। यह बात न्यायोचित नहीं है। अत्यधिक विभेदक दर सूचियों की प्रणाली से हटकर दरों में समानता लाना एक और महत्वपूर्ण प्रशासनिक उपाय है। इससे यह प्रणाली अपेक्षाकृत पारदर्शी और गुटीय दबावों के सामने कम

नम्य बनेगी।[62]

अच्छे निर्यात-निष्पादन के लिए एक यथार्थवादी विनिमय दर का स्पष्ट महत्व है। इसके कुछ साक्ष्य मौजूद हैं कि अतीत में भारतीय निर्यातों को सहारा देने के लिए इस साधन का पर्याप्त उपयोग नहीं किया गया है। सौभाग्य से, हाल के वर्षों में विनिमय दर का प्रबंधन भारत में विवाद का विषय नहीं रह गया है।[63] अन्य मुद्राओं के सापेक्ष रुपये की विनिमय दर ठीक-ठीक कहां निर्धारित होनी चाहिए, इसे लेकर विशेषज्ञों में कुछ मतभेद हो सकते हैं, लेकिन इस समय ये मतभेद बहुत अधिक नहीं हैं। जनवरी, 1991 में भारत ने अं. मु. कोष के साथ ऋण के लिए जो समझौता किया, उसमें निश्चय ही विनिमय दर कोई मुद्दा नहीं था। पिछले कुछ वर्षों में विनिमय दर का प्रबंधन निर्यातकों के हित में रहा है। इसे जारी रहना चाहिए। यह भी संभवतः उचित है कि नकद सहायता जैसी राजकोषीय सहायिकियों की जगह विनिमय दर का एकबारगी समायोजन किया जाए।[64]

निश्चय ही ऐसे कुछ लोग हैं जो विकासशील देशों में किसी भी चालू लेखा घाटे के होने को विनिमय दरों के गलत निर्धारण का प्रमाण मानते हैं और उनकी सिफारिश यह होती है कि इस समस्या के निपटारे के लिए मुद्रा के मूल्य में बार-बार और अकसर भारी कटौतियां की जाएं। अगर अल्पकालीन आपूर्ति सापेक्षताएं (सप्लाई एलास्टिसिटीज) इतनी अधिक न हों जितनी कि मानी जाती हैं, या अगर भुगतान घाटे का प्रमुख कारण राजकोषीय असंतुलन में निहित हो तो ऐसी नीति का उल्टा असर हो सकता है। जैसाकि लेटिन अमरीका के अनुभवों से स्पष्ट है, विनिमय दरों में बार-बार कटौती करने से राजकोषीय प्रबंधन में काफी समस्याएं आ सकती हैं। कारण कि सार्वजनिक क्षेत्र के आयातों की लागत के साथ-साथ घरेलू मुद्राओं में की गयी ऋण-सेवा संबंधी अदायगियां भी बढ़ती हैं। विनिमय दर एक महत्वपूर्ण साधन है और इसका भरपूर उपयोग होना चाहिए। लेकिन हमें एक यांत्रिक और संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाने से बचना ही होगा।

## (स) अदृश्य आय

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अदृश्य आयों (इनविजिबुल्स) की निवल प्राप्तियों ने 1975-76 के बाद कोई एक दशक तक भारत के भुगतान-संतुलन को बहुमूल्य सहारा दिया। 1985-86 के बाद, निजी हस्तांतरण में कुछ वृद्धि अवश्य हुई मगर यह इतनी अधिक नहीं थी कि विदेशी ऋण पर देय ब्याजों में हुई वृद्धि की भरपाई कर सके (तालिका 4.3 देखें)।[65] व्यापार घाटे के वित्तीयन में अदृश्य आयों का योगदान 1989-90 में घटकर लगभग 20 प्रतिशत रह गया जबकि 1984-85 में यह कोई 50 प्रतिशत था। अदृश्य आयों की निवल प्राप्तियों के दो प्रमुख स्रोत विदेशी यात्रा और निजी हस्तांतरण हैं। विदेशी यात्रा की निवल प्राप्तियां नवें दशक

में पर्याप्त बढ़ीं। ये हाल के वर्षों में कुल निवल अदृश्य प्राप्तियों का कोई 30 प्रतिशत भाग थीं।

अनुमान है कि मध्यपूर्व और खाड़ी के देशों के अनिवासी भारतीयों द्वारा प्रेषित धन भारत को हुए निजी हस्तातंरण का कोई 45 प्रतिशत है। (अनिवासी भारतीयों की जमाराशियों के विपरीत) धन का भावी प्रेषण हाल के खाड़ी युद्ध के बाद मध्यपूर्व की अर्थव्यवस्थाओं की संवृद्धि पर तथा भारतीय आप्रवासियों के प्रति उनकी नीति पर बहुत अधिक निर्भर है। इन दोनों बातों को लेकर आज पर्याप्त अनिश्चितता पायी जाती है।

भारत को प्रेषित धन को प्रभावित करने वाले समष्टिगत आर्थिक कारकों पर (अविश्वसनीय किस्सों को छोड़ दे तो) बहुत कम अनुभवाश्रित अनुसंधान हुआ है। ऐसे अनुसंधान के अभाव में इस संबंध में किसी ठोस नतीजे पर पहुंचना कठिन है कि ऐसे प्रेषण को प्रोत्साहित करने के लिए भारत को कौन सी नीतियां अपनानी चाहिए। स्पष्ट है कि विनिमय दर और खास तौर पर 'अधिकृत' और 'अनधिकृत' विनिमय दरों का अंतर एक महत्वपूर्ण कारक है।[66] अगर (अनधिकृत दर के पक्ष में) यह अंतर काफी अधिक है तो बैंकिंग माध्यमों से होने वाले प्रेषण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। इस स्थिति में इसकी भारी आवश्यकता है कि अधिकृत दर को घटाकर दोनों दरों के अंतर को कम किया जाए। भारत में इसका कोई साक्ष्य नहीं कि यह अंतर अधिक है या लगातार बढ़ रहा है हालांकि इसके आंकड़े बहुत कम उपलब्ध हैं। ये अंतर पर्याप्त स्थिर रहे हैं और अनधिकृत दर, अधिकृत दर के साथ घटती-बढ़ती रही है। आयात और विनिमय संबंधी नियंत्रणों के होते हुए इस अंतर को समाप्त करना आसान नहीं है· क्योंकि विदेशी मुद्रा की असंतुष्ट मांग अनधिकृत बाजार को हस्तांतरित हो जाती है, भले ही अधिकृत विनिमय दर कुछ भी हो।[67]

एक और सवाल यह उठता है कि क्या धन के अंतर्वाह के लिए कोई विशेष प्रोत्साहन (जैसे कि नकद अनुदान) दिया जाना चाहिए। तर्क यह है कि नकद मुआवजा सहायता समेत विभिन्न प्रोत्साहनो के कारण मालों के निर्यात पर नामिक विनिमय दर की अपेक्षा उच्चतर प्रभावी विनिमय-दर का लाभ मिलता है। तर्क है कि इसी सादृश्य पर अंतर्वाह के लिए भी नामिक विनिमय-दर से अधिक विनिमय-दर का लाभ दिया जाना चाहिए। लेकिन इससे राजकोष पर पड़नेवाले बोझ को छोड़ दें तो भी इस प्रस्ताव के साथ एक महत्वपूर्ण समस्या जुड़ी हुई है। इससे विदेशी मुद्रा के उपयोगकर्ताओं को एक अप्रत्यक्ष सहायिकी मिल जाएगी क्योंकि वे नामिक विनिमय दरों पर विदेशी मुद्रा खरीद रहे होंगे।[68] विदेशी मुद्रा के उपयोगकर्ताओं पर एक जवाबी कर लगाकर इस प्रभाव को समाप्त करना संभव है। लेकिन तब एक बेहतर विकल्प यह होगा कि सभी लेन-देनों के लिए स्वयं नामिक विनिमय दर को ही बढ़ा दिया जाए बजाए इसके कि हम प्रभावी विनिमय दर को बदलने के लिए किसी सहायिकी–

**सह-कर** प्रणाली का सहारा लें। जहां तक निर्यातकों को देय प्रोत्साहनों के प्रभाव का प्रश्न है, इसका प्रासंगिक चर निर्यातों की लाभदायकता और खासतौर पर घरेलू बिक्री के सापेक्ष उनकी लाभदायकता है। जैसा कि हमने देखा है, अभी भी इसका रुझान बहुत अधिक निर्यात-विरोधी है।

धनप्रेषण के संबंध में सबसे कारगर कदम यह होगा कि हम एक यथार्थवादी और प्रतियोगितापरक विनिमय दर नीति का पालन करें और दक्षतापूर्ण तथा सस्ती बैंकिंग सेवाएं उपलब्ध कराएं। विदेशी मुद्रा में दिए गए उपहार पहले से ही करमुक्त हैं। यह राजकोषीय रियायत निवासी भारतीयों को होने वाली अन्य प्रकार की विदेशी मुद्रा प्राप्तियों पर भी मिलनी चाहिए।

## (द) पूंजी लेखा

भारत में पिछले तीन दशकों में पूंजी लेखे की संरचना बहुत बदली है। सातवें और आठवें दशकों में रियायती शर्तों पर प्राप्त सार्वजनिक (आफिशियल) ऋण चालू लेखा घाटे के वित्तीयन के प्रमुख स्रोत थे। 1980 में भारत के कुल देय ऋण का कोई 90 प्रतिशत भाग सार्वजनिक ऋणदाताओं से मिला था और उसका 85 प्रतिशत रियायती शर्तों पर मिला था। लेकिन 1989 तक यह तस्वीर नाटकीय ढंग से बदल चुकी थी। तब सार्वजनिक ऋण कुल देय ऋण के 61 प्रतिशत थे और रियायती शर्तों पर प्राप्त ऋण का भाग कम होकर 47 प्रतिशत रह गया था। प्रसंगवश रियायती सहायता में हुई लगभग पूरी-की-पूरी कमी इस कारण थी कि भारत को विश्व बैंक समूह द्वारा दिए जाने वाले ऋणों के संघटन में परिवर्तन हो गया था। भारत विकासशील देशों में निर्धनतम है और वस्तुनिष्ठ आधारों पर रियायती सहायता पर उसका दावा असंदिग्ध है। फिर भी, विश्व बैंक समूह ने भारत को दी जानेवाली रियायती सहायता कम कर दी है। प्रतिव्यक्ति सहायता की दृष्टि से देखें तो भारत को दी गयी सहायता का परिमाण भी विकासशील देशों में सबसे कम है।[69]

भारत के दीर्घकालीन ऋणों की संरचना, 1970-89
(करोड़ अमरीकी डालरों में)

| | 1970 | 1980 | 1989 |
|---|---|---|---|
| 1. कुल देय ऋण | 783.7 | 1832.2 | 5477.6 |
| 2. कुल सार्वजनिक ऋण | 750.7 | 1631.5 | 3337.1 |
| इसमें रियायती ऋण का परिमाण | 701.3 | 1547.5 | 2573.2 |
| 3. कुल निजी ऋण | 33.0 | 200.7 | 2140.5 |

**स्रोत** : विश्व बैंक, *वर्ल्ड डेट टेबिल्स*, 1990-91; निजी गैरजमानती ऋण इनमें शामिल नहीं है (जो अनुमान है कि 1989 में 1.5 अरब डालर था)।

पूंजी के प्रवाह का विषय विकास-अर्थशास्त्र में अत्यधिक अकादमिक रुचि का विषय रहा है। सातवें दशक मे, तथा आठवें दशक के अधिकांश वर्षों में, सबसे ज्यादा जोर सार्वजनिक पूंजी-प्रवाह और प्रत्यक्ष विदेशी निवेश पर था जो विकासशील देशों को होने वाले पूंजी-प्रवाह का अधिकांश भाग थे। आठवें दशक के अंतिम वर्षों और नवें दशक में, कई विकासशील देशों के ऋण-संकटों के संदर्भ में, उन मुद्दों पर ध्यान दिया जाने लगा जो वाणिज्यिक ऋणो और खासकर बैंकों द्वारा दिए जानेवाले ऋणो से संबंधित थे। पूंजी-प्रवाह से जुड़े मुद्दों का अकादमिक विश्लेषण सामान्यतः चार आधारो पर किया गया है। सातवें दशक में, सार्वजनिक पूंजी-प्रवाह के संदर्भ में, घरेलू बचत के पूरक के रूप मे विदेशी सहायता के विश्लेषण में पर्याप्त रुचि ली जाती थी। उदाहरण के लिए, चेनरी और स्ट्राउट का दो अंतरालों का मॉडल इसी संदर्भ में विकसित हुआ। विकास पर विदेशी पूंजी के प्रवाह के **प्रभावों** का विश्लेषण रुचि का दूसरा क्षेत्र था। तीसरे, समूहित (एग्रीगेट) स्तर पर पूंजी-प्रवाह के निर्धारको और प्रभावों की व्याख्या करने के लिए अनेकों सैद्धांतिक मॉडल प्रस्तुत किए गए हैं। पूंजी-प्रवाह के विशेष रूपों की गुणवत्ता तथा प्राप्तिकर्ता देश पर ऐसे प्रवाहों के आबंटनात्मक तथा कल्याण विषयक प्रभाव रुचि का एक और क्षेत्र है। इन तथा अन्य क्षेत्रो में हुए अनुसंधानों की सुंदर समीक्षाएं लाल (1990), कार्डोसो और डोर्नबुश (1989) तथा ईटन (1989) में मिलती हैं। विदेशी ऋण से जुड़े नीतिगत प्रश्नो की विवेचना के लिए क्लाइन (1984) ने एक उपयोगी वैश्लेषिक ढांचा प्रस्तुत किया है।[70]

भारत के मामले में भुगतान-सतुलन की दृष्टि से जो मुद्दे प्रासंगिक हैं, उनका संबंध प्रत्यक्ष विदेशी निवेशों और वाणिज्यिक ऋणों से है। इसमें संदेह नहीं कि सार्वजनिक बहुपक्षीय और द्विपक्षीय प्रवाहों का अपना महत्व है। लेकिन ये प्रवाह मुख्यतः आपूर्ति द्वारा निर्धारित हैं और ऐसे प्रवाहों के परिमाण को प्रभावित करने के लिए भारत शायद ही कुछ कर सकता है।[71] भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का परिमाण बहुत कम है। पिछले तीन वर्षों में इसका औसत परिमाण 200 करोड़ रुपये (या लगभग दस करोड़ डालर) रहा है (इसके विपरीत चीन में 1989 में इसका परिमाण 3.4 अबर डालर था)।[72] देशी पूंजी की संवृद्धि को प्रोत्साहित करने के नाम पर भारत विदेशी निवेशों के संदर्भ में एक प्रतिबधात्मक नीति का पालन करता रहा है। प्रमुख प्रतिबंध विदेशी धारको को अनुमत इक्विटी के प्रतिशत तथा विदेशी निवेश के क्षेत्रों को लेकर हैं।

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के प्रभावों पर चलनेवाली तीखी अकादमिक बहस अभी अधूरी है (डोर्नबुश, 1989 और लाल, 1990 देखें)। विदेशी निवेश के विरोधियों ने इसकी कई अपूर्णताओ और हानिकारक प्रभावों की ओर ध्यान दिलाया है जैसे, ऐसे निवेशों की पूंजीप्रधानता, अनुपयुक्त प्रौद्योगिकी, आय के वितरण पर संभावित प्रतिकूल प्रभावों, हस्तांतरण की कीमत का निर्धारण और भुगतान-संतुलन में इन

निवेशों द्वारा अक्सर किए जाने वाले नकारात्मक योगदान। दूसरी ओर, विदेशी निवेश के समर्थकों ने प्रौद्योगिकी के विकास को प्राप्त प्रोत्साहन, प्रबंधकीय विशेषज्ञता, विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण, निर्यात और तीव्रतर संवृद्धि की दृष्टि से इसके लाभकारी प्रभावों को उजागर किया है। यह भी दावा किया गया है कि ऋणों के द्वारा वित्तीयन करने से ऋण-सेवा के नियत दायित्व पैदा होते हैं जबकि इक्विटी-सेवा केवल लाभ प्राप्त होने के बाद करनी पड़ती है। इन दोनों दृष्टिकोणों के समर्थन में पर्याप्त अनुभवाश्रित साक्ष्य दिए जा सकते हैं। मिसाल के लिए, हाल के वर्षों में एशिया के कई अर्ध-औद्योगिक देशों (जैसे, थाइलैंड, मलेशिया और सिंगापुर) की संवृद्धि में विदेशी निजी निवेशों ने भारी योगदान किया प्रतीत होता है। लेकिन अनेक उदाहरण ऐसे भी हैं, खासकर लेटिन अमरीका और अफ्रीका के, जिनमें विदेशी निवेश का योगदान इतना हितकारी नहीं रहा है।

फिर भी, एक नुक्ता ऐसा है जिस पर ये समर्थक और विरोधी सहमत प्रतीत होते हैं। यह कि अगर प्राप्तिकर्ता देश की अर्थव्यवस्था अत्यधिक संरक्षित हो और विदेशी निवेश प्रशुल्क की ऊंची दीवारों के साये मे हो तो प्रत्यक्ष निवेश वास्तव में उस देश के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। मिसाल के लिए, भगवती (1986) ने उजावा और दूसरे जापानी अर्थशास्त्रियों की कृतियों का हवाला देकर यह दिखाया है कि पूंजीप्रधान और संरक्षण-प्रेरित पूंजी-प्रवाह, वास्तव में, प्राप्तिकर्ता देशों में आयों को कम कर सकता है। इस प्रकार के निवेश को सामान्यतः 'प्रशुल्क कूद' (टैरिफ जंपिंग) छाप विदेशी निवेश कहा जाता है जिसका प्रमुख लक्ष्य मेजबान देशों के संरक्षित बाजारों का फायदा उठाना होता है। लाल और स्ट्रीटेन (1977) ने भी पाया है कि विदेशी ऋण के कल्याणकारी प्रभावों और किसी विशेष उद्योग को प्राप्त प्रभावी संरक्षण की मात्रा के बीच, कुल मिलाकर ऋणात्मक सहसंबंध होता है। यह तर्क स्वयं में विदेशी निवेश के नहीं अपितु विशेष प्रकार के विदेशी निवेश के विरुद्ध है। भारत में विदेशी निवेश संबंधी कानूनों को सरल बनाने तथा इक्विटी निवेश-विरोधी रुझान को समाप्त करने की भारी आवश्यकता है। इसके परिमाण फिलहाल इतने कम हैं कि इसमें अनेक गुना वृद्धि हो तो भी कोई हानि नहीं होगी। विश्व-अर्थव्यवस्था में उत्पादन के सार्वभौमीकरण तथा पूंजी बाजारों के एकीकरण के फलस्वरूप ईक्विटी निवेश का पक्ष और भी मजबूत हो गया है। केवल यह बात सुनिश्चित की जानी चाहिए कि विदेशी मुद्रा की दृष्टि से ऐसा निवेश सकारात्मक हो और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगी हो। प्रतियोगी निवेशों के प्रवेश से संबंधित.नियमों को स्वचंल और पारदर्शी बनाया जाना चाहिए। लेकिन यह संभव है कि नए इक्विटी निवेश नयी क्षमताओं की स्थापना के लिए औद्योगिक परियोजनाओं में लगें। भुगतान-संतुलन की वर्तमान कठिनाई जहां तक अनुरक्षण आयातों के वित्तीयन और ऋण-सेवा के दायित्वों को पूरा करने की कठिनाई को लेकर है, यह मानना ठीक ही है कि अधिक इक्विटी निवेश अपने-आपमें वित्त का एक पर्याप्त

स्रोत प्रदान नहीं करता।

भारी ऋणग्रस्त देशों और भारत के ऋण-अनुपात

| | *भारत* | *17 भारी ऋणग्रस्त क्षेत्र* | |
|---|---|---|---|
| | *1989* | *1982* | *1987* |
| ऋण–स. रा. उ. | 21.5 | 45.6 | 58.0 |
| ऋण–निर्यात | 303.5 | 254.2 | 317.9 |
| ऋण-सेवा–स रा. उ | 1.9 | 7.9 | 6.2 |
| ऋण-सेवा–निर्यात | 29.3 | 43.9 | 34.1 |
| ब्याज–स. रा. उ. | 1.1 | 4.8 | 3.9 |
| ब्याज–निर्यात | 17.8 | 26 9 | 21.4 |

टिप्पणी : ये 17 भारी ऋणग्रस्त देश इस प्रकार हैं : अर्जेंटीना, बोलिविया, ब्राजील, चिली कोलंबिया, इक्वेडोर, आइवरी कोस्ट, मेक्सिको, मोरक्को, नाइजीरिया, पेरू, फिलीपीन, उरुग्वे, वेनेजुएला, यूगोस्लाविया, कोस्टा रिका और जमैका। इन देशों से संबद्ध आंकड़े डोर्नबुश (1989. पृ. 24) से लिए गए हैं। भारत के ऋण संबंधी *आकड़े वर्ल्ड डेट टेबिल्स*, 1990-91 (विश्व बैंक) से लिए गए हैं।

भारत का वाणिज्यिक ऋण (सार्वजनिक ऋणों को निकालकर) 1980 में बहुत कम (2 अरब डालर) था। यह 1989 तक बढ़कर 21.4 अरब डालर अर्थात् दसगुना हो चुका था। देय वाणिज्यिक ऋण की दृष्टि से भारत एक दशक के अंदर ही विकासशील विश्व मे सबसे बड़े कर्जदार देशों में से एक बन चुका है। ऊपर की तालिका मे भारत तथा 17 भारी ऋणग्रस्त मध्यम आय वाले देशों के ऋण-अनुपात दर्शाए गए हैं। 1982 के बाद से इन देशों को ऋण-सेवा की अधिकाधिक कठिनाइयां उठानी पड़ रही हैं। पिछले तीन वर्षों में उनकी स्थिति मे जरा-सा सुधार हुआ है जबकि भारत की स्थिति बदतर हुई है।

भारत मे स. रा. उ. से ऋण और ऋण-सेवा के अनुपात सापेक्षतः कम हैं। लेकिन स. रा. उ. से व्यापार का अनुपात काफी कम है और स. रा. उ. में कृषि का भाग काफी बड़ा है (जो वस्तुतः अ-व्यापारिक क्षेत्र है)। इन्हें देखते हुए निर्यातो से ऋण का अनुपात और निर्यातों से ऋण-सेवा का अनुपात भारत पर ऋण के बोझ के अधिक प्रासंगिक सूचक माने जाने चाहिए।[73] ऋण-निर्यात अनुपात की दृष्टि से ऋण की समस्या की विवेचना के लिए डोर्नबुर्श और फिशर (1985) ने एक उपयोगी ढांचा प्रस्तुत किया है। ऋण समस्या की गतिकी का विश्लेषण करने के लिए हम ऋण-संचय के निम्नलिखित समीकैरण को अपना प्रस्थान बिंदु बना सकते हैं :

$$Dt = (1+it)\ Dt\text{-}1 - N\ X\ t \qquad (1)$$

जिसमें D = देय ऋण का डालर में मूल्य,

i = देय ऋण नामिक ब्याज दर, और

NX = चालू लेखे ('संसाधन' अंतराल) का डालर में व्यक्त ब्याजेतर घटक है।

समीकरण (1) को हम ऋण-सेवा अनुपात (d) के एक समीकरण में इस प्रकार रूपांतरित कर सकते हैं (जिसमें निर्यातों को डालर में मापा गया है) :

$$dt = K_t d_t\text{-}1 - nx_t \qquad (2)$$

$$K_t = (1+i_t) / (1+gx_t)$$

जिसमें gx = निर्यातों की नामिक संवृद्धि-दर (डालरों में), और

nx = निर्यातों से NX का अनुपात या निर्यातों के भाग रूप में संसाधनों का अंतराल है।

समीकरण (2) से ऋण-निर्यात अनुपात के चार निधार्रकों का पता चलता है। देय ऋणों के परिमाण को सकारात्मक मानते हुए, काल t के अंत में ऋण-निर्यात अनुपात उतना ही अधिक होता है जितना कि नामिक ब्याजदर और पहले से विद्यमान ऋण-निर्यात अनुपात होता है। निर्यातों के मूल्यों की संवृद्धि-दर अधिक हो या ब्याजेतर चालू लेखा सकारात्मक हो, तो यह अनुपात को कम कर देता है। यद्यपि ऋण-सेवा अनुपात या ऋण-निर्यात अनुपात के किसी क्रांतिक स्तर (जिस पर ऋण-सेवा में कठिनाइयां आ सकती हैं) का निर्देश कर सकना कठिन है, फिर भी यह स्पष्ट है कि निरंतर बढ़ते ऋण-निर्यात अनुपात के साध्य बने रहने की संभावना नहीं होती। यह स्थिति तब पैदा होती है जब ब्याजेतर चालू लेखे के घाटे बढ़ रहे हों और ब्याज के भुगतानों की संवृद्धि की तुलना में निर्यातों की संवृद्धि काफी ज्यादा न हो।

भारत में नवें दशक में ऋण-सेवा अनुपात को प्रभावित करनेवाले कारक हमारे लिए प्रतिकूल रहे हैं। इससे ऋण-निर्यात अनुपात और ऋण-सेवा-निर्यात अनुपात में तेजी से वृद्धि हुई है। नीचे की तालिका नवें दशक में चालू लेखा घाटे और ब्याज के भुगतानों की संवृद्धि (डालरों में) को दर्शाती है।

भारत का चालू लेखा संतुलन और ब्याज के भुगतान (करोड़ अमरीकी डालरों में)

| | | *1980* | *1985* | *1989* |
|---|---|---|---|---|
| 1. | स रा. उ. | 17,253.3 | 21,296.9 | 26,208.9 |
| 2. | चालू लेखा संतुलन | −226.8 | −553.6 | −753.8 |
| 3. | ब्याज के भुगतान | 50.3 | 131.1 | 295.4 |
| 4. | ब्याजेतर चालू लेखा (2-3) | −176.5 | −422.5 | −458.4 |

***स्रोत* : विश्व बैंक, *वर्ल्ड डेट टेबिल्स*,** 1990-91

सार्वजनिक स्रोतों से प्राप्त ऋणों पर नामिक ब्याज की दर 1980 में औसतन 2.4 प्रतिशत थी जो बढ़कर 1989 में 5.6 प्रतिशत हो गयी। लेकिन निजी पूंजी बाजार में ब्याज-दरों के गिरने के कारण 'सभी' ऋणदाताओं से प्राप्त ऋणों पर औसत ब्याज-दरों में कोई अधिक वृद्धि नहीं हुई (यह 1980 में 5.4 प्रतिशत और 1989 में 6.4 प्रतिशत थी)। डालरों में ब्याज के कुल भुगतान फिर भी निर्यातों की अपेक्षा बहुत तेजी से बढ़ रहे हैं। नवें दशक में (डालरों में) ब्याज 21.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष की चक्रवृद्धि दर से बढ़ी है जबकि (डालरों में) निर्यातों की संवृद्धि-दर केवल 7.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है।

वर्तमान दशक के आरंभ मे भारत का ऋण-निर्यात अनुपात 300 प्रतिशत से अधिक हो चुका था जो लेटिन अमरीका, एशिया और अफ्रीका के 17 भारी ऋणग्रस्त देशों के अनुपातों के तुल्य है। चूंकि इस ऋण का एक अच्छा-खासा भाग सार्वजनिक क्षेत्र मे लगा हुआ है इसलिए ऋण-सेवा के बढते बोझ और बढ़ते राजकोषीय घाटों के कारण घाटे और ऋण का एक दुष्चक्र उत्पन्न हो गया है। आगामी वर्षों में विदेशी वाणिज्यिक ऋण लेकर 'अंतर्मुखी' निवेशो का वित्तीयन करने की गुंजाइश बहुत ही कम है। वर्तमान दशक में हमें ऋण-निर्यात अनुपात मे पहले स्थिरता लानी होगी और फिर इसे गिराकर और भी अधिक सुविधाजनक स्तरो तक लाना होगा।

भारत में बड़ी परियोजनाओ के लिए ऋण लेकर धन जुटाना आर्थिक दृष्टि से लाभकर क्यों नहीं है, इसका एक बुनियादी कारण इन निवेशों की कम उत्पादकता है। बड़ी परियोजनाओं के क्रियान्वयन में होने वाली भारी देरी और लागत-वृद्धियां इस कम उत्पादकता का एक अच्छा सूचक हैं। नीचे की तालिका में सार्वजनिक क्षेत्र की 63 परियोजनाओं में हुई देरी को दिखाया गया है जिससे लागत में (जनवरी 1991 तक) 100 करोड रुपये या इससे भी अधिक की वृद्धि हुई। ये सभी परियोजनाएं 1988 से पहले आरंभ की गयी थी।

भारत की 63 परियोजनाओं में हुई देरी का बारंबारता बंटन

| *देरी (महीनों में)* | *परियोजनाओं की संख्या* |
|---|---|
| कोई देरी नहीं | 12 |
| 1-12 माह | 10 |
| 13-24 माह | 18 |
| 25-36 माह | 12 |
| 36 माह से अधिक | 11 |
| योग | 63 |

*स्रोत* : भारत सरकार, कार्यक्रम क्रियान्वयन मंत्रालय

दीर्घकालिक वाणिज्यिक ऋणों में से अधिकांश की अदायगी 5 से 8 वर्षों में करनी होती है। सार्वजनिक क्षेत्र की अधिकांश बड़ी परियोजनाओं का परिपक्वता काल, मूल समय-सारणी के अनुसार, कम से कम 4 या 5 वर्ष होता है। अगर इन परियोजनाओं में और देरी होती है तो नतीजा यह होता है कि किसी परियोजना से कोई वित्तीय या अन्य लाभ प्राप्त हो, इसके पहले ही अदायगी का पूरा बोझ सरकार को उठाना पड़ता है। वाणिज्यिक उत्पादन आरंभ करने के बाद भी ये परियोजनाएं निर्यात में बहुत कम योगदान करती हैं–इस तथ्य के कारण ऋण-सेवा की समस्या और भी जटिल हो जाती है।

भविष्य में वाणिज्यिक ऋण लेते समय हमें बहुत अधिक चयनात्मक दृष्टिकोण का परिचय देना होगा। विदेशी तरलता की आवश्यकताओं (जो आज अपरिहार्य हो चुकी हैं) को पूरा करने के लिए ऋण लेने के अलावा, केवल कम परिपक्वता काल वाली निर्यातोन्मुखी परियोजनाओं के वित्तीयन के लिए ही हमें विदेशी वाणिज्यिक ऋण लेने की बात सोचनी चाहिए। कम पूंजी-निर्गत अनुपात और अधिक निर्यात–हमें इन दोनों शर्तों को पूरा करना ही होगा।

संक्षेप में, वर्तमान दशक में भारत को ऐसे साधन निकालने होंगे कि भुगतान-संतुलन मे अधिक क्षमता की स्थिति प्राप्त की जा सके। भुगतान-संतुलन की जैसी नियमित और स्थायी समस्याएं पिछले 35 वर्षो में आती रही हैं, वे अपरिहार्य नहीं है। इस समस्या के समाधान की एक नयी रणनीति निकालने और 'विकास-आयोजना को भुगतान-संतुलन के परिहार्य त्रास से मुक्त करने के' सिलसिले में बहुत सारे अतर्राष्ट्रीय अनुभव हैं जो हमारे नीति-निर्माताओं का मार्गदर्शन कर सकते हैं।[74] सौभाग्य से हमारे भुगतान-संतुलन में जो सुधार आवश्यक है, वह अंतर्राष्ट्रीय मानदंडों के अनुसार बहुत साधारण है। यह स. घ. उ. के 1 से 1.5 प्रतिशत से अधिक नही है। इसके कारण अगले दो-तीन वर्षों में, खासकर राजकोषीय क्षेत्र में, बहुत अधिक प्रयासो की आवश्यकता पड़ेगी। वैसे भी, यह प्रयास भारत के विकास की एक और प्रमुख बाधा अर्थात् बचत संबंधी कठिनाई को दूर करने के लिए भी आवश्यक है। यह घरेलू विक्रय के मुकाबले निर्यातों के पक्ष में नीतियों का संतुलन बदलने के लिए भी आवश्यक है। यह कार्य स्थापित औद्योगिक संरचना को नष्ट किए बिना भी किया जा सकता है। जैसाकि कोरिया समेत कई दूसरे देशों के अनुभवो से पता चलता है, विद्यमान औद्योगिक क्षमता को ही पलटकर और प्रोत्साहन-सरचना में उपयुक्त परिवर्तन करके निर्यातों की वृद्धि को सहारा दिया जा सकता है। फिलहाल, बाहरी वित्तीयन की बाध्यताओं को देखते हुए, सबसे कम जोखिम की रणनीति यह है कि पहले निर्यात बढ़ाए जाएं और फिर आयातों के उदारीकरण की बात सोची जाए न कि इसका विपरीत कार्य किया जाए। प्रशुल्क प्रणाली को सरल बनाया जाए और क्षमता से संबद्ध लाइसेंस प्रणाली के उन्मूलन समेत प्रशासकीय प्रकार के हस्तक्षेपों

में कमी की जाए तो निर्यात बढ़ाने का काम और आसान हो जाएगा। उच्च ऋण-निर्यात अनुपात को देखते हुए विदेशी वाणिज्यिक ऋणों से अंतर्मुखी पूंजीप्रधान निवेशों के वास्ते धन जुटाने की अब और गुंजाइश नहीं बची है।

## टिप्पणियां

1. किसी वर्ष विशेष के भुगतान-संतुलन की समस्या के एक मोटे माप के रूप में दो कसौटियो का प्रयोग किया गया . उस वर्ष विशेष में चालू लेखा घाटा 1 प्रतिशत से अधिक हो और विदेशी मुद्राभडार तीन माह के आयातों का बोझ उठाने के लिए भी पर्याप्त न हो।

2 1976-77 से 1979-80 तक (दूसरे काल में) चालू लेखा घाटा स घ. उ. के 1 प्रतिशत से कम था और मुद्राभंडार तीन माह से भी अधिक के आयातों का बोझ उठा सकता था। दूसरी ओर, पहले और तीसरे कालों में चालू लेखा घाटा स. घ. उ के 1 प्रतिशत से अधिक रहा। फिर भी, इन दोनों कालों में कुछ वर्ष ऐसे थे जब मुद्राभंडार तीन माह से अधिक के आयातो का बोझ उठा सकता था। लेकिन भुगतान-संतुलन की अंतर्निहित स्थिति कठिनाई भरी रही।

3. ये आंकड़े संगत वर्षों के लिए मुद्रा और वित्त पर भारतीय रिजर्व बैंक की रिपोर्टों से लिए गए हैं।

4 भारत मे इस व्यवस्था को आमतौर पर 'नकारात्मक सूची' की प्रणाली कहते हैं अर्थात् इस सूची में दर्ज वस्तुओ पर तो प्रतिबंध लागू होते है मगर जो वस्तु इस सूची में नहीं होती वह इन प्रतिबंधों से मुक्त होती है। इस काल में आयात-निर्यात नीति के परिवर्तनो की विस्तृत विवेचना के लिए वुल्फ (1982. पृ. 115-19) देखें।

5. लेकिन औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली के परिवर्तनो का समग्र प्रभाव स्पष्ट नहीं है। कुछ क्षेत्रो में हुए उदारीकरण के साथ अन्य क्षेत्रों मे प्रतिबंध और भी बढा दिए गए। मिसाल के लिए, लघु उद्योग क्षेत्र के भौतिक आरक्षण में भारी विस्तार किया गया। वुल्फ (1982. पृ. 72) देखें।

6 व्यापार घाटे के ये आंकडे भुगतान के आधार पर है, जैसे कि वे भारतीय रिजर्व बैक द्वारा दिए गए है। ये वाणिज्यिक आसूचना एवं साख्यिकी महानिदेशालय द्वारा दिए गए व्यापार सबधी आकड़ों से भिन्न है जो माल की लदाई से संबंधित सीमाशुल्क के आंकड़ों पर आधारित होते हैं।

7. तेल की कीमतो के कारण लगे दो झटको के बाद भारत के भुगतान-संतुलन संबंधी विकासक्रमों के विस्तृत विवरण के लिए अहलूवालिया (1986) देखें।

8. इस काल मे भुगतान-संतुलन संबंधी विकासक्रमों के विस्तृत विवरण के लिए रंगराजन (1990) देखें।

9. इस काल में भारतीय ऋणों पर देय ब्याज की अदायगियों में जो वृद्धि हुई, उसका प्रभाव 1985-86 से 1988-89 तक के काल के 'निवेश आय' लेखे पर निवल भुगतान की तीव्र वृद्धि में परिलक्षित होता है (तालिका 4 3 देखें)।

10. कर्जों और ऋण-सेवा के भुगतानों से संबंधित शर्तों पर ये आंकड़े विश्व बैंक के *वर्ल्ड डैट टेबिल्स*, 1990-91 से लिए गए हैं।

11 भारत के ऋण संबंधी ये आंकड़ें भी विश्व बैक के *वर्ल्ड डेट टेबिल्स*, 1990-91 से लिए गए हैं।

12. तुलनीय आधार पर, संवितरण (डिस्बर्समेंट) के ये आंकड़े विश्व बैंक के स्रोतों से लिए गए हैं।

13. पियर्सन आयोग की रिपोर्ट *पार्टनर्स इन डवलपमेंट* (न्यूयार्क : प्रेगर, 1969) देखें।

14. इस विषय पर आधिकारिक अकादमिक कार्य बहुत कम हुआ है। यह बहस मुख्यतः समाचारपत्रों के पृष्ठों मे चली है और राजनीतिक रंग लिए हुए है। 'वामपंथी' राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री आमतौर पर उदारीकरण का विरोध करते हैं (लेकिन आवश्यक नहीं कि जिस बात का वे विरोध करते है, उसकी सटीक परिभाषा भी वे करते हों)। राजनीतिक रंगमच के 'बीच' या 'दक्षिण' में खड़े लोग आमतौर पर उदारीकरण के समर्थक हैं। लेकिन वे साथ ही साथ घरेलू उद्योगो के लिए आत्यंतिक संरक्षण का और कीमत-निर्धारण तथा आबंटन के मार्गदर्शन में पूर्ण राजकीय हस्तक्षेप का भी समर्थन करते है।

15. औद्योगिक उत्पादन (पंजीकृत क्षेत्र) के मूल्यों के लिए राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी तथा पूंजीगत मालों और औद्योगिक कच्चे मालों के आयातों के मूल्य के लिए वाणिज्यिक आसूचना एवं सांख्यिकी महानिदेशालय के आकड़ो के आधार पर, भारत सरकार के अप्रकाशित अनुमानों के अनुसार, औद्योगिक उत्पादन की आयात-प्रधानता 1973-74 मे 10.6. 1981-82 में 15.7 और 1987-88 में 11.2 प्रतिशत थी।

16. वास्तव में, यह 'सच्चे' उदारीकरण के समर्थकों की खास शिकायत है। उदाहरण के लिए, वुल्फ (1982). हैरिस (1987). केलकर आदि (1990) देखे।

17. सातवें दशक में सभी आयातो के लिए लाइसेंसो की सख्त जरूरत होती थी। तब विस्तृत प्रशासनिक छानबीन आमतौर पर केवल यह सुनिश्चित करने के लिए की जाती थी कि ये आयात 'वास्तविक' उत्पादन के लिए आवश्यक हों और घरेलू उद्योगो के साथ प्रतियोगिता करने वाले न हों।

18. उदाहरण के लिए, 1989 में भारत का ऋण-सेवा अनुपात 26.3 प्रतिशत था जबकि ब्राजील के लिए यह 1982 में 81.3 प्रतिशत था। विश्व बैंक, *वर्ल्ड डेट टेबिल्स*, 1990-91 देखें। लेटिन अमरीका की स्थिति के और विस्तृत विवरण के लिए डोर्नबुश (1989) देखे।

19. वाणिज्यिक ऋणों को विवेकसम्मत सीमाओं में रखने की आवश्यकता नवें दशक के आरंभ से ही, सरकार के दूसरे अनेक दस्तावेजों में स्वीकार की जाती रही है जिनमें छठी और सातवीं योजनाएं शामिल हैं।

20. विश्व बैंक समेत अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के ये अध्ययन अप्रकाशित हैं।

21. इस खंड में निर्यात संवृद्धि के जो आंकड़े दिए गए हैं, वे सीमाशुल्क की प्राप्तियों के आधार पर वा. आ. एवं सां. महानिदेशालय द्वारा दिए गए है। ये भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा दिए गए आंकड़ों से भिन्न हैं।

22. ये सभी आंकड़े मिश्र (1991) से लिए गए हैं। यह अध्ययन अभी प्रकाशित नहीं हुआ है।

23. भगवती और देसाई (1970) तथा पंचमुखी (1978) देखें। अप्रकाशित स्रोतों को छोड़ दें तो हाल के वर्षों के लिए भारतीय उद्योगों को प्राप्त संरक्षण की प्रभावी दरों पर तुलनात्मक अध्ययन उपलब्ध नहीं है।

24. विश्व बैंक का अनुमान। जवाबी उत्पादन शुल्क का भार इन आंकड़ों में शामिल नहीं है। जवाबी शुल्क को जोड़कर औसत प्रशुल्क का अनुमान 142 प्रतिशत का है।

25. नवें दशक के मध्य में, संरक्षण की प्रभावी दरें कृत्रिम रेशों के लिए 162 प्रतिशत से लेकर इलेक्ट्रानिक वस्तुओं पर 92 प्रतिशत और एल्यूमिनियम उत्पादो पर (–) 16 प्रतिशत तक थीं। दिलचस्प बात यह है कि हाथ से इस्तेमाल किए जाने वाले औजारों और साइकिलों पर प्रभावी संरक्षण की दरें क्रमश 33 और 24 प्रतिशत थीं। केलकर और कुमार (1990) ने बताया है कि पूंजीगत मालों के धातु-आधारित क्षेत्रों, अन्य अभियांत्रिक उद्योगों, परिवहन आदि को बहुत कम या नकारात्मक सरक्षण प्राप्त रहा है। यह इस तथ्य के बावजूद है कि योजनाओं में पूंजीगत मालो के उत्पादन को हमेशा ही सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती रही है। दूसरी ओर, रसायन-आधारित उद्योगों को प्राप्त संरक्षण की दरें बहुत अधिक रही है हालांकि उनको कम प्राथमिकताप्राप्त माना जाता रहा है। नतीजा यह हुआ कि रसायन उद्योगों की संवृद्धि-दरें बहुत अधिक रहीं जबकि अभियांत्रिक क्षेत्र की सवृद्धि कम रही।

26. प्रभावी संरक्षण की ये औसत दरे विश्व बैंक के स्रोतों से ली गयी है। विभिन्न प्रकार के टी. वी. सेटो के उत्पादन के जो मूल्य रहे है उनके अनुसार इन औसत प्रभावी दरों को भारित किया गया है।

27. व्यापार शर्तों संबंधी विवाद और इस प्रश्न पर प्राप्त साख्यिकीय परिणामो की विस्तृत विवेचना के लिए बलासा (1990) देखें। साथ में, लच (1980) भी देखें।

28. भारत के लिए महलनवीस (1953) का बंद अर्थव्यवस्था का मॉडल लोच सबंधी निराशावाद का एक आत्यतिक दृष्टांत था।

29 गैलहर और राबिंसन (1953. पृ. 4) का तर्क यह था कि, "उत्तरदायी सरकार, कोई अलगाववादी उपकरण होने के बजाय, ब्रिटिश हितो की देखभाल की प्रत्यक्ष विधियो की दिशा मे एक परिवर्तन मात्र थी। औपचारिक राजनीतिक बंधन में उपयुक्त समय पर ढील देकर यह सभव था कि उपनिवेशों को ब्रिटेन से जोडे रखने के लिए आर्थिक निर्भरता और आपसी सद्भावना का सहारा लिया जा सके और साथ ही उनको और अधिक ब्रिटिश प्रसार के एजेंटो के रूप में प्रयुक्त किया जा सके।"

30. अंतर्मुखी रणनीति की राजनीतिक-आर्थिक व्याख्याओं के लिए हर्शमैन (1968) और फिंडले (1986) भी देखें।

31. तथाकथित 'निर्यात संबंधी निराशावाद की दूसरी लहर' औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं के संरक्षणवादी खतरे पर आधारित है। दूसरे तर्क श्रमबाजार में अपूर्णताओं की उपस्थिति पर (फील्ड्स, 1984) और विकासशील देशों में संसाधनों के संचलन की असम्यता पर (भगवती, 1988 ब) आधारित हैं।

32. व्यापार-संवृद्धि संबंध के विभिन्न पक्षों पर उपलब्ध सैद्धांतिक साहित्य और अनुभवाश्रित साक्ष्यों की अधुनातन समीक्षाएं भगवती (1988 ब), बलासा (1990), डिनस (1990), मायर (1990) और सुंदरन (1990) में उपलब्ध हैं।

33. लिटिल, शितोव्स्की और स्काट (1970). क्रूगर (1978, 1982) और भगवती (1978) देखें।

34. मिसाल के लिए, दियाज़-अलेजांद्रो (1970) देखें। पेरों के शासनकाल में अर्जेंटीना की आर्थिक नीतियों पर टिप्पणी करते हुए दियाज़-अलेजांद्रो ने (पृ 138 पर) यह बात कही थी : "1930 और खासकर 1943 से, अर्जेंटीना के आर्थिक इतिहास का अध्ययन औद्योगीकरण का आरंभ करने वाले देशों के योजनाकारों के लिए आवश्यक होना चाहिए। यह विकास की प्रक्रिया में उस समय उठने वाले खतरों का एक नाटकीय उदाहरण है जब निर्यातयोग्य वस्तुओं, आयातयोग्य वस्तुओं और घरेलू मालों के उत्पादनों को संतुलित रखने के प्रति उपेक्षा बरती जाती है। किसी अर्थव्यवस्था में अगर विनिमय संबंधी गंभीर कठिनाइयां हों तो, जैसाकि अर्जेंटीना के उदाहरण से स्पष्ट है, 20 प्रतिशत तक की सकल बचत दर भी द्रुत संवृद्धि नहीं ला सकती।"

35. जैसे, जापान के अध्ययन में लाकवुड (1954) व्यापार को 'अधिगम (लर्निंग) का राजमार्ग' बताते हैं। हेबरलर (1959) ने व्यापार को "प्रौद्योगिक जानकारी के प्रेषण का सबसे महत्वपूर्ण साधन" माना है।

36. 'दो अंतरालों' के सिद्धांत की अनेकों व्याख्याएं और विस्तारित रूप उपलब्ध हैं। विभिन्न मॉडलों की विवेचना के लिए ब्लिस (1990) देखे।

37 यहां यह कह दिया जाए कि चेनरी और उनके सहयोगियो ने आयात-प्रतिस्थापन और निर्यात-संवर्धन की शब्दावली का प्रयोग एक भिन्न ढग से किया है। उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग उत्पादन की प्रेक्षित सवृद्धि का विघटन उन घटको में करने के लिए किया है जिनका कारण निर्यात-सवर्धन, आयात-प्रतिस्थापन और अन्य श्रेणियों को वताया जा सकता है (चेनरी आदि, 1962)।

38. विश्व वैंक (1987. पृ 78) देखें। व्यापार रणनीति के अनुसार देशों के वर्गीकरण के लिए विश्व बैक द्वारा जिस पद्धति का उपयोग किया गया है, उसकी समालोचना के लिए हेलाइनर (1990) देखें।

39. विकास-अर्थशास्त्र अनुसधान के विश्व संस्थान के अध्ययन के निष्कर्षो के लिए टेलर (1988) देखें।

40. व्यापार के सिद्धांतशास्त्रियों ने निर्यातोन्मुखी या बहिर्मुखी रणनीतियों की परिभाषा यह की है कि इनमें किसी देश के निर्यातों के लिए विनिमय की औसत प्रभावी दर ($EER_x$) उस देश के आयातों के लिए विनिमय की औसत प्रभावी दर ($EER_m$) के बराबर होती है, जिनमें सारे शुल्कों, करों, सहायिकियों आदि को शामिल कर लिया जाता है। सिद्धांत रूप में, यह शर्त प्रशुल्क-सह-सहायता की उस व्यवस्था में पूरी हो सकती है जिसमें आयातों पर प्रभावी प्रशुल्क निर्यातों पर प्रभावी सहायिकियो के बराबर हों, भले ही इन प्रशुल्कों और सहायिकियों की दरें बहुत ऊंची हों। इस स्थिति को आयात उदारीकरण की नीति से भिन्न समझना चाहिए जिसमें आयातो पर औसत प्रभावी प्रशुल्को में कमी की जाती है और अर्थव्यवस्था में आयातों का अधिक प्रवेश होने दिया जाता है।

41. सामान्यत. आयात उदारीकरण के कार्यक्रमों में पूंजी बाजारो मे तथा घटक बाजारों में सरकार द्वारा सभी प्रकार के वाजारी हस्तक्षेप मे कमी और सरकारी करों तथा व्यय के स्तरों में कमी शामिल होती है।

42. उदारीकरण की नीति के विरोध में मुख्य सैद्धांतिक तर्कों के परिचय के लिए हैमिल्टन (1989) भी देखें।

43. इन 'अपारंपरिक' आघात के पैकेजों में आमतौर पर वेतन-जाम, कीमत-जाम, विनिमय दर को जाम करने और ब्याज दरों पर सीमा लगाने आदि उपायों समेत विभिन्न संरचनावादी उपाय शामिल होते हैं। इनमें से कोई भी प्रयोग सफल या जारी रखने योग्य सिद्ध नहीं हुआ है। इनके कुछ दृष्टांतों के लिए टेलर (1988. पृ. 121-33) देखें। और भी हाल में, आघात चिकित्सा मौद्रिक स्थिरीकरण और उदारीकरण के पैकेजों का भी अंग रही है। ऐसा एक पैकेज ब्राजील मे 1990 में राष्ट्रपति कोलर द्वारा आरंभ किया गया था जिसमें एक साहसिक कदम उठाकर बैंकों की जमाराशियों और मुद्रा आपूर्ति मे भारी कमी कर दी गयी थी। भारी बेरोजगारी के कारण तथा थोड़े समय तक कमी के बाद मुद्रास्फीति की दर में हुई वृद्धि के कारण, यह पैकेज भी कठिनाइयों का शिकार हो चुका है।

44. *दि इकानमी आफ दि यू. एस. एस. आर* · समरी एंड रिकमेंड्शंस (वाशिंगटन, डी. सी., 1990, पृ. 16-18) देखें। यह अध्ययन सात औद्योगिक देशों द्वारा हाउस्टन आर्थिक शिखर सम्मेलन मे की गयी प्रार्थना पर अ. मु. कोष, विश्व बैंक, आर्थिक सहयोग तथा विकास संगठन और यूरोपीय पुनर्निर्माण-विकास बैक द्वारा संयुक्त रूप से किया गया था।

45. लिटिल, शितोव्स्की और स्काट (1970) में 'प्राब्लम्स आफ ट्रांजिशन' का अध्याय 10 देखें। दियाज़-अलेजांद्रो (1975, पृ. 133-34) भी देखें।

46. उदाहरण के लिए, राष्ट्रपति गोर्बाचोव के आर्थिक सलाहकार ने कहा है कि सोवियत संघ में अपेक्षाकृत साधारण सुधारों से भी उत्पादन में 40 से 50 प्रतिशत तक की गिरावट आ सकती है। यह इस कारण होगा कि उद्यमों और केंद्र सरकार के बीच एक दृढ़ता से संबद्ध आर्थिक सरचना विद्यमान है। इस संरचना की जगह कोई वैकल्पिक कारगर संरचना विकसित किए बिना ही इसे झकझोर दिया गया है। 1990-91 के लिए अपने वार्षिक सर्वेक्षण में यूरोप के लिए संयुक्त राष्ट्र आर्थिक आयोग ने भी आर्थिक पुनर्रचना में 'भारी धमाके' का दृष्टिकोण अपनाने से सावधान किया है। 1990 में, सेवाओं को छोड़कर, सभी वस्तुओं का उत्पादन पूर्वी यूरोप में 11 और सोवियत संघ मे 4 प्रतिशत गिरा। इस सर्वेक्षण मे 1991 में बेरोजगारी में भारी बढ़ोतरी की भविष्योक्ति की गयी है जिससे और भी सामाजिक-राजनीतिक तनाव उत्पन्न होंगे (*फाइनांशियल टाइम्स*, लंदन के 27 मार्च और 5 अप्रैल के अकों में प्रकाशित रिपोर्ट)।

47. 'भारी' असंतुलन क्या है, यह भी भिन्न-भिन्न देशों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है। मिसाल के लिए, अगर कोई देश 50 या 100 प्रतिशत मुद्रास्फीति का अभ्यस्त हो और विभिन्न सामाजिक वर्ग इससे तालमेल बिठा चुके हों तो मुद्रास्फीति की दर में कमी का कोई आमूल कार्यक्रम वहां उतना ही अस्वीकार्य हो सकता है जितना 7-8 प्रतिशत मुद्रास्फीति के 'अभ्यस्त' किसी और देश में।

48. भुगतान के आधार पर, 1990-91 में, चालू लेखा घाटा कोई 10,000 करोड़ रुपये था (यह व्यापार सांख्यिकी पर आधारित मोटा अनुमान है क्योंकि इन पंक्तियों को लिखते समय भुगतान-संतुलन के आंकड़े उपलब्ध नहीं थे)। निवल विदेशी सहायता की आमद लगभग 4000 करोड़ रुपये थी। इन दोनों संख्याओं का अंतर स. घ. उ. के लगभग 1.2 प्रतिशत के तुल्य था। वाणिज्यिक ऋणों और अनिवासी भारतीयों की अन्य जमाराशियों की निवल आमद को शून्य मान लें तो भी स. घ. उ. के 1.2 प्रतिशत तक का सुधार मुद्राभंडार को वर्तमान स्तर पर बनाए रखने में

सफल होगा। वाणिज्यिक ऋणों की सकारात्मक आमद से या चालू लेखा घाटे में थोड़ी और कमी होने पर कुछ और मुद्राभंडार बना सकना संभव होगा।

49. पांचवीं योजना के दौरान, तेल के घरेलू उत्पादन में वृद्धि और उपभोग की कम सवृद्धि के कारण, आयातों में पर्याप्त बचत की जा सकी।

50. भारतीय रिजर्व बैंक (1990, पृ. 119-25) देखें।

51. भारत सरकार, *इकनामिक सर्वे*, 1989-90, पृ. 120 देखें। 1985-86 और 1989-90 (सितंबर, 1990 तक) के कालो में 13,300 करोड़ रुपयों के कुल अनुमोदनों में से लगभग 12,000 करोड़ रुपयों के अनुमोदन सार्वजनिक क्षेत्र से सबंधित थे जिनमें सार्वजनिक वित्तीय संस्थाएं भी शामिल थीं।

52. गैर-पेट्रोलियम वस्तुओं का उत्पादन करने वाले सार्वजनिक उद्यमों का निर्यात उनके कुल विक्रय का लगभग 2 प्रतिशत था। यह सभी विनिर्माण उद्योगों के औसत निर्यात से बहुत कम था (जो स्वयं भी बहुत कम अर्थात् विक्रय का 5 प्रतिशत था)। भारत सरकार (1990), *पब्लिक इंटरप्राइजेज सर्वे*, 1989-90, हाइलाइट्स, पृ. 29 देखें।

53. जापान, ताइवान और कोरिया की राजकोषीय नीतियो तथा उनके भुगतान-संतुलन पर इन नीतियों के प्रभाव के विवरण के लिए सैक्स (1987) देखें।

54. पोलक के मॉडल और उसके विस्तारित संस्करणो की पूरी-पूरी विवेचना के लिए अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (1987) देखें। भुगतान-संतुलन के प्रति राजकोषीय और मौद्रिक दृष्टिकोणो की गणितीय विवेचना और कुछ अनुभवाश्रित परिणामों के बारे में बार्टोली (1989) देखे। पोलक के मॉडल की समालोचना के लिए टेलर (1988, पृ. 154-64) भी देखें।

55. लोकसभा में 27 दिसंबर 1990 को वित्तमंत्री द्वारा दिया गया वक्तव्य। याद रखें कि 1990-91 में वास्तविक घाटा स. घ. उ. का 8.6 प्रतिशत था न कि 8.3 प्रतिशत जैसाकि दिसंबर, 1989 में अनुमान लगाया गया था।

56. भारत के लिए राष्ट्रीय व्यावहारिक अर्थशास्त्र अनुसंधान परिषद के मॉडल की विनिर्दिष्टियां (स्पेसिफिकेशंस) सरकार और पंडा (1990) में उपलब्ध हैं।

57. इस आकलन की मोटे तौर पर ही व्याख्या की जानी चाहिए। कारण कि भारतीय अर्थव्यवस्था के अन्य मॉडलों की तरह रा. व्या. अ. अ. परिषद के मॉडल में भी बाह्य क्षेत्र की विनिर्दिष्टि बहुत सीमित है। यहां यह माना गया है कि राजकोषीय संकुचन मुख्यतः घरेलू मुद्रास्फीति की दर और स. घ. उ. की संवृद्धि को कम करके ही भारतीय आयातों को प्रभावित करता है। निर्यातों पर राजकोषीय समायोजन का मुख्य प्रभाव संभवतः मुद्रास्फीति की घरेलू दर के गिरने और कम घरेलू मांग के कारण निर्यातयोग्य अधिशेष के बढ़ने के कारण ही पड़ता है। इसलिए राजकोषीय संकुचन के प्रभाव भारतीय आयातो और निर्यातों की कीमत सापेक्षताओं और आय सापेक्षताओं से संबंधित मान्यताओं पर निर्भर होते हैं।

58. पोलक के मॉडल के अतिवादी संस्करणों में राजकोषीय घाटे मे कमी करने पर भुगतान-संतुलन में एकमएक (वन-फॉर-वन) सुधार होना चाहिए।

59. विस्तृत विवरण के लिए भारत सरकार, *इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट पालिसी फ्रॉम 1991-90 टू 1992-93* (तीन जिल्दों में) देखें।

60. पुन:पूर्ति लाइसेंसों के बाजारी प्रीमियम पर व्यवस्थित आंकड़े उपलब्ध नहीं है। बताया गया है कि नवे दशक मे आयातो के उदारीकरण के बाद ये प्रीमियम आमतौर पर थोड़े ही अर्थात् लाइसेस के मूल्य के 7 या 8 प्रतिशत के लगभग रहे हैं। औसतन इस प्रोत्साहन का नकद मूल्य निर्यातो के मूल्य के 1 प्रतिशत से भी कम रहा है। लेकिन खाड़ी युद्ध तथा आयात पर लगे नए प्रतिबंधों के बाद इस स्थिति में नाटकीय परिवर्तन आया। अखबारी रिपोर्टों के अनुसार, सितंबर 1990 के बाद इन लाइसेसों पर प्राप्य प्रीमियम बढ़कर 30 प्रतिशत हो गया।

61. 'जवाहरात और आभूषण' एक विशेष श्रेणी मे आते है। कारण कि ये पूरी तरह आयातों पर निर्भर होते हैं और भारत में केवल उनका प्रक्रमण और फिनिशिंग किया जाता है। इस क्षेत्र के लिए जारी किए जाने वाले पुन पूर्ति लाइसेसो को प्रस्तावित योजना के दायरे से बाहर ही रखना होगा। पाठ में वास्तविक उपयोगकर्ता और पुन-पूर्ति लाइसेंसों के जो आंकड़े दिए गए हैं, उनमे पूंजीगत मालो के लाइसेंस, अग्रदायों (इम्प्रेस्ट्स) और निर्यातकों के लिए जारी अग्रिम लाइसेंस तथा कुछ और श्रेणिया शामिल नहीं है।

62 एक अप्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार, 20 प्रतिशत आयातों को वर्गीकरण की उस सुमेलित प्रणाली मे वर्गीकृत करना तक संभव नहीं है जिसका प्रयोग कस्टम अधिकारी करते हैं।

63 जैसाकि सर्वविदित है, 1966 का रुपये का अवमूल्यन भारत में भारी विवाद का विषय बन गया था। कारण कि यह विश्वास किया जाता था कि यह कार्य बाहरी दबाव के अधीन किया गया है। समय के गलत चुनाव (सूखे के समय किए जाने) के कारण तथा आयात उदारीकरण के लिए पर्याप्त वित्तीय सहायता न मिलने के कारण वह कदम अप्रभावी सिद्ध हुआ (डेनून, 1986 देखें)।

64. विनिमय दर का प्रबंधन भारत की आर्थिक नीतियों का एक अन्य क्षेत्र है जिस पर शोधकार्य कम हुआ है। रुपया जिन मुद्राओं से जुड़ा हुआ है, उनकी सूची गुप्त रखी गयी है तथा विनिमय दर के समायोजन के लिए प्रयुक्त चरो का हमें कोई ज्ञान नहीं है।

65. तालिका 4.3 और 4.8 के लिए मै ओ पी. शर्मा का आभारी हूं।

66. गैर-बैंकीय स्रोतो के माध्यम से अन्य मुद्राओ से रुपये का विनिमय जिस 'अनधिकृत' दर पर किया जा सकता है, उसे भारत में अक्सर 'हवाला' दर कहा जाता है। समय के साथ-साथ इस दर के उतार-चढाव के बारे में कोई व्यवस्थित प्रकाशित सूचना उपलब्ध नहीं है। समाचारपत्रों की रिपोर्टों के अनुसार, हाल में रुपये की अनधिकृत विनिमय दर अधिकृत दर से 20-25 प्रतिशत अधिक रही है। विस्वास और नंदी (1986) ने भारत में 1954-80 के काल में मुद्रावादी ढांचे के भीतर अधिकृत विनिमय दर के दीर्घकालिक व्यवहार की पड़ताल की है। उनका निष्कर्ष यह है कि घरेलू बाजार में असंतुलन उत्पन्न होने पर अनधिकृत विनिमय दर पर भी उत्प्रवाही (स्पिल-ओवर) प्रभाव पडता है। अनधिकृत विनिमय दर के व्यवहार की भविष्योक्ति से जुड़े सैद्धांतिक प्रश्नो की विवेचना के लिए पैटन कल्बर्टसन (1989) भी देखें।

67 विदेशी मुद्रा के गैरकानूनी लेनदेनों की उत्पत्ति पर व्यापार व्यवस्थाओं के प्रभाव के बारे में भगवती और अन्य लोगो ने कुछ अग्रगामी शोधकार्य किया है। इस शोधकार्य से इस बारे में हमारी समझ बढ़ी है कि गैरकानूनी बाजारों का कार्यकलाप कैसे और क्यों चलता है। यह भी सभव है कि आयात और विनिमय-नियंत्रण जिन व्यापार व्यवस्थाओं की विशेषताएं हैं, वे भ्रष्टाचार और कर चोरी की अधिक शिकार हों। फिर भी (अगर इन नियंत्रणों का उन्मूलन संभव न हो तो)

'दूसरी सर्वोत्तम' या तीसरी सर्वोत्तम स्थिति में इन प्रभावों को यथासंभव कम करने के बारे में क्या किया जा सकता है, यह स्पष्ट नहीं है। भगवती (1974) देखें। समानांतर बाजारों पर और भी हाल के साहित्य की समीक्षा के लिए जोंस और रोमर (1989) देखें।

68. चालू लेनदेन पर सहायता-सह-कर की प्रणाली विनिमय की बहुविध दरों के व्यवहार के समान होती है। जो भी हो, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुबंध के अनुच्छेदों में इसकी इजाजत नहीं दी गयी है।

69. सहायता के वितरण की तर्कसंगति और कसौटियों की विवेचना के लिए लिटिल और क्लिफोर्ड (1956) देखें। यह कृति अभी भी सहायता की आमद से जुड़े नीतिगत प्रश्नों की सबसे अधिक आधिकारिक विवेचनाओं में से एक है।

70. ऋण के संकटों से जुड़े सैद्धांतिक और नीतिगत प्रश्नों पर अच्छा-खासा साहित्य निश्चय ही उपलब्ध है। इसमें जर्नल आफ डवलपमेंट प्लानिंग (संयुक्त राष्ट्र संघ) का एक विशेषांक (अंक 16. 1985) भी शामिल है।

71. फिर भी, भारत को जितनी सहायता देने का वचन दिया जा चुका है, उसका उपयोग एक महत्वपूर्ण समस्या है। वित मंत्रालय के अनुसार मार्च, 1990 के अंत तक भारत के लिए स्वीकृत कुल सहायता में से 43,000 करोड़ रुपयों का उपयोग नहीं किया जा सका था। इसमे 16.000 करोड़ रुपये सोवियत संघ से मिले थे। सोवियत संघ से मिली सहायता के उपयोग में कुछ समस्याएं हैं। जहां तक दूसरी बहुपक्षीय और द्विपक्षीय सहायताओं का संबंध है, इनके संवितरण की प्रक्रिया में तेजी लाने के लिए आगे और कार्यवाही करने की गुंजाइश है। इस सहायता का काफी बड़ा भाग परियोजनाओं से नत्थी है। उनका उपयोग इन परियोजनाओं के क्रियान्वयन की गति पर निर्भर है।

72. वास्तविक प्रत्यक्ष निवेश के आंकड़े काफी समयांतराल के बाद उपलब्ध होते हैं। सरकार द्वारा दिए गए अनुमोदनों के आंकड़ों से पता चलता है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश 1987 में 107 करोड़, 1988 में 234 करोड़ और 1990 में 316 करोड़ रुपये था (भारतीय निवेश केंद्र, नई दिल्ली)।

73. हाल के वर्षों में, अंतर्राष्ट्रीय चलन यह रहा है कि ऋण-सेवा अनुपात की गणना के लिए इसमें वस्तुओं और सेवाओं, दोनों के निर्यातों को शामिल किया जाता है।

74. दियाज़-अलेजांद्रो (1975, पृ. 141) देखें।

## तालिका 4.1
## तीन उपकालों में समष्टिगत आर्थिक सूचकांक

| *समष्टिगत आर्थिक सूचकांक* | *इकाई* | *1956-57 से 1975-76* | *1976-77 से 1979-80* | *1980-81 से 1989-90* | *1989-90* |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. चालू लेखा घाटा | स. घ. उ. का प्रतिशत | 1.8 | −0.6 | 1.9 | 2.4 |
| 2. विदेशी मुद्राभंडार | आयातों का प्रतिशत | 20.5[1] | 57.9 | 28.9 | 14.7 |
| 3. निवल बाहरी सहायता | चालू लेखा घाटे का प्रतिशत | 91.8[2] | अ[3] | 36.7 | 21.7 |
| 4. आयात (डालर मूल्य) | वार्षिक संवृद्धि-दर | 9.6 | 22.3 | 8.4 | 7.5 |
| 5. निर्यात (डालर मूल्य) | वार्षिक संवृद्धि-दर | 8.7 | 12.5 | 8.7 | 20.1 |
| 6. राजकोषीय घाटा[5] | स. घ. उ. का प्रतिशत | 5.6[4] | 7.0 | 9.9 | 10.5 |
| 7. केंद्र का राजकोषीय घाटा[5] | स. घ. उ. का प्रतिशत | 4.3[4] | 4.7 | 7.5 | 8.0 |
| 8. मुद्रा की आपूर्ति | वार्षिक संवृद्धि-दर | 11.2 | 20.4 | 17.2 | 19.4 |
| 9. स. घ. उ. | वार्षिक संवृद्धि-दर | 3.9 | 2.3[6] | 5.6 | 5.2 |
| 10. औद्योगिक संवृद्धि | वार्षिक संवृद्धि-दर | 5.9 | 5.0 | 7.4 | 8.6 |
| 11. मुद्रास्फीति | स. घ. उ. के अप-स्फीतक में प्रतिशत परिवर्तन | 6.7 | 7.5[6] | 8.2 | 6.7 |
| 12. सकल घरेलू निवेश | स. घ. उ. का प्रतिशत | 16.0 | 21.2 | 22.1 | 24.1 |
| 13. सकल घरेलू बचत | स. घ. उ. का प्रतिशत | 14.1 | 21.8 | 20.2 | 21 7 |
| 14. वृद्धिक पूंजी-निर्गत अनुपात | | 4.1 | 9:2[6] | 3.9 | — |

टिप्पणी : 1. वर्ष 1957-58 से 1975-76 के लिए।

2. वर्ष 1956-57 से 1974-75 के लिए। 1975-76 में यह मान ऋणात्मक था।

3. अनाकलित। कारण कि 1976-77. 1977-78 और 1979-80 में चालू-लेखा घाटा ऋणात्मक था।

4. 1960-61 से 1975-76 के लिए।

5. राजकोषीय घाटे की गणना एक अवशेष के रूप में की जाती है। इसके लिए कुल सरकारी व्यय (पूंजीगत व्यय समेत) में से राजस्व की प्राप्तियों और ऋणों की वसूलियों को घटाया जाता है।

6. इस उपकाल में से सूखे के वर्ष (1970-80) को निकाल दें तो सकल घरेलू उत्पाद की संवृद्धि-दर, मुद्रास्फीति की दर तथा वृद्धिक पूंजी-निर्गत अनुपात के मान क्रमशः 4.7, 4.7, और 4.4 आते हैं।

स्रोत : संगत कालों के लिए भारत सरकार और भारतीय रिजर्व बैंक के विभिन्न प्रकाशनों से आकलित।

## तालिका 4.2
## निवल अदृश्य आय और व्यापार घाटों के वार्षिक उतार-चढ़ाव
## (करोड़ रुपयों में)

| वर्ष | निवल अदृश्य आय | व्यापार घाटा | अनुपात |
|---|---|---|---|
| 1973-74 | −104 | 510 | −20.4 |
| 1974-75 | +193 | 1287 | +15.0 |
| 1975-76 | +527 | 1183 | +44.5 |
| 1976-77 | +827 | 310 | +266.8 |
| 1977-78 | +1388 | 597 | +232.5 |
| 1978-79 | +1508 | 2212 | +68.7 |
| 1979-80 | +2486 | 3440 | +72.3 |
| 1980-81 | +3539 | 6211 | +57.0 |
| 1981-82 | +3356 | 6494 | +51.7 |
| 1982-83 | +3100 | 6719 | +46.1 |
| 1983-84 | +3216 | 6925 | +46.4 |
| 1984-85 | +3274 | 6721 | +48.7 |
| 1985-86 | +3323 | 9586 | +34 7 |
| 1986-87 | +2999 | 9354 | +32.1 |
| 1987-88 | +2471 | 9296 | +26.6 |
| 1988-89 | +2908 | 14003 | +20.7 |
| 1989-90 | +2700 | 13771 | +19.6 |

टिप्पणी : निवल अदृश्य आयों में सार्वजनिक अंतरण शामिल नहीं हैं।

स्रोत : भारतीय रिजर्व बैंक

## तालिका 4.3

### चालू खाते में अदृश्य आयों की औसत वार्षिक निवल प्राप्तियां

| मद | *1971-72 से 1973-74* | *1974-75 से 1979-80* | *1980-81 से 1984-85* | *1985-86 से 1988-89* |
|---|---|---|---|---|
| 1. विदेशी यात्रा | +23.4 | +385.0 | +852.4 | +1212.3 |
| | (19.9) | (32.3) | (25.8) | (36.3) |
| 2. परिवहन | +43.6 | +64.9 | +183.8 | −176.3 |
| | (37.2) | (5.4) | (−5.6) | (−5.3) |
| 3. बीमा | +2.3 | +10.6 | +12.3 | +4.1 |
| | (2.0) | (0.9) | (0.4) | (0.1) |
| 4. निवेश आय | −243.7 | −43.4 | −199.2 | −1602.8 |
| | (−207.8) | (−3.6) | (−6.0) | (−48.2) |
| 5. अन्यत्र अवर्गीकृत सरकारी आय | −2.6 | −14.9 | −19.9 | −41.5 |
| | (−2.2) | (−1.3) | (−0.6) | (−1.3) |
| 6. विविध | −33.9 | +19.6 | +374.3 | +123.6 |
| | (−28.9) | (1.6) | (11.3) | (3.7) |
| 7. अंतरण अदायगियां | +93.6 | +769.5 | +2464.0 | +3806.4 |
| | (79.8) | (64.6) | (74.7) | (114.4) |
| (अ) सार्वजनिक | −14.0 | +12.3 | 22.9 | +522.3 |
| | (−11.9) | (1.0) | (0 7) | (15.7) |
| (ब) निजी | +107.6 | +757.2 | +2441.1 | +3284.1 |
| | (91.7) | (63.6) | (74.0) | (98.7) |
| कुल निवल प्राप्तियां | −117.3 | +1191.3 | +3300.0 | +3325.8 |
| | (100.0) | (100.0) | (100.0) | (100.0) |

टिप्पणी : कोष्ठकों में दिए गये आंकड़े योग के प्रतिशत हैं।

स्रोत : वित्त मंत्रालय, आर्थिक सर्वेक्षण (विभिन्न अंक) और रिजर्व बैंक आफ इंडिया बुलेटिन (बंबई, फरवरी, 1991)

## तालिका 4.4
## आयात की संवृद्धि-दरें (प्रतिशत में)

| | *निवल तेल आयात (तेल आयात-तेल निर्यात)* | | *तेल छोड़कर अन्य आयात* | | *कुल आयात* | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | *रुपये में* | *एस. डी. आर. में* | *रुपये में* | *एस. डी. आर. में* | *रुपये में* | *एस. डी. आर. में* |
| 1985-86 | 21.0 | 11.7 | 25.1 | 15.5 | 14.7 | 5.9 |
| 1986-87 | −44.8 | −53.8 | 17.8 | −1.6 | 2.2 | −14.5 |
| 1987-88 | 43.8 | 29.7 | 6.0 | −4.4 | 11.5 | 0.6 |
| 1988-89 | 12 1 | −0.3 | 30.1 | 15.6 | 25.9 | 11.9 |
| 1989-90 | 49.1 | 29.9 | 22.3 | 10.3 | 25.6 | 13.2 |
| औसत वार्षिक संवृद्धि 1985-86 से 1989-90 | 15.2 | 3.4 | 20.3 | 7.1 | 16.0 | 3.4 |

स्रोत : 1988-89 तक के लिए रंगराजन (1990)। ये संवृद्धि-दरें वाणिज्यिक आसूचना एवं सांख्यिकी महानिदेशालय द्वारा जारी व्यापार-आंकड़ों पर आधारित हैं। आंकड़ों को अधुनातन बनाने के लिए भी इसी स्रोत का उपयोग किया गया है।

## तालिका 4.5
## गैर-तेल आयात की वार्षिक संवृद्धि-दरें (प्रतिशत में)

| | *1985-86* | *1986-87* | *1987-88* | *1988-89* | *1989-90* | *वार्षिक औसत 1985-90* |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कुल गैर-तेल आयात | 25.1 | 17.8 | 6.0 | 30.1 | 22.3 | 20.3 |
| इसके घटक इस प्रकार हैं : | | | | | | |
| 1. थोक उपभोग की वस्तुएं | 5.5 | −19.6 | 17.1 | 26.0 | −47.5 | −3.7 |
| 2. दूसरे थोक आयात | 28.9 | −6.4 | −16.9 | 45.4 | 40.0 | 18.2 |
| 3. पूंजीगत माल | 35.3 | 51.4 | −3.1 | 9.9 | 27.9 | 24.4 |
| 4. मुख्यतः निर्यातोन्मुख आयात | 15.9 | 20.7 | 15.4 | 56.1 | 32.2 | 28.1 |
| 5. अन्य | 25.7 | 21.7 | 46.6 | 28.8 | 11.9 | 26.9 |

स्रोत : तालिका 4.4 की तरह

## तालिका 4.6
## आयातों की संरचना : 1984-85 से 1989-90 तक (प्रतिशत वितरण)

| *सामुदायिक वर्ग* | *1984-85* | *1985-86* | *1986-87* | *1987-88 अं. सं.* | *1988-89 अं. स.* | *1989-90 अं. सं.* |
|---|---|---|---|---|---|---|
| 1. थोक आयात | 59.2 | 54.8 | 39.9 | 39.4 | 39.0 | 39.6 |
| (अ) तेल और पेट्रोलियम उत्पाद | 31.6 | 25.4 | 14.0 | 18.2 | 15.5 | 17.7 |
| (ब) गैर-तेल थोक उपभोग की वस्तुएं | 8.1 | 7.5 | 5.9 | 6.2 | 6.2 | 2.6 |
| (स) अन्य थोक मदें | 19.5 | 21.9 | 20.0 | 15.0 | 17.3 | 19.3 |
| 2. पूंजीगत माल | 18.5 | 21.8 | 32.3 | 28.0 | 24.5 | 24.9 |
| 3. मुख्यतः निर्यातोन्मुख आयात | 11.9 | 12.0 | 14.2 | 14 7 | 18.2 | 19.2 |
| 4. अन्य | 10.4 | 11.4 | 13.6 | 17.9 | 18.3 | 16.3 |
| योग | 100.00 | 100.00 | 100.00 | 100.00 | 100.00 | 100.00 |

टिप्पणी : अं. सं.=अंशतः संशोधित

स्रोत : तालिका 4.4 की तरह

## तालिका 4.7
## घरेलू और निर्यातों की लाभदायकता
## (घरेलू और निर्यात विक्रय पर सकल लाभ)

| | *1978-79* | *1979-80* | *1980-81* | *1985-86* | *1986-87* |
|---|---|---|---|---|---|
| | | | *कुल लागतों पर* | | |
| घरेलू लाभदायकता | 12.0 | 12.4 | 13.9 | 16.1 | 13.2 |
| निर्यात लाभदायकता (प्रोत्साहन बिना) | −15.4 | −12.7 | −11.2 | −27.3 | −17.0 |
| निर्यात लाभदायकता (प्रोत्साहन समेत) | 4.0 | 5.4 | 4.9 | −8.8 | −0.2 |
| | | | *परिवर्ती लागतों पर* | | |
| घरेलू लाभदायकता | – | – | – | 27.9 | 25.1 |
| निर्यात लाभदायकता (प्रोत्साहन बिना) | −5.2 | −2.8 | −1.6 | −11.5 | −2.2 |
| निर्यात लाभदायकता (प्रोत्साहन समेत) | 14.2 | 15.2 | 13.9 | 4.6 | 12.6 |

– : अनुपलब्ध

स्रोत : आई.सी.आई.सी.आई./विश्व बैंक

## तालिका 4.8
## योजना-अनुमानों से वास्तविक उपलब्धियों के अंतर, पहली से सातवीं योजना तक
## (प्रतिशत के रूप में)

| *योजना* | *निर्यात* | *आयात* | *व्यापार संतुलन* | *अदृश्य आय (निवल)* | *चालू लेखा (निवल)* |
|---|---|---|---|---|---|
| पहली | – | – | – | – | 12.2 |
| दूसरी | 1.6 | 38.0 | 116.7 | 29.8 | 136.5 |
| तीसरी | 4.1 | 3.5 | 2.3 | – | 0.9 |
| चौथी | −11.6 | 9.7 | 133.6 | −674.3 | 181.9 |
| पांचवीं | −26.0 | −46.8 | −113.2 | 167.8 | −133.9 |
| छठी | −15.1 | 10.7 | 70.2 | 38.6 | 100.6 |
| सातवीं | 7.8 | 38.9 | 93.5 | −31.6 | 185.0 |

– : अनुपलब्ध

स्रोत : पंचवर्षीय योजनाओं, भारत सरकार के आर्थिक सर्वेक्षण और संगत कालों के लिए भारतीय रिजर्व बैंक के बुलेटिनों से आकलित।

## 5

# अधिक बचत की नीतियां

हमने अध्याय 2 में कहा है कि भारत में दीर्घकालिक बचतों की उपलब्धि तीव्र संवृद्धि वाले देशों से घटिया रही है। यह उपलब्धि नवें दशक में खास तौर से खराब रही है। सकल बचत अनुपात लगभग गतिरुद्ध रहा और निवल बचत अनुपात में तो वास्तव में गिरावट आयी है। सार्वजनिक बचतों का व्यवहार निराशाजनक रहा है। कुल बचतों में इनका भाग कम होता गया है। रुपयों में, कुल बचत का परिमाण भी, स्थिर मूल्यों पर लें तो, गिरा है और चालू तथा स्थिर, दोनों मूल्यों पर निवल बचत नकारात्मक रही है (तालिका 5.1 और 5.2)। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, घरेलू बचत के अनुपात में प्रलक्षित गतिरोध का एक प्रमुख परिणाम यह हुआ है कि देश की पूंजी संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थव्यवस्था विदेशी वाणिज्यिक ऋणों पर अधिकाधिक निर्भर होती चली गयी है। यह प्रक्रिया अब आगे और जारी नहीं रखी जा सकती। यह स्पष्ट है कि निवेशों की उत्पादकता बढ़ाने के उपायों के अलावा घरेलू बचतों के अनुपात में पर्याप्त वृद्धि करना भी वर्तमान दशक में सतत संवृद्धि के लिए आवश्यक है।

## घरेलू बचतें

विकासशील देशों में बचत संबंधी व्यवहार का कोई संतोषप्रद आर्थिक सिद्धांत उपलब्ध नहीं है। बचत के व्यवहार का 'जीवनचक्र' सिद्धांत (एंडो और मोडिग्लियानी, 1963, और मोडिग्लियानी, 1970) औद्योगिक देशों में व्यक्तियों के बचत संबंधी व्यवहार को समझने के लिए उपयुक्त पाया गया है। लेकिन विकासशील देशों के संदर्भ में यह स्पष्ट रूप से असंतोषप्रद है। जीवनचक्र का सामान्य मॉडल बताता है कि व्यक्ति घरेलू संसाधनों में संभावित परिवर्तनों को तथा बचत पर प्रतिफल की प्रत्याशित दर

को ध्यान में रखकर कालक्रम में अपने उपभोग को संतुलित करते हैं। इस ढांचे में, निजी क्षेत्र के बचत-व्यवहार पर इस आकलन का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है कि आयु के साथ आय और उपभोग के भावी स्वरूप कैसे प्रभावित होंगे और सरकार की नीति और दूसरे कारकों का रूप क्या होगा। जीवनचक्र सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण निहितार्थ यह है कि व्यक्ति के जीवनकाल में बचत की दरों में व्यवस्थित ढंग से परिवर्तन होते रहते हैं। स्पष्ट है कि विकासशील देशों में गृहस्थों के बचत-व्यवहार इस ढांचे में ठीक से फिट नहीं होते। कारण कि मात्र जीवननिर्वाह-योग्य आयों, खेतिहर आयों में होने वाले भारी उतार-चढ़ावों, सवेतन रोजगार के अपेक्षाकृत कम महत्व, कम प्रत्याशित आयु तथा विस्तारित पारिवारिक व्यवस्था के महत्व जैसे अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों के चलते यहां बचत की क्षमता कम है।[1] बचत और विकास के निर्धारकों पर उपलब्ध साक्ष्यों की जांच करने के बाद गेर्सोवित्ज (1988) ने निष्कर्ष निकाला है कि :

> *बचत के बारे में अनुभवाश्रित ज्ञान सिद्धांत से बहुत पीछे रह गया लगता है। नतीजा यह है कि सिद्धांतों के अधिकांश निहितार्थ अपरीक्षित रह गए हैं। बचत पर अभी भी उन बाह्य कारको के प्रभावों के बारे में साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं जो पोषण, स्वास्थ्य, प्रत्याशित आयु, शिक्षा, निवेश के अन्य अवसरों की उपलब्धता और उनके प्रतिफलों, पारिवारिक संरचना और विरासतों को प्रभावित करते हैं (पृ. 418)।*

फिर भी, नीति की दृष्टि से, विकासशील देशों में बचत के निर्धारकों के बारे में दो सामान्य निष्कर्ष निकाल सकना संभव है।[2] पहला, वे नीतियां जो निवेशों की उत्पादकता बढ़ाती हैं और आय-संवृद्धि की दर को तेज करती हैं, बचतों में भी सहायक होंगी। उत्पादकता और वृद्धिक पूंजी-निर्गत अनुपात के अनुसार बचत की एक ही आरंभिक दर आय-संवृद्धि की विभिन्न दरें दे सकती है। अगर उत्पादकता कम हो तो आय की अल्प वृद्धियों में से बचत की सीमांत दरों को बढ़ा सकना कठिन हो जाता है। दूसरी ओर, उत्पादकता के बढने पर संवृद्धि-दर के बढ़ने से यह संभव होता है कि उपभोग की संवृद्धि की पिछली दरों को बनाए रखते हुए भी बचत की सीमांत दरों में वृद्धि की जा सके। संवृद्धि और बचत का कारण-कार्य संबंध दोनो दिशाओं में गतिमान हो सकता है। अधिक बचतें अधिक संवृद्धि लाती हैं और अधिक संवृद्धि अधिक बचतें उत्पन्न कर सकती है।[3]

लेकिन अगर आय की संवृद्धि-दर पहले जितनी ही हो तो घरेलू बचत दर की कोई भी वृद्धि स्वयं में उपभोग की वृद्धि की दर के कम होने का कारण बन जाती है। बचत दर के बारे में यह दूसरा प्रमुख मुद्दा है। मिसाल के लिए, अगर आय में प्रतिवर्ष 5 प्रतिशत की स्थिर दर से वृद्धि हो रही हो और उपभोग, मान लें कि 13 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रहा हो (नवें दशक में भारत में यही स्थिति थी)

तो संवृद्धि की दर के स्थिर रहने पर भविष्य में घरेलू बचत की दर मे बढ़ोतरी तभी की जा सकती है जब उपभोग की संवृद्धि-दर में कमी की जाये। इसे कर पाना मुश्किल है, खासतौर पर तब जबकि निर्धनता की रेखा से नीचे रहनेवालों के उपभोग में प्रत्यक्ष निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रमों के द्वारा वृद्धि करना आवश्यक हो (वास्तव में, यह किया भी जाना चाहिए)। इन कार्यक्रमों, या कहिए कि निर्धनता-उन्मूलन की किसी भी रणनीति, का उद्देश्य निर्धन जनता की आय और उपभोग को औसत से अधिक दर से बढ़ाना होता है। इसका मतलब यह हुआ कि अगर साथ ही बचत दर में भी वृद्धि करनी हो तो अनिर्धन जनता के उपभोग की सवृद्धि-दर (घटी हुई औसत दर से भी) निम्नतर होनी चाहिए।

उपभोग की संवृद्धि को कम करके बचत बढ़ाने की आवश्यकता आरंभिक आयोजना कार्य में विचार का एक महत्वपूर्ण मुद्दा थी।[4] वास्तव मे, इस विचार ने अंतःक्षेत्रीय निवेश से जुड़ी अनेक नीतियो और प्राथमिकताओं को निर्धारित किया। उपभोग की संवृद्धि को कम करने के लिए एक दोधारे दृष्टिकोण का प्रयोग किया गया। पहला, निवेशों को पूंजीगत मालों, ऊर्जा और अन्य निवेश-संबद्ध क्षेत्रों की ओर मोड़ा गया ताकि उपभोक्ता वस्तुओं की आपूर्ति पर कुछ रोक लगे। चूकि भारी और पूंजीगत मालों के उद्योगो में अधिकांश निवेश सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा किया गया था इसलिए यह मान लिया गया कि इन निवेशों से प्राप्त लाभों का उपभोग न होकर पुनर्निवेश होगा। औद्योगिक लाइसेस प्रणाली का सक्रिय उपयोग यह सुनिश्चित करने के लिए किया गया कि लघु उद्योग क्षेत्र तथा विद्यमान कारखानों को छोड़ कर, उपभोक्ता मालों या टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं मे कोई नया निजी निवेश न होने पाए। दूसरे, राजकोष, वित्त और प्रशुल्क संबंधी कुछ नीतियों का प्रयोग उपभोग-संवृद्धि पर नियंत्रण लगाने के लिए किया गया। तदनुसार, उपभोक्ता वस्तुओं और टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं पर लगे घरेलू कर निवेश की वस्तुओ पर लगे करों से काफी अधिक थे (लघु क्षेत्र द्वारा उत्पादित उपभोक्ता माल इसका एक महत्वपूर्ण अपवाद थे)।[5] वित्त और उधार प्रणाली उपभोक्ता मालों से संबंधित निवेश या उनकी खरीद को बहुत कम या कोई समर्थन नहीं देती थी। ऐसी वस्तुओं के आयात प्रतिबंधित रहे।

दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956) मे यह रणनीति स्पष्ट रूप से मुखरित हुई।[6] अन्य बातों के साथ इसमें इस आवश्यकता पर भी जोर दिया गया था कि उपभोग घटाने और चीजों की किल्लत को दूर करने के लिए राजकोषीय नीति का तथा आवश्यक वस्तुओं के राशनिंग समेत प्रत्यक्ष नियंत्रणों का उपयोग किया जाये। उपभोग को नियंत्रित करने तथा संसाधन जुटाने के लिए, आवश्यक नियंत्रणों के विभिन्न प्रकारों के बारे में कहा गया था कि :

*ऐसा प्रतीत होता है कि समग्र राजकोषीय और मौद्रिक अनुशासन आर्थिक*

*गतिविधियों के उतार-चढ़ाव का नियमन करने में बहुत सहायक हो सकता है कि और विभेदक कराधान (डिफरेंशियल टैक्सेशन) सीमांत संसाधनों को कुछ निश्चित दिशाओं में मोड़ने में सहायक हो सकता है। लेकिन इसमें शायद ही संदेह हो कि केवल समग्र राजकोषीय और मौद्रिक नियंत्रण के आधार पर हम ऐसी किसी व्यापक योजना को नहीं चला सकते जिसका उद्देश्य अर्थव्यवस्था में निवेशों को पर्याप्त बढ़ाना हो और जिसमें प्राथमिकताओं का एक निश्चित क्रम लक्षित हो (पृ. 38)।*

इसलिए इस योजना में उपभोग पर प्रत्यक्ष नियंत्रण लगाने की आवश्यकता स्वीकार की गयी। आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की कमी से उपजी स्थिति से निपटने के लिए इस योजना में, संभव हो तो, आपूर्ति बढ़ाने की आवश्यकता स्वीकार की गयी। फिर भी, इसमें यहां तक कहा गया कि आवश्यक वस्तुओ के आयातों के कारण

*अन्य महत्वपूर्ण उपयोगों से संसाधनों को हटाने की आवश्यकता पड़ सकती है। यही बात घरेलू संसाधनो को निवेश से हटाकर उपभोग में लगाने पर भी सही उतर सकती है। इसलिए अगर पूरी योजना को ही अस्तव्यस्त नहीं करना है तो भौतिक नियंत्रणों की आवश्यकता पड़ सकती है। इस प्रकार विशेष स्थितियों में आवश्यक उपभोगों पर नियंत्रण की संभावना से इकार नहीं किया जा सकता (पृ. 39)।*[7]

बचतों को बढाने और उपभोगों को घटाने का यह दृष्टिकोण सातवें दशक में भी जारी रहा। हां, इसमें विभिन्न समयों में विभिन्न बातों पर जोर दिया जाता रहा। मिसाल के लिए, तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961) में कहा गया था कि "उत्पादन के स्वरूप की आयोजना में यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि अनावश्यक वस्तुओं और सेवाओं के लिए उपलब्ध सीमित ससाधनों का उपयोग करने से बचा जाए" (पृ. 52)।[8] इस योजना में भी आवश्यक वस्तुओं और साथ ही, कच्चे मालों और मध्यवर्ती उत्पादों के संबध में भौतिक आबंटनो और प्रत्यक्ष नियंत्रणो को जारी रखने की वाछंनीयता का अनुमोदन किया गया था।[9] आठवें दशक का अधिकांश समय 1973-74 में तेल की कीमतो के कारण लगे झटको के परवर्ती प्रभाव तथा अनेक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाक्रमों से प्रभावित रहा। लेकिन यह अधिकाधिक माना जाने लगा कि उपभोगों पर पाबंदी लगाने के सिलसिले में भौतिक नियंत्रण, कीमत संबंधी नियंत्रण और औद्योगिक लाइसेंस की प्रणाली आशानुरूप काम नहीं कर रही है। संवृद्धि की दर कम रही, उद्योगो में गतिरुद्धता रही और 'समानांतर' या 'काले धन की' अर्थव्यवस्था फलती-फूलती रही। इन समस्याओं का समाधान करने की दृष्टि से औद्योगिक लाइसेंसों की प्रणाली को उदार और सुचारु बनाने के लिए कुछ परिवर्तन किए गये। फिर भी, उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन के बारे में पहले का नीतिगत ढांचा लगभग ज्यो-का-त्यो बना रहा।[10]

छठी पंचवर्षीय योजना (1980) में बचत के अनुपात में भारी वृद्धि की परिकल्पना की गयी (कि यह 1979-80 के 21 प्रतिशत से बढ़कर 1984-85 में 24.5 प्रतिशत हो जायेगा)। लेकिन उपभोग के नियमन और नियंत्रण संबंधी दृष्टिकोण में अब एक महत्वपूर्ण और स्पष्ट परिवर्तन आया। यह माना गया कि भौतिक नियंत्रणों और व्यापक औद्योगिक लाइसेस प्रणाली से संबंधित पिछली नीतियों के कारण परिसंपत्तियों के प्रबंधन और उपयोग में अनेक खामियां पैदा हो गयी हैं। इसलिए निवेश और संवृद्धि के स्वरूपों के निर्धारणों में मांग पक्ष को पहले से काफी बड़ी भूमिका सौंपी गयी। क्षेत्रवार संवृद्धि-दरों के निर्धारिण के लिए, योजना में 'बाजार व्यवस्था के द्वारा या विशिष्ट बाजारों को सुनिश्चित करने के लिए अपनायी गयी विशेष सार्वजनिक नीतियों के फलस्वरूप विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की मांग और पूर्ति को' (पृ. 35) विचार में रखा गया। योजना के उत्पादन संबंधी प्रक्षेपणों में उपभोग की प्रक्षेपित आवश्यकताए प्रतिबिंबित हुई।[11] इसमें उपभोक्ता मालों के उद्योग की उच्च सवृद्धि-दरों की अनुमति दी गयी। यह दृष्टिकोण तबसे जारी है और हाल के वर्षों में, औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली और आयात नीति के अधिक उदारीकरण के साथ, निवेशों का आबटन मुख्यतः मांग द्वारा निर्धारित होने नगा है।

उत्पादन और निवेश संबंधी नियत्रणो के द्वारा उपभोग-संवृद्धि को प्रत्यक्षतः समाप्त या कम करने की नीतियां अतीत मे फलदायी नहीं रही हैं और आशा नहीं है कि भविष्य में भी वे फलदायी होंगी। भारतीय योजनाकारो ने तथा (चीन और पूर्वी यूरोप के देशों जैसी) केंद्रीय स्तर पर आयोजित अर्थव्यवस्थाओं में उनके समकक्षों ने यही निष्कर्ष निकाला है। अधिकांश ऐतिहासिक साक्ष्य भी इस विचार की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं। सभव है कि विकास के आरंभिक चरणों में ये नीतिया फलदायी रहती हो और बचत को बढ़ाने तथा उद्योग एवं विनिर्माण का एक आधार बनाने में कामयाब होती हों। लेकिन कुछ समय के बाद उत्पादन की संरचना जैसे-जैसे कम लचकदार और आर्थिक स्थिति के परिवर्तनों के प्रति कम संवेदनशील होती जाती है, इन नीतियों का प्रतिफल ह्रासमान होने लगता है। भारत में ऐसा ही हुआ है। यह बात पिछले 20 वर्षों में, खासकर पूंजीगत मालो के क्षेत्र में, औद्योगिक क्षमता के अल्पोपयोग से और बचत-वृद्धि की दर में आयी गिरावट से स्पष्ट है। क्षमता के इस अल्पोपयोग और बढ़ते पूंजी-निर्गत अनुपात ने स्वयं सार्वजनिक क्षेत्र की बचतों और निवेश को प्रभावित किया है। इस प्रकार, एक दुष्चक्र उत्पन्न हो गया है। सार्वजनिक निवेश की धीमी संवृद्धि के कारण पूंजीगत मालों की मांग कम हुई है जिसने विनिर्माण क्षेत्र की संवृद्धि-दर में कमी की है।[12]

तो, सवाल यह खड़ा होता है : क्या सरकार भविष्य में घरेलू बचतों को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ कर सकती है; यदि हां, तो क्या ? हाल के वर्षों में, विकासशील देशों में घरेलू बचतों की बढ़त के लिए ब्याज-दर की नीति का उपयोग

करने पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है।[13] लेटिन अमरीका के कई देशों में जारी भारी मुद्रास्फीति तथा उसकी दरों के साथ ब्याज दरों के समायोजन की असफलता के संदर्भ में, कहा गया है कि ऋणात्मक वास्तविक ब्याज दरों के कारण बचत की रकमें मुड़कर अनौपचारिक वित्त बाजारों, अनुत्पादक निवेशों, और पूंजी के विदेश-पलायन में चली गयी हैं। धनात्मक वास्तविक ब्याज दरों के पक्ष में सैद्धांतिक तर्क अन्य लोगों के साथ मैकिनान (1973) द्वारा पूरे जोर के साथ दिये गये हैं। मैकिनान का तर्क यह है कि धनात्मक वास्तविक ब्याज दरें वास्तविक द्रव्य राशियों के संचयन, वित्तीय मध्यस्थता बढ़ाने तथा वित्त बाजारों का एकीकरण करने के लिए आवश्यक हैं जिनके परिणामस्वरूप संसाधनों, और खासकर दुर्लभ पूंजी, का कारगर उपयोग होता है।

फिर भी, ब्याज दरों के स्तर और (आय के अनुपात के रूप में) बचत के स्तर के पारस्परिक संबंध पर उपलब्ध अनुभवाश्रित साक्ष्य अस्पष्ट हैं। यह अंशतः आंकड़ों की हीन गुणवत्ता के कारण है और अंशतः इस कारण है कि अन्य आर्थिक नीतियों के प्रभावों से वास्तविक ब्याज दर के प्रभाव को अलग कर सकना कठिन होता है। 1971-80 के काल में 64 विकासशील देशों में वास्तविक ब्याज दर और बचत के **स्तर** तथा उनकी संवृद्धि संबंधी कारगुजारी के पारस्परिक संबंधों पर जो अंतःदेशीय साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनका परीक्षण खटखटे (1988 अ) ने किया है। उनका निष्कर्ष है कि माध्य वास्तविक ब्याज दर से ऊपर और नीचे स्थित दो देशसमूहों की कारगुजारी में सांख्यिकीय दृष्टि से कोई सार्थक अंतर नहीं था। बढ़ी ब्याज दरों के प्रतिकारी आय तथा प्रतिस्थापन प्रभावों के कारण बचत-अनुपात के **परिवर्तनों** पर ब्याज-दर के **परिवर्तनों** के प्रभाव संबंधी साक्ष्यों में भी अस्पष्टता आ जाती है। विकासशील देशों के लिए रोसी (1988) का निष्कर्ष यह है कि वास्तविक ब्याज दरों मे होनेवाले परिवर्तनों का बचतों पर निवल प्रभाव सकारात्मक तो होता है लेकिन उसका परिमाण थोड़ा ही होता है।

उपर्युक्त कारणों से, भारत के लिए भी, ब्याज दरों और समग्र बचत अनुपात के पारस्परिक संबंधों के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना संभव नहीं है। उपलब्ध साक्ष्यों से संकेत मिलता है कि वास्तविक ब्याज दरों के स्तर और वित्तीय बचतों के पक्ष में बचत की **संरचना** के बीच एक सार्थक संबंध है। खटखटे (1991) की गणनाओं से पता चलता है कि नवें दशक तक ब्याज की दरें ऋणात्मक थीं लेकिन हाल के वर्षों में ये आम तौर पर धनात्मक रही हैं।[14] फलस्वरूप स. घ. उ. के अनुपात के रूप में वित्तीय परिसंपत्तियों में प्रभावशाली वृद्धि हुई है। अगर हम कोरिया जैसे कुछ नव-उद्योगशील देशों से तुलना करें तो भी यह वृद्धि प्रभावशाली है। दत्त रायचौधुरी (1990) का निष्कर्ष भी यही है कि नवें दशक में वित्तीय बचतों की आयसापेक्षता कुल बचत की आयसापेक्षता से पर्याप्त अधिक रही है। 1970-88 के काल के लिए मधुर (1990) का अप्रकाशित अर्थमितीय अध्ययन भी वास्तविक ब्याज दरों तथा

गृहस्थों की प्रयोज्य आयों से वित्तीय बचतों के अनुपात के बीच सकारात्मक संबंध होने की पुष्टि करता है। कुछ अस्पष्टताएं अवश्य हैं, फिर भी इसके पर्याप्त साक्ष्य हैं कि वास्तविक बचत दरों का एक धनात्मक स्तर बनाए रखना वांछनीय है।

यहां एक चेतावनी देना भी आवश्यक है। समष्टिस्तरीय आर्थिक स्थिरीकरण के किसी कार्यक्रम के अंग के रूप में वास्तविक ब्याज दरों को काफी ऊंचे स्तर पर बांध रखने या उनको यांत्रिक रूप से कीमत-स्तर और विनिमय-दर में होने वाले परिवर्तनों से जोड़ने (मुद्रावादी अक्सर इसकी वकालत करते हैं) से वित्त बाजारों और निवेश की प्रेरणा पर इसके भारी प्रतिकूल प्रभाव पड सकते हैं। लेटिन अमरीका के कई देशो (जैसे ब्राजील) मे मूल्यवृद्धि के कालों में ब्याज की दरें भी बढ़ाई गयीं लेकिन मुद्रास्फीति की दर में कमी के कालों में इनका नीचे की ओर समायोजन नहीं किया गया (मुद्रास्फीति में यह कमी एक संकुचनकारी मौद्रिक और राजकोषीय नीति के कारण आयी थी)। इससे कंपनियों के लिए ऋण-सेवा की लागत बढ़ी। फलस्वरूप बड़े पैमाने पर वित्तीय दिवालियापन सामने आया और उत्पादन गिरा जिससे मुद्रास्फीति का एक नया दौर शुरू हो गया। अच्छी नीति यह है कि मुद्रास्फीति की वर्तमान और प्रत्याशित दरों को तथा संभावित मौद्रिक वृद्धि को ध्यान में रखते हुए वास्तविक ब्याज दरों को धनात्मक बनाए रखा जाये, लेकिन उनमें लचकीलापन बना रहे और दोनों दिशाओ मे उनका समायोजन संभव रहे।

अनेक देश बचत के लिए राजकोषीय प्रोत्साहन देते हैं। लेकिन बचत पर राजकोषीय प्रोत्साहनों का प्रभाव अभी अस्पष्ट है। कर-प्रोत्साहनों के प्रभाव के बारे में किये गये सैद्धांतिक और अनुभवाश्रित अनुसंधानों से संकेत मिलता है कि ये प्रोत्साहन विशिष्ट परिसंपत्तियो के रूप में बचत को बढ़ाते हैं लेकिन ऐसी सारी वृद्धि नयी बचतों की सूचक नहीं होती। हो सकता है कि कर-प्रोत्साहनों से निजी बचतें बढ़ें लेकिन राष्ट्रीय बचत पर उनका प्रभाव कम स्पष्ट है क्योंकि उनसे सरकारी बचतों में कमी हो सकती है (स्मिथ 1989)। मिसाल के लिए, अमरीका में मुनेल (1988) के अनुमान के अनुसार रोजगारदाताओं द्वारा प्रायोजित पेंशनों के कारण 1985 में निजी बचतों में 57 अरब डालर की वृद्धि हुई लेकिन इस वृद्धि का 80 प्रतिशत भाग कर संबंधी छूटों में प्रतिबिंबित हुआ। अमरीका में कर संरक्षित वैयक्तिक सेवानिवृत्ति खातों के बारे में वेंटी और वाइज (1987) भी ऐसे ही निष्कर्ष पर पहुंचे हैं।

भारत में राष्ट्रीय बचत प्रमाणपत्र, जीवन बीमा, भविष्य निधि और राष्ट्रीय बचत योजना जैसी योजनाओं में निवेश के लिए पर्याप्त राजकोषीय प्रोत्साहन दिए जाते हैं। एक सीमा के अंतर्गत बैंकों की जमाराशियों पर प्राप्त ब्याज, कुछ प्रकार के इक्विटी निवेशों पर प्राप्त लाभांश, यूनिट ट्रस्ट की यूनिटों में किये गये निवेश और कुछ अन्य प्रकार के निवेश भी करमुक्त हैं। इन प्रोत्साहनों का नतीजा यह होता है कि इन निवेशों का प्रभावी प्रतिफल बढ़ जाता है पर वह सरकारी खजाने की कीमत

पर होता है। उदाहरण के लिए, 9 प्रतिशत प्रतिवर्ष का करमुक्त सार्वजनिक बांड उच्चतम कर सोपान वाले करदाता को लगभग 20 प्रतिशत प्रतिवर्ष का प्रतिफल दे सकता है। इसी प्रकार, राष्ट्रीय बचत प्रमाणपत्रों पर कर-समायोजित प्रतिफल उच्च आय वर्गों के लिए 32.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष तक भी बैठ सकता है। ऐसे अनेक बचत-संबद्ध प्रोत्साहन निजी आयकर की छूट की सीमा में प्रभावी वृद्धि करते हैं और प्रत्यक्ष कर आधार को छोटा बनाते हैं। इन प्रोत्साहनों का प्रभाव भी अवरोही होता है। कारण कि करयोग्य आय जितनी अधिक होती है, लाभ भी उतना ही अधिक मिलता है। निजी और पारिवारिक सुरक्षा संबंधी योजनाओं जैसे, जीवन बीमा और भविष्य निधि में निवेश के लिए सामाजिक आधार पर सीमित कर-प्रोत्साहन देने का पक्ष अवश्य लिया जा सकता है। पर घरेलू बचतों को सरकारी उपयोग की दिशा में मोड़ने के लिए राजकोषीय प्रोत्साहन दिए जाने का कोई औचित्य नहीं है। इसकी प्रत्यक्ष वित्तीय और राजकोषीय लागतें अधिक होती हैं और निवेश पर प्राप्त प्रतिफलों से उनकी कोई संगति नहीं होती। इस प्रकार के राजकोषीय प्रोत्साहनों को क्रमिक रूप से समाप्त किया जाना आवश्यक है।

इस बारे में कुछ साक्ष्य उपलब्ध हैं कि घरेलू बचतों को प्रोत्साहित करने में सरकार 'समष्टिगत आर्थिक' स्थिरता सुनिश्चित करके सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है। मुद्रास्फीति की एक कम और स्थिर दर इसमें खास तौर पर सहायक होगी। मिसाल के लिए, लेटिन अमरीका में नवें दशक में मुद्रास्फीति की दर बहुत अधिक रही है और इस क्षेत्र के देशो में इस दशक में बचत के अनुपात में सबसे भारी गिरावट आयी है। यही बात अफ्रीकी क्षेत्र के बारे में भी सही है। दूसरी ओर, एशिया में जहां मुद्रास्फीति की दरें आमतौर पर कम रही हैं, वहां बचत की दरें बढ़ी हैं और ये दरें लेटिन अमरीका की दरों से 9-10 प्रतिशत बिंदु अधिक हैं।[15] लेकिन कम मुद्रास्फीति और अधिक बचत के बीच कार्य-कारण सबंध की दिशा स्पष्ट नहीं है। इसका आंशिक कारण यह हो सकता है कि मुद्रास्फीति पर नियंत्रण के लिए अपनायी गयी मौद्रिक और राजकोषीय नीतियां उपभोग की संवृद्धि-दर की अपेक्षा राष्ट्रीय आय मे कमी अधिक लाती हैं। दूसरे शब्दों में, मुद्रारूपी आयों में कमी होने पर उपभोग की अपेक्षा बचत पर प्रभाव अधिक पड़ता है।[16]

सार्वजनिक बचतों में वृद्धि करना सरकारो के पास बचत बढ़ाने का प्रत्यक्षतम साधन है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत में हाल के वर्षों में, बचत अनुपात में जो गतिरोध रहा है उसका मुख्य कारण यह है कि स. रा. उ. से सार्वजनिक बचतों का अनुपात गिरा है।

## सार्वजनिक बचतें

1970-71 में केंद्र और राज्य सरकारों, दोनों की सार्वजनिक बचतें, बाजारी मूल्यों

पर, स. घ. उ. का लगभग 2.9 प्रतिशत थीं। ये 1976-77 में 4.9 प्रतिशत तक पहुंच गयीं मगर उसके बाद कम होने लगीं। 1989-90 में ये 1.6 प्रतिशत थीं जो 1955-56 की दर के बराबर था।[17] सार्वजनिक उद्यमों की बचतों से भिन्न, सरकार की बजटगत बचतों में नाटकीय रूप से कमी आयी। सरकारी बचतों में यह कमी स. घ. उ. से कर-राजस्व के अनुपात मे हुई वृद्धि (तालिका 5.3) के बावजूद आयी। यह अनुपात 1950-51 में 7 से कम, 1971-72 में 11.5 और 1989-90 में 17.4 प्रतिशत था। स. घ. उ. के अनुपात के रूप में सरकार का चालू व्यय 1970-71 में 11.5 प्रतिशत था जो 1989-90 तक बढ़कर लगभग 23.1 प्रतिशत हो चुका था। जहां तक सार्वजनिक उद्यमों का संबंध है, केंद्र सरकार के वाणिज्यिक उद्यमों के कर-पश्चात मुनाफे 1989-90 में निविष्ट पूंजी के 4.5 प्रतिशत थे (तालिका 5.4 देखें)। राज्यस्तरीय सार्वजनिक उद्यमों की कारगुजारी और भी बुरी रही है। इन उद्यमों का निवल घाटा 1990-91 में 1928 करोड़ रुपये था (तालिका 5.5 देखें)।

हाल के वर्षो मे व्यय की इस वृद्धि ने केंद्र और राज्य, दोनो के स्तर पर भारी राजस्व घाटों को जन्म दिया है। केंद्र सरकार के राजस्व घाटे की भरपाई के लिए सरकार को भारतीय रिजर्व बैंक तथा अन्य बैंकों से धनराशियां उधार लेनी पड़ी। राज्यों के राजस्व घाटे की भरपाई के लिए अन्य स्रोतों से धनराशियां उधार लेनी पड़ीं तथा योजनागत ससाधनों का निर्दिष्ट के बजाय अन्य मदों के लिए इस्तेमाल करना पड़ा। तालिका 5.6 में हाल के वर्षो में केंद्र सरकार के राजस्व, मुद्रीकृत और राजकोषीय घाटों को दिखाया गया है।

गुहन (1991) का एक हाल का अध्ययन तमिलनाडु की बजट की स्थिति पर है जो भारत में राज्यो की खतरनाक वित्तीय स्थिति को दर्शाता है। परपरागत रूप से, तमिलनाडु को एक बेहतर प्रशासन वाला राज्य माना जाता रहा है और 1984-87 के काल में उसका चालू कर-अनुपात (राज्य घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में) 12 प्रतिशत रहा है। राजस्व जुटाने में यह एक कीर्तिमान है। फिर भी, उसके बजट में घाटा है और उपभोग के लिए निर्धारित राशियों मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। उपभोग के लिए परिव्यय 1960-70 मे सकल परिव्यय के दो-तिहाई थे लेकिन 1985-90 में वे बढ़कर तीन-चौथाई हो गये और पूंजी-निर्माण संबंधी परिव्यय में तदनुरूप कमी हो गयी। (यहा यह बात जोर देकर कहनी होगी कि सारा उपभोग, जैसे स्वास्थ्य और शिक्षा पर किया गया व्यय, अनुत्पादक नहीं होता)। उपभोग-व्यय की इस वृद्धि के अधिकांश भाग का कारण कर्मचारियों को दिया गया मुआवजा है जो (1960-70 के 33 प्रतिशत के मुकाबले) 1985-90 तक बढ़कर चालू परिव्यय का 76 प्रतिशत हो चुका था। गुहन का अनुमान है कि राज्य ने जो विभिन्न प्रकार की सेवाएं उपलब्ध कराईं, उनकी लागत के मात्र 12 प्रतिशत की ही वसूली हुई और शेष 88 प्रतिशत की वसूली नहीं हो सकी। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहायिकियों का

काफी बड़ा भाग अनिर्धन जनता को गया। मिसाल के लिए, तमिलनाडु में खेती के लिए लगाये गये प्रत्येक पंप-सेट पर औसतन 2650 रुपये की सहायिकी दी गयी। पंपसेटों पर दी गयी इन समग्र सहायिकियों का कोई 91 प्रतिशत बड़े किसानों को गया। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम और खासकर राज्य बिजली बोर्ड बजट-सहायिकियों के प्रमुख लाभार्थी रहे जिसका मकसद उनके घाटों की भरपाई करना था। 1985-90 में राज्य बिजली बोर्ड को उसके वार्षिक सकल राजस्व का 40 प्रतिशत सहायिकी के रूप में मिला। 62 राजकीय उद्यमों में 33 को भारी घाटे हुए और शेष मुश्किल से ही घाटा बचा सके। उत्तर प्रदेश के लिए ऐसा ही एक अध्ययन बजाज और अग्रवाल (1991) का है। यह दिखाता है कि भारतीय संघ के इस सबसे बड़े राज्य में समग्र वित्त, कम वसूली, सहायिकियों और घाटों की स्थिति और भी बुरी है।

बढ़ते राजस्व घाटे और घटती सार्वजनिक बचत के कई प्रतिकूल आर्थिक परिणाम रहे हैं। पहला, सार्वजनिक ऋण में भारी वृद्धि हुई है। सार्वजनिक ऋण की इस वृद्धि के समष्टिगत आर्थिक निहितार्थों का विश्लेषण हाल के अनेक अध्ययनों में किया गया है। शेषन (1987), रंगराजन आदि (1989), ब्यूटर और पटेल (1990) और चेलय्या (1991) के अध्ययन इनमें महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि इनकी मान्यताएं भिन्न-भिन्न हैं पर सभी अध्ययनों का निष्कर्ष यह है कि भारत में सार्वजनिक ऋण का यह उभरता परिदृश्य बहुत नहीं चल सकता। मसलन, रंगराजन आदि के अनुसार समग्र ऋण और स. घ. उ. के अनुपात में बहुत तीव्र वृद्धि संभावित है। यह अनुपात 1987-88 में स. घ. उ. का 44.6 प्रतिशत था जो 1995-96 तक 100 प्रतिशत और इस सदी के अंत तक 150 प्रतिशत हो सकता है। ऋण संचय के प्रक्षेपित त्वरण के फलस्वरूप इस सदी के अंत तक सरकारी ऋण पर ब्याज की अदायगी का बोझ प्रक्षेपित सरकारी प्राप्तियों का 30 प्रतिशत हो जायेगा (यह बोझ 1987-88 में 12 और 1974-75 में मात्र 1 प्रतिशत था)। चेलय्या के और भी हाल के अध्ययन का भी ऐसा ही निष्कर्ष है।

दूसरे, इस राजकोषीय घाटे के कारण भुगतान-संतुलन का संकट पैदा हो गया है। भारत के ऋण का विश्लेषण करते हुए ब्यूटर और पटेल (1990) ने निष्कर्ष निकाला है कि :

> *प्राथमिक घाटे को कम करने के उपाय न किये गये तो राजकोषीय संकट का आना निश्चित है। इसकी मार कब और कहां पड़ेगी, यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। अक्सर राजकोषीय संकट की पहली अभिव्यक्ति विदेशी मुद्रा के क्षेत्र में होती है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्राभंडार की वास्तविक या आसन्न समाप्ति आपातकालीन उपायों की एक सामान्य उत्प्रेरक होती है जिनमें अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष से उद्यत (स्टैंडबाइ) ऋण लेना और उससे जुड़ी शर्तों को स्वीकार करना भी शामिल हैं। विदेशी मुद्रा के ऐसे संकट तब भी आ सकते*

*हैं जब देश पर विदेशी ऋणों का बोझ बहुत साधारण ही हो, जैसाकि भारत के मामले में है (पृ. 50)।*

यह भविष्यवाणी कितनी सच्ची थी। 1990 का अंत आते-आते भारत वास्तव में भुगतान-संतुलन के एक भारी संकट में फंस चुका था जिसके कारण अं. मु. कोष के आगे गुहार लगानी पड़ी।

तीसरे, संसाधनों की इस दुर्लभता के कारण पूंजी-निर्माण पर प्रभाव पड़ा है, खासकर राज्य क्षेत्र में। केंद्र सरकार तो अधिक ऋण लेकर योजना राशियों के लक्ष्य पूरे करने में कामयाब रही लेकिन राज्य सरकारों के वास्तविक परिव्ययों में (योजनागत प्रक्षेपणो के सापेक्ष) भारी कमी आयी क्योंकि उनके लिए ऋण की सुलभता सीमित होती है। चूंकि सामाजिक क्षेत्रों, कृषि और सिंचाई में निवेश की प्रमुख जिम्मेदारी राज्य सरकारों की होती है इसलिए राज्य क्षेत्र में परिव्ययों की कमी का प्रभाव मुख्यतः इन्हीं क्षेत्रों पर पड़ा जो भारत के विकास के लिए सर्वाधिक महत्व रखते हैं। बागची और सेन (1991) की गणना यह है कि, स्थिर कीमतों पर, सिंचाई में 18, जल आपूर्ति और सफाई में 14, स्वास्थ्य में 9, और कृषि में 2 प्रतिशत कम व्यय हुआ। ये कमियां भी तब आयीं जबकि स्वयं मूल लक्ष्य बहुत साधारण थे। बिजली संबंधी परिव्यय में 22 प्रतिशत की कमी आयी।

चौथे, सार्वजनिक सेवाओं की संवृद्धि-दर और गुणवत्ता, दोनों में गिरावट आयी है। इससे निर्धन लोग अधिक प्रभावित हुए हैं क्योंकि वे इन सेवाओं पर अधिक निर्भर होते हैं तथा सार्वजनिक सेवाओं की जगह निजी सेवाएं खरीद सकने की उनकी क्षमता भी कम होती है। बागची और सेन (1991) का अनुमान है कि छठी योजना के साथ तुलना करके देखें तो सातवीं योजना में सामान्य प्रशासन और ब्याज की अदायगी पर होनेवाला व्यय कुल राजस्व व्यय के समानुपात में बढ़ा लेकिन सामाजिक सेवाओं पर व्यय वास्तव में कम हुआ (यह 41 से घटकर 39 प्रतिशत रह गया)। अगर कर्मचारियों (जैसे, अध्यापकों और डाक्टरों) की मजदूरियों और वेतनों में वृद्धि न होती तो यह गिरावट और भी अधिक होती।

पांचवे, इस घोर वित्तीय कठिनाई और इसके समाधान में केंद्र और राज्यों की असफलता के कारण संसाधनों की छीना-झपटी शुरू हो गयी है। वास्तविक ब्याज दरों में वृद्धि हुई है और सरकारों के लिए बाजार से ऋण ले सकना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। सांविधिक तरलता अनुपात को लगातार बढ़ाना पड़ा है (अब यह जमाराशियों का 38.5 प्रतिशत है)। मुद्रा की वृद्धि को नियंत्रित करने की मौद्रिक नीति की प्रभाविता भी कम हुई है क्योंकि नकदी-आरक्षण अनुपात को भी अधिकतम सांविधिक सीमा तक बढ़ाना पड़ा है। इसका एक और शिकार राजकोषीय सुधार हुए हैं। राजकोषीय नीति के निर्धारण पर अल्पकालिक राजस्व संबंधी सरोकार छाए रहे हैं। फल यह हुआ है कि समष्टिगत आर्थिक प्रबंधन और संसाधनों के आबंटन

में राजकोषीय नीति की भूमिका की उपेक्षा हुई है।

भारतीय अर्थव्यवस्था को इस राजकोषीय असंतुलन की सचमुच बेहिसाब कीमत चुकानी पड़ी है। बढ़ते घाटों के प्रतिकूल निहितार्थों को सरकार के उच्चतम स्तरों पर स्वीकार किया गया है, खासतौर पर 1985-86 के बाद से। उस साल बजट पेश करते हुए वित्तमंत्री ने संसाधनों की उभरती कठिनाइयों को स्वीकार किया और कहा कि "बुनियादी समस्या यह है कि हमारा गैर-योजना व्यय चालू राजस्व की वृद्धि की अपेक्षा बहुत अधिक तेजी के साथ बढ़ता रहा है" (भारत सरकार, 1990, पृ. 539)। उन्होंने कहा कि पिछले कुछ वर्षों के दौरान सरकार वार्षिक योजनाओं में हुई भारी वृद्धियों के लिए मुख्यतः आंतरिक और बाह्य, दोनों प्रकार के ऋण लेकर धन जुटाती रही है। उन्होंने आगे कहा कि यह प्रक्रिया अनंत काल तक जारी नहीं रह सकती और बजट-व्यय में कमी करने की प्रक्रिया तत्काल शुरू होनी चाहिए।

उसी साल आगे चलकर संसद में एक दीर्घकालिक राजकोषीय नीति (1985) प्रस्तुत की गयी। उसमें सार्वजनिक बचतों में गिरावट की प्रवृत्ति को उलटने के लिए कुछ विशिष्ट उपाय सुझाए गए थे। सहायिकियों को स. घ. उ. के एक निश्चित प्रतिशत तक सीमित रखना, अनुत्पादक प्रशासनिक व्यय को घटाना तथा उचित कीमत निर्धारण और अन्य नीतियों के द्वारा सार्वजनिक उद्यमों के योगदान में वृद्धि करना भी इन उपायों में शामिल थे। सातवीं पंचवर्षीय योजना को अक्तूबर 1985 में अंतिम रूप दिया गया। इसमें भी सरकार की बढ़ती ऋण-आवश्यकताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया गया था। इस योजना में प्रस्ताव रखा गया था कि गैर-योजना व्यय की वृद्धि घटाकर घाटा वित्तीयन में कमी की जाये। इसमें गैर-योजना व्यय की वृद्धि की एक विशिष्ट दर निर्धारित की गयी थी जो स. घ. उ. की संवृद्धि-दर से अधिक नहीं होनी चाहिए (लेकिन सातवीं योजना में गैर-योजना व्यय की वृद्धि वास्तव में इसकी तीन गुनी थी)।

फरवरी, 1987 मे प्रधानमंत्री ने बजट रखा। उन्होंने फिर कहा कि "अपने व्यय को अपने साधनों की सीमा में रखने के लिए हमें कुछ कठोर उपाय करने ही होंगे। सरकार ये उपाय करने के लिए कृतसंकल्प है। यह स्थिति हमारी व्यय नीति की एक गंभीर समीक्षा की मांग करती है। मात्र सतह को खुरचने से काम नहीं चलनेवाला" (भारत सरकार, 1990, पृ. 571)। बजट घाटे पर रोक लगाने के लिए उन्होंने घोषणा की कि "1987-88 के बजट अनुमानों में निर्धारित घाटे को बढ़ने नहीं दिया जायेगा।" भारत के राजकोषीय इतिहास में अग्रिम रूप से ऐसी ठोस प्रतिबद्धता पहली बार व्यक्त की गयी थी। यह भी दिलचस्प जानकारी है कि उस समय इस प्रतिबद्धता को व्यापक रूप से 'अयथार्थवादी' कहा गया था मगर यह वास्तव में पूरा हुआ था। लेकिन 1988-89 के बाद स्थिति फिर पलटी और घाटे फिर से बढ़ने लगे।

गैर-योजना व्यय की वृद्धि को रोकने के लिए आवश्यक उपायों पर पर्याप्त

सहमति भी पायी जाती है। मिसाल के लिए, दीर्घकालिक राजकोषीय नीति (1985) और साथ ही, सातवी योजना ने भी व्यय को रोकने के लिए मोटे तौर पर एक कार्यक्रम का संकेत दिया था। चेलय्या (1991) समेत कई विशेषज्ञों ने व्यय में कमी के कार्यक्रम के प्रमुख तत्वों को भी स्पष्ट किया है। चेलय्या के सुझाए उपायों में निम्नलिखित शामिल हैं : करों की आयसापेक्षता बढ़ाना, शुल्कों और उपभोक्ता प्रभारों में वृद्धि करना, चालू व्यय की वृद्धि को घटाना, सरकार द्वारा दिये गये ऋणों के निवल प्रतिफल में वृद्धि करना, और बजट पर ब्याज का बोझ कम करना। कार्यवाही के इन या अन्य क्षेत्रों के बारे में विशेषज्ञों के बीच, और सरकार के अंदर भी, कोई प्रमुख मतभेद नहीं हैं। फिर भी, जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट है, उपलब्धियां लक्ष्यों से बहुत कम रही हैं।

**केंद्र की सार्वजनिक बचतें : लक्ष्य और उपलब्धि**
**(स. घ. उ. के प्रतिशत के रूप में)**

| | | *1980-85* | *1985-86* | *1989-90* | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | *(औसत)* | | *लक्ष्य* | *उपलब्धि* |
| 1. | चालू राजस्व से शेष | 0.7 | −0.4 | 0.2 | −1.1 |
| 2. | सार्वजनिक क्षेत्र के संसाधन | 2.1 | 2.9 | 4.1 | 3.1 |
| 3 | **कुल सार्वजनिक बचतें** | **2.8** | **2.5** | **4.3** | **2.0** |

टिप्पणी : 1985-86 तक के काल के लिए और 1989-90 के लक्ष्य संबंधी आंकड़े 'लांग-टर्म फिस्कल पालिसी' (1985) से लिये गये हैं। 1989-90 की वास्तविक उपलब्धियों के आंकड़े उस साल के लिए भारत सरकार के बजट से लिये गये हैं।

एक दिलचस्प सवाल यह है कि सरकार के लिए खर्च की बढ़त को रोकना संभव क्यो नही हुआ है हालांकि ऐसा करने की वाछंनीयता पर और इसे करने की विधियों पर सहमति पायी जाती है ? प्रशासनिक कार्रवाई की भी कमी नहीं रही है और समय-समय पर सरकार ने व्यय को नियंत्रित करने के लिए नयी व्यवस्थाएं की हैं। मिसाल के लिए, सातवें दशक में यह तय किया गया कि वार्षिक वित्तीय विवरणों या पारंपरिक बजट के अलावा प्रत्येक मंत्रालय संसद में प्रस्तुत करने के लिए अपने कामकाज का एक निष्पादन बजट तैयार करेगा। 1985-86 में 'शून्य-आधारित बजट' की प्रणाली लागू की गयी और फैसला किया गया कि सरकारी बजट के एक-तिहाई भाग की, तीन वर्षों के काल में, प्रत्येक वर्ष समीक्षा की जायेगी तथा सभी अनावश्यक गतिविधियां रोक दी जायेंगी।[18] 1990-91 में सरकार ने अपने इस इरादे की घोषणा की कि वह संसद में वार्षिक बजट की चतुर्मासी समीक्षा प्रस्तुत किया करेगी ताकि बजट अनुमानों के सापेक्ष वास्तविक व्यय की प्रगति पर निगरानी

रखी जा सके। समय-समय पर, व्यय के बारे में मंत्रिमंडलीय समितियों समेत उच्चाधिकार-प्राप्त समितियां व्यय में कटौती के लिए गठित की गयी हैं। फिर भी, इन प्रयासों के बावजूद सरकार का व्यय ऐसी गति से बढ़ता रहा है जिसे जारी नहीं रखा जा सकता। इस महत्वपूर्ण मुद्दे के कारणों की गहरी छानबीन जरूरी है।[19]

सरकारी व्यय के प्रमुख घटक इस प्रकार है : (अ) सरकार का उपभोग-व्यय, (ब) पूंजी-निर्माण पर सरकार का व्यय, और (स) वित्तीय निवेश तथा शेष अर्थव्यवस्था को सरकार द्वारा दिए जाने वाले ऋण। नीचे की तालिका नवें दशक में इन मदों में केंद्र सरकार के व्यय की वृद्धि दर्शाती है।

**केंद्र सरकार का कुल व्यय (हजार करोड़ रुपयों में)**

| | *उपभोग व्यय* | *सकल पूंजी-निर्माण* | *अंतरण अदायगियां* | *निवेश और ऋण* | *योग* |
|---|---|---|---|---|---|
| 1980-81 | 5.2 | 1.9 | 8.2 | 7.2 | 22.5 |
| 1989-90 | 19.7 | 8.4 | 41.3 | 19.1 | 88.5 |

स्रोत : भारत सरकार, *इकनामिक सर्वे*, 1989-90

यह गौरतलब बात है कि नौ वर्षों के काल में कुल व्यय और उसके सभी घटकों में लगभग चार गुनी वृद्धि हुई है। अंतरण अदायगियों की वृद्धि औसत से कुछ अधिक रही है। इसका कारण ब्याज की अदायगियों की मद में होने वाली अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि है। संसाधनों की कमी के कारण ऋणो और निवेशों की वृद्धि जरा धीमी रही है। लेकिन व्यय की सभी प्रमुख मदे व्यय की समग्र वृद्धि के कमोबेश साथ-साथ बढ़ती रही हैं।

जो देखने में एक पूर्वनिर्धारित दर पर व्यय की स्वायत वृद्धि जैसी लगती है, उसका प्रमुख कारण यह है कि सरकार का सारा व्यय अंततः समाज के किसी वर्ग या किसी व्यक्तिविशेष का निजी लाभ बनता है।[20] यह बात खासकर प्रत्यक्ष सहायिकियों या सरकारी सेवाओं की वसूल न की गयी लागतों के बारे में सच है। अधिकांश सहायिकियों या लागत से भी कम कीमत पर प्रदान की जानेवाली सेवाओं का आरंभ प्रत्यक्षतः निर्धन जनता के लाभार्थ होता है। लेकिन इन लाभों का एक बड़ा भाग वास्तव में अधिक समृद्ध लोगों के पास चला जाता है जिनके हाथों में अधिक राजनीतिक शक्ति होती है (मिसाल के लिए, मुंडल और गोविंदराव, 1990 देखें)। दूसरी ओर, इन लागतों की आसानी से पहचान नहीं की जा सकती और निर्णयकर्ताओं पर किसी भी तरह से उनका बोझ नहीं पड़ता। मुद्रास्फीति की उच्चतर संभाव्य दर और दूसरी आर्थिक विकृतियों के रूप में समाज के लिए इसकी जो लागत आती है, वह सभी के द्वारा स्वीकार की जाती है और उस पर बहस होती है। फिर भी,

यह तथ्य अपनी जगह है कि लाभ तो तात्कालिक और समाज के एक वर्ग को मिलता है लेकिन उसकी लागतें पूरे समाज पर पड़ती हैं और भविष्य में चुकाई जाती हैं। इस यथार्थ के कारण सभी स्तरों पर सरकारी व्यय के पक्षधरों के शक्तिशाली गुट पैदा हो जाते हैं।[21] लोकतांत्रिक समाजों में सरकारें मतदाताओं की सदिच्छा पर निर्भर होती हैं और इसलिए चुनाव जितने करीब आते जाते हैं, सरकारी व्यय पर लगे नियंत्रण भी उसी अनुपात में ढीले होते जाते है। अगर सरकारें अस्थिर हों या उन्हें मध्यावधि चुनाव की आशका दिखाई देती हो तो यह लगभग निश्चित है कि सरकारी व्यय और भी तेज गति से बढ़ेगा। 1988-91 के काल में भारत में तेजी से बढ़ते बजट घाटे इसके पर्याप्त प्रमाण हैं।

निर्णय-प्रक्रिया का अतिकेंद्रीकरण सरकार के प्रशासनिक व्यय की वृद्धि का एक और प्रमुख कारण है। कोर्नाय ने बहुत पहले, 1959 में ही इस कारक के प्रभाव को पहचाना था जब उन्होंने हगरी के हल्के उद्योगों की कम उत्पादकता और दक्षता के कारणों की पड़ताल की थी। कोर्नाय (1959) का कथन था :

> *प्रशासन मे लगे व्यक्तियो की सख्या की वृद्धि अतिशय केंद्रीकरण का सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक परिणाम है। श्रमशक्ति की संरचना पर और इस कारण, सामाजिक संरचना पर इसका एक निश्चित प्रभाव पड़ता है। प्रशासन की वृद्धि का तात्पर्य होता है उत्पादन प्रक्रिया से श्रमशक्ति का अत्यधिक हरण (पृ. 266)।*

भारत मे भी सरकारी रोजगार और प्रशासनिक व्यय की वृद्धि में अतिकेंद्रीकरण की एक भूमिका रही है। भारत में सरकारी रोजगार की वृद्धि की दर 2.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है जो सामान्य रोजगार की वृद्धि-दर से बहुत अधिक है। सरकारी रोजगार में भी उजरत की औसत दरें शेष अर्थव्यवस्था की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ी है।

सार्वजनिक सेवाओं (और 'सार्वजनिक वस्तुओं') की कम उपलब्धता को देखते हुए और खासकर आधारिक संरचना के क्षेत्रों में अधिक निवेशों की आवश्यकता के परिप्रेक्ष्य में, सरकार के पूंजीगत और चालू व्यय, दोनों की संवृद्धि के महत्वपूर्ण प्रकार्यात्मक कारण हैं। सरकार को पूंजी-संचय का प्रमुख अभिकर्ता माना जाता रहा है। इसलिए योजनाओं के वित्तीयन के लिए सरकारी व्यय बढ़ाने के वास्ते पड़नेवाला दबाव भी उसी अनुपात में बढ़ा है। सार्वजनिक उद्यमों द्वारा संसाधनों की आंतरिक उत्पत्ति में जो भी कमी रहती रही है, उसे पूरा करने के लिए बजट में अधिकाधिक ऋण लेने का प्रावधान करना पड़ा है।

विभिन्न प्रकार की सहायिकियां, और खासकर खाद्य और उर्वरक सहायिकियां, सार्वजनिक व्यय की संवृद्धि के एक और स्वायत कारक हैं। उर्वरक सहायिकी का निर्धारण एक लागत-आधारित सूत्र के द्वारा किया जाता है। 1981 से ही उर्वरकों का नामिक विक्रय मूल्य स्थिर रहा है जबकि लागतों का निर्धारण साल-दर-साल वास्तविक व्यय के आधार पर किया जाता है। इस प्रणाली ने उर्वरक सहायिकियों

की वृद्धि की एक 'सतत' (ओपेन-एंडेड) प्रणाली को जन्म दिया है। इसमें संशोधन करना संभव नहीं हुआ है हालांकि आम तौर पर स्वीकार किया जाता है कि सहायिकियों की सतत प्रणाली में भारी परिवर्तन करना आवश्यक है। खाद्य सहायिकियों में कमी करना भी संभव नहीं हुआ है, अंशतः इसलिए कि ये सहायिकियां एक महत्वपूर्ण सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति करती हैं और अंशतः इसलिए कि खाद्य की कीमतों की वृद्धि का मुद्रास्फीतिकारी प्रभाव हो सकता है। फिर भी, खाद्य सहायिकियों की वृद्धि-दर उर्वरक सहायिकियों की अपेक्षा काफी कम रही है। कारण कि खाद्यान्न की वसूली कीमतें बढ़ने के साथ-साथ कुछ हद तक उनकी बिक्री की कीमतें भी बढ़ाई जाती रही है। निर्यात सहायिकी एक और प्रमुख सहायिकी है। एक अत्यधिक संरक्षित घरेलू वातावरण में, निर्यात-विरोधी रुझान में कमी लाने की आवश्यकता के कारण इसमें भी वृद्धि होती रही है।

मुंडल और गोविंदराव ने एक अग्रगामी कृति (1990) में 1987-88 के लिए सरकारी सहायिकियों के कुल परिमाण और उनकी संरचना के अनुमान दिए हैं। ये अनुमान केंद्र सरकार और 14 राज्यों के लिए हैं। इस अध्ययन में सहायिकियो की एक व्यापक धारणा का प्रयोग करते हुए प्रत्यक्ष सहायिकियों के अलावा वे सहायताएं भी शामिल की गयी हैं जो गृहस्थों को लागत से भी कम कीमत पर सामाजिक एवं आर्थिक सेवाएं उपलब्ध कराके प्रदान की जाती हैं। साथ ही, इसमें विभागेतर उद्यमों और सरकारी संस्थाओं को दिए गए ऋणों तथा उन संस्थाओं पर किये गये निवेशों का वह अंश भी शामिल है जिसकी वसूली नहीं की जा सकी है। इन लेखकों का अनुमान है कि केंद्र और राज्य सरकारों के लिए सहायिकियों की कुल लागत 42,324 करोड़ रुपये बैठी जो सभी सेवाओं की कुल लागत का 70 प्रतिशत थी। स. रा. उ. की दृष्टि से देखें तो ये सहायिकियां उसका कोई 15 प्रतिशत थीं। कुल सहायिकियों का कोई दो-तिहाई राज्यों द्वारा दिया गया। सार्वजनिक उद्यमों को दी गयी कुल सहायिकी 15,000 करोड़ रुपये रही। इसमें से 9200 करोड़ रुपये केंद्रीय सार्वजनिक उद्यमों और शेष राज्यों के उद्यमों को गये। मुंडल और गोविंदराव का कहना है कि इस सहायिकी का काफी बड़ा भाग वंचित वर्गों के लिए उद्दिष्ट नहीं था। मिसाल के लिए, शिक्षा को लें जिस पर कुल सहायिकियों का 23 प्रतिशत खर्च हुआ लेकिन उसका आधे से भी कम प्राथमिक शिक्षा पर खर्च हुआ। इसी प्रकार, स्वास्थ्य सेवाओं को लें तो प्रदत्त सहायिकी का केवल 20 प्रतिशत भाग ग्रामीण क्षेत्रों को मिला, जहां बहुसंख्यक निर्धन जनता रहती है।

## (अ) व्यय और कर-नीतियां

व्यय-नियंत्रण के कार्यक्रम को लागू करने की राह में अदम्य बाधाएं हैं। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि जब तक राजस्व घाटों में कमी नहीं की जाएगी, अर्थव्यवस्था

में समग्र बचत अनुपात और पूंजी-निर्माण की दर में वृद्धि की बहुत कम संभावना है।[22] कम होती सार्वजनिक बचतों की समस्या से निपटने के लिए पहले जो विधियां प्रयोग की जाती रही हैं, उन्हें निर्णायक रूप से त्याग देना आवश्यक है। व्यय-नियंत्रण के लिए अतीत में एक क्रमिकतावादी और 'परिमाणात्मक' दृष्टिकोण अपनाया जाता रहा है। समय-समय पर सरकार या तो अपने कुल व्यय, और खासकर गैर-योजना व्यय, में एक निश्चित अनुपात में कटौती करने की या फिर, विभिन्न प्रकार के व्यय के लिए स. घ. उ. के अनुपात के रूप में ए ` पूर्वनिर्धारित लक्ष्य की घोषणा करती है। यह परिमाणात्मक दृष्टिकोण कारगर साबित नहीं हुआ है। एक या दो वर्षों (जैसे 1987-88) में जो सीमित सफलता मिली, वह नये दबावों और मजबूरियों के कारण तेजी से व्यर्थ हो गयी। आज इसके अलावा कोई विकल्प नहीं है कि हम इस शुद्धतः परिमाणात्मक या सीमांतवादी दृष्टिकोण की जगह सरकारी व्यय के प्रति एक साहसिक और 'नीतिगत' दृष्टिकोण अपनाएं।

सरकारी व्यय के प्रति एक 'नीतिगत' दृष्टिकोण का निरूपण मोटे तौर पर जिन सिद्धांतों से निर्देशित होना चाहिए, उनमें कुछ का उल्लेख यहां आवश्यक है। पहला, पिछले अनुभवों से पता चलता है कि जब तक सरकार अपनी गतिविधियों का दायरा कम नहीं करती, सरकारी वेतनादि के बिल में कटौती नहीं की जा सकती या उस पर रोक नहीं लगाई जा सकती। सरकारी मंत्रालयों और उत्पादन-आधारित उद्यमों के अलावा सरकार ने सेवाओं, अनुसंधान, अध्ययन और संवर्धन संबंधी अनेक कार्य मात्र इस आधार पर अपने ऊपर ले रखे हैं कि ये कार्य वांछनीय हैं। वास्तविक व्यवहार में, केंद्र और राज्य, दोनों स्तरों पर बड़ी संख्या में संगठन खड़े तो कर दिये गये हैं लेकिन वे जरा भी प्रभावी ढंग से सेवाओं के अभाव को पूरा नहीं कर सके हैं। ये संगठन आमतौर पर मात्र रोजगारदाता बनकर रह गये हैं। सरकार को अब ऐसे सभी संगठनों को बंद करने का नीतिगत फैसला लेना होगा जिनको बजट में से धन तो दिया जाता हे लेकिन जो उत्पादन में या स्वास्थ्य, शिक्षा और कल्याण के क्षेत्रों में सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था में कोई प्रत्यक्ष योगदान नहीं करते। हां, इनके कर्मचारियों को पूरा संरक्षण देना चाहिए और उन्हें तब तक वेतनादि देते रहना चाहिए जब तक वे सार्वजनिक या निजी क्षेत्र मे अन्यत्र पूरी तरह खपा नहीं लिए जाते। सेवा या संवर्धनात्मक संगठनों में भी मजदूरियां और तनख्वाहें शायद ही कभी कुल व्यय के 50 प्रतिशत से अधिक होती हों। तमाम संगठन, सिर्फ इसलिए वे हैं जो कालांतर में फैलते चले जाते हैं और दुर्लभ संसाधनों (जैसे भूमि, बिजली और परिवहन) का उपयोग करते हैं। अनुत्पादक संगठनों को बंद करना कालांतर में पर्याप्त मितव्ययिता का कारण बनेगा और साथ ही, सरकार के लिए दुर्लभ प्रशासनिक संसाधन उपलब्ध करायेगा।

दूसरे, सरकार को चाहिए कि खाद्य सहायिकियों, और कुछ सीमा तक उर्वरक

सहायिकियों, को छोड़कर शेष सभी सहायिकियां समाप्त कर दे। सहायकियों की समाप्ति के प्रतिकूल प्रभावों को कम करने के लिए क्षतिपूर्तिकारी नीतियों की आवश्यकता पड़ेगी। कुछ उन्मूलन एक साथ न करके कालक्रम में करना भी वाछंनीय हो सकता है। लेकिन इस बारे में हमारी नीति पूरी तरह स्पष्ट और असंदिग्ध होनी चाहिए। मिसाल के लिए, निर्यात सहायिकियों के बारे में क्षतिपूर्ति का यह रास्ता हो सकता है कि सहायिकियों का बोझ बाजार और आयातकों पर डाला जाये जिसके लिए निर्यातकों को दिए जाने वाले पुनःपूर्ति लाइसेंसों का उदारीकरण करना होगा (अध्याय 4 देखें)। इस समय उर्वरकों के उत्पादन की लागत उनकी बिक्री की कीमत की दोगुनी है। इन दोनों का अंतर ही सरकार द्वारा प्रदत्त सहायिकी का सूचक है। उर्वरक सहायिकियों में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होती रही है। ये राशियां 1981-82 में 381 करोड़ रुपये थीं जो 1989-90 में 4500 करोड़ रुपये हो गयीं। इस सहायिकी के भारी परिमाण को देखते हुए एकदम समाप्त कर देना राजनीतिक रूप में व्यावहारिक नहीं होगा। न ही यह आर्थिक रूप से वाछनीय होगा। कारण कि पूरी सहायिकी-व्यवस्था को एकाएक समाप्त करने से छोटे किसानों द्वारा उर्वरकों के उपयोग पर और परिणामतः उनकी आयों पर असर पड़ेगा। अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण यह होगा कि कीमतों में एक बार सदा के लिए समायोजन कर दिया जाये और इसके साथ ही यह घोषणा कर दी जाये कि दक्षता का समुचित ध्यान रखने वाले एक स्थिर, सत्यापनीय और सुज्ञात सूत्र के आधार पर, उत्पादन की लागत के बढ़ने के साथ-साथ उर्वरक की कीमतों में भी अपने-आप वार्षिक परिवर्तन होते रहेंगे।[23]

नीतिगत दृष्टिकोण का तीसरा तत्व यह सुनिश्चित करना है कि केंद्र या राज्य सरकार द्वारा जुटाई जाने वाली उन बचतों या ऋणों की ब्याज दरों को कोई सहायिकी प्राप्त नहीं होगी जिन्हें आगे चलकर किसी दूसरे सगठन को दिया जाना है। दूसरे शब्दों में, ऋणदाता और अतिम ऋणी, दोनो के लिए ब्याज की दर समान होनी चाहिए। मध्यस्थता का प्रकार्य किसी व्यक्त या निहित सहायिकी को जन्म दे, इसका कोई उचित कारण नहीं है।

चौथे, सार्वजनिक उद्यमों के राजस्व घाटों की भरपाई के लिए बजट में कोई ऋण या अनुदान नहीं दिया जाना चाहिए।

व्यय-नियंत्रण के प्रति उपर्युक्त रीति से एक नीतिगत दृष्टिकोण अपनाना संभव है बशर्ते इसके पक्ष मे राष्ट्रीय सहमति हो। हो सकता है वह समय भी आ गया हो जब सरकार द्वारा ऋण लिए जाने की एक सांविधानिक सीमा तय कर दी जानी चाहिए। संविधान की धारा 292 में केंद्र द्वारा लिए जानेवाले ऋणों पर एक सांविधानिक सीमा निर्धारित करने की व्यवस्था है। इसके अनुसार :

*संघ की कार्यपालक शक्ति का विस्तार, समय-समय पर संसद द्वारा निर्धारित*

*विधिसम्मत सीमाओं, अगर कोई हों, के अंतर्गत भारत की समेकित निधि की प्रतिभूति पर लिये गये ऋणों तक तथा इस प्रकार निर्धारित सीमाओं, अगर कोई हों, के अंतर्गत दी गयी जमानतों तक है।*

यह धारा कोई नयी नहीं है बल्कि 1935 के भारत सरकार कानून के खंड 162 पर आधारित है जिसमें कहा गया था कि :

*स्टर्लिंग ऋणों के संदर्भ में, इस कानून के भाग XIII के प्रावधानों की सीमा में, संघ की कार्यपालक शक्ति का विस्तार, समय-समय पर संघीय विधायिका द्वारा निर्धारित विधिसम्मत सीमाओं, अगर कोई हों, के अंतर्गत संघ के राजस्व की प्रतिभूति पर लिये गये ऋणों तक तथा इस प्रकार निर्धारित सीमाओं, अगर कोई हों, के अंतर्गत दी गयी जमानतों तक है।*

संविधान की धारा 292 की दो प्रमुख विशेषताएं हैं। पहली तो यह कि यह प्रावधान आज्ञापक नहीं है। दूसरी, विधि द्वारा निर्धारित सीमा केवल समेकित निधि की जमानत पर लिए गए ऋणों पर लागू होगी। दूसरे शब्दों में, यह केवल उन बाजारी ऋणों, ट्रेजरी बिलों और विदेशी ऋणों के द्वारा ली गयी राशियों पर लागू होगी जो सीधे भारत की समेकित निधि में जाती हैं। इसमें सरकार द्वारा लिये गये अर्ध-ऋण जैसे, छोटी बचतें, भविष्य निधि, जमाराशियां आदि शामिल नहीं होंगी जो 'भारत के लोक लेखा' में जाती हैं। 1990-91 के बजट में, अनुमान था कि समेकित निधि की प्रतिभूति पर लिए गए ऋण 18,726 करोड़ रुपये के होंगे जबकि लोक लेखा में जाने वाले अर्ध-ऋणों का अनुमान 17,795 करोड़ रुपये का था।

संसद की लोक लेखा समिति ने भी अतीत में एक से अधिक बार ऐसे कानून की सिफारिश की है जिससे ऋण लेने पर एक सीमा लगायी जा सके। लेकिन सरकार का विचार यह रहा है कि ट्रेजरी बिलों के द्वारा लिये गये ऋणों के संदर्भ में ऐसी सीमाओं का पालन करना मुश्किल होगा क्योंकि इनमें वर्ष के दौरान भारी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। यह तर्क भी दिया गया कि संसद द्वारा अनुमोदित कुल व्यय भी, व्यवहार में, एक सीमा ही है। ये तर्क वैध तो हैं मगर केवल आंशिक रूप से। बजट के समय संसद द्वारा अनुमोदित सीमा का आमतौर पर पालन नहीं किया जाता क्योंकि पूरक मांगों के द्वारा अतिरिक्त व्यय के लिए धन ले सकना आसान होता है। भारतीय रिजर्व बैंक के पास ऐसी कोई शक्ति या सत्ता नहीं कि केंद्र सरकार के ऋण लेने पर सीमा लगा सके। इन हालात में, संसद मूलतः जिस रूप में बजट को पारित करती है, वह व्यय की अधिकतम सीमा न होकर न्यूनतम सीमा बन जाती है।

केंद्र सरकार द्वारा निर्गमित ट्रेजरी बिलों पर सीमा लगाना ही पर्याप्त नियंत्रण नहीं हो सकता। अधिक कारगर यह होगा कि समेकित निधि की जमानत पर लिए गए ऋणों के बजाय केंद्र सरकार के राजस्व घाटे पर सांविधानिक सीमा लगाई जाये।

अंततः नियंत्रण तो राजस्व घाटे का ही करना है। इसलिए बेहतर यही होगा कि विशेष प्रकार के ऋणों पर सीमा लगाकर अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा करने की जगह यह काम प्रत्यक्ष रूप से किया जाये। यह प्रावधान भी किया जा सकता है कि 1994-95 तक केंद्र सरकार का राजस्व घाटा स. घ. उ. के एक निश्चित प्रतिशत (मानिए कि, एक प्रतिशत) से अधिक नहीं होगा और यह कि उसके बाद सरकार संसद में राजस्व घाटे वाला कोई बजट पेश नहीं करेगी।[24] यह तर्क दिया जा सकता है कि अगर सरकार खर्च करने पर आमादा हो तो कोई भी हदबंदी कारगर नहीं होगी और यदि वह व्यय-नियंत्रण के लिए कृतसंकल्प हो तो ऐसी कोई हदबंदी आवश्यक नहीं होगी। यह बात सही है। फिर भी, पिछले अनुभव बताते हैं कि किसी बहुदलीय संसदीय प्रणाली में चुनावी सरोकार व्यय संबंधी प्राथमिकताओं के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऐसी स्थिति में, वर्तमान और भावी, सभी सरकारों पर लागू हो सकने वाला एक सांविधानिक प्रावधान अधिक कारगर सिद्ध हो सकता है।

व्यय पर रोक लगाने और सहायिकियों में कटौती करने के उपायों के अलावा करों से राजस्व बढ़ाना भी आवश्यक है। स. घ. उ. के प्रतिशत के रूप में कर-राजस्व विगत वर्षों के बराबर बढ़ता रहा है (तालिका 5.3)। लेकिन साथ ही, अनेक असंगितयां भी पैदा हो गयी हैं। भारत की कर-संरचना तथा न्यायोचितता, दक्षता और आबंटन संबंधी दक्षता पर उसके प्रभावों के बारे में अनेक अध्ययन उपलब्ध हैं।[25] सार्वजनिक बचतों के बारे में सबसे अहम मुद्दों का संबंध 'काले धन' की उत्पत्ति की संभावनाएं घटाने के उपायों से तथा कर-प्रणाली, खासकर प्रत्यक्ष करों की उत्फुल्लता (बोयांसी) बढ़ाने के उपायो से है। सारे विवरण यही बताते हैं कि कर अधिकारियों के आगे अघोषित आयों का परिमाण बहुत अधिक है और लगातार बढ़ रहा है। भारत में काले धन की अर्थव्यवस्था के बारे में राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त एवं नीति संस्थान के अनुमानों के अनुसार, हाल के वर्षों में प्रतिवर्ष कोई 35,000 करोड़ रुपयों की करयोग्य आय करों के दायरे से बचकर निकलती रही है। वह आयकर जिसकी अदायगी होनी चाहिए मगर नहीं होती, कम-से-कम उस आयकर के बराबर है जो वास्तव में अदा किया जाता है (1990-91 में आयकर की वसूली 5,600 करोड़ रुपये थी)। उपर्युक्त अध्ययन (आचार्य एवं सहयोगी, 1985) में कम-से-कम आठ कारणों का वर्णन किया गया है और इस पर जोर दिया गया है कि ये स्वतंत्र रूप से नहीं, अपितु परस्पर मिलकर कार्यरत होते हैं। अधिकांश राजकोष विशेषज्ञ इस बात पर सहमत हैं कि अधिक दक्ष प्रशासन और प्रवर्तन के अलावा, नियंत्रणों की स्वविवेकी प्रणाली और अत्यधिक विभेदित तथा जटिल कर-प्रणाली काले धन की उत्पत्ति के अहम कारण हैं। हमारी कर-प्रणाली छूटों, जटिल कानूनों और विस्तृत प्रशासनिक नियमों से लदी पड़ी है जिससे कर का आधार कमजोर होता है और भ्रष्टाचार तथा करचोरी के पर्याप्त अवसर उपलब्ध होते हैं। समय-समय पर

इस प्रणाली को आसान और कम स्वविवेकी बनाने के प्रयास किये गये हैं किंतु अभी तक प्राप्त वास्तविक परिणाम संतोषप्रद नहीं रहे हैं। इस दिशा में और भी प्रयास करना राजकोषीय सुधारों की एक प्रमुख प्राथमिकता है।

भारत में कर-राजस्व की संरचना की एक उल्लेखनीय विशेषता है कि विगत वर्षों में प्रत्यक्ष करों का भाग घटता गया है और बजट अप्रत्यक्ष करों पर, खास तौर पर सीमाशुल्क से प्राप्त राजस्व पर, अधिकाधिक निर्भर होता गया है। कुल कर-राजस्व में प्रत्यक्ष करों का भाग 1950-51 में 37 प्रतिशत था जो 1990-1991 तक घटकर 20 प्रतिशत रह गया। इसी काल में वैयक्तिक आयकरों का भाग 21 प्रतिशत से कम होकर 9 प्रतिशत रह गया। सकल राजस्व में सीमाशुल्क का भाग 1990-91 में कोई एक-तिहाई था। केंद्र के कर-राजस्व में सीमाशुल्क का भाग इससे भी बहुत अधिक, 47 प्रतिशत था (सीमाशुल्क का राज्यों के साथ बंटवारा नहीं किया जाता)। उच्च नामिक और प्रभावी प्रशुल्क दरों के आर्थिक प्रभावों की विवेचना पिछले अध्याय में की जा चुकी है। प्रत्यक्ष करों के भाग में गिरावट बड़े पैमाने पर करचोरी की सूचक है। इससे कर-प्रणाली की दक्षता और न्यायोचितता और भी कम हो जाती है। जैसाकि सार्वजनिक वित्त संबंधी साहित्य में बताया गया है, 'क्षैतिज' और 'ऊर्ध्व', दोनों प्रकार की न्यायोचितता पर इसका प्रभाव पड़ता है। कारण कि इससे कर के बोझ और अदायगी की क्षमता का संबंध आय के सभी स्तरों पर टूटता है। एक अधिक संतुलित कर-संरचना वर्तमान दशक में कर-नीति की एक और प्रमुख प्राथमिकता है।

विकासशील देशों की कर-नीति उलझाव भरे मुद्दों का एक पिटारा है। यह ऐसा क्षेत्र है जिस पर ढेरों अनुभवाश्रित आंकड़ों के साथ गहन अनुसंधान हुआ है। एक अध्याय के (बल्कि एक पुस्तक के भी) कलेवर में इस विषय के साथ न्याय कर सकना संभव नहीं है। भारत सरकार की 'दीर्घकालिक राजकोषीय नीति' (1985) और काले धन पर 'राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त एवं नीति संस्थान' के अध्ययन (1985), दोनों में कर-सुधारों के संभावित स्वरूप के बारे में मूल्यवान सुझाव दिये गये हैं। हाल के वर्षों में लेटिन अमरीका, अफ्रीका और एशिया के अनेक विकासशील देशों ने सुधारों की प्रक्रिया आरंभ की है। उनके अनुभव वांछित संरचनागत परिवर्तनों की प्रकृति तथा उनको क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक कर-प्रशासन के बारे में कुछ उपयोगी संकेत प्रदान करते हैं। थर्स्क (1990) ने ऐसे दस देशों के अनुभवों का विश्लेषण किया है जिन्होंने पिछले दशक में कम-से-कम एक व्यापक कर-सुधार कार्यक्रम हाथ में लिया है। ये देश है : इंडोनेशिया, कोरिया, मेक्सिको, कोलंबिया, जमैका, बोलीविया, तुर्की, जिम्बाबवे, मलावी और मोरक्को। उनकी आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों में महत्वपूर्ण अंतर पाए जाते हैं। मगर इसके बावजूद उनके द्वारा लागू किये गये कर सुधारों में छह प्रवृतियां स्पष्ट देखी जा सकती हैं।

ये हैं : (अ) वर्धित मूल्य (ऐडेड वैल्यू) कर का लागू किया जाना (ब) निजी और निगमित करों की निम्नतर दरें और साथ में, अधिकांश छूटों की समाप्ति, (स) निजी और निगमित आयकरों का अधिकाधिक एकीकरण, (द) अनिगमित उद्यमों की करचोरी में कमी लाने के लिए निगमित और उच्चवर्गीय निजी आयकरों का सरेखण, (य) निजी और निगमित आयकरों के आधार को व्यापकतर बनाने के उपाय, और (र) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों की दरों में मुद्रास्फीति के अनुसार समायोजन।

प्रत्यक्ष कर के आधार को व्यापकतर बनाने के लिए उपर्युक्त में से कई देशों द्वारा किये गये उपाय खासतौर पर रोचक हैं। छूटों में कमी तथा निजी आयकर के आधार में अनुषंगी हितलाभों का समावेश, अर्थव्यवस्था के जिन वर्गों पर आसानी से कर नहीं लगाए जा सकते उनके लिए अनुमानित कराधान की विधियों का अधिक उपयोग, रोककारी करों का अधिक उपयोग और आम तौर पर एक कठोरतर कर-प्रशासन इन उपायों में शामिल हैं। छोटे व्यापारियों और नगरों के पेशेवर लोगों पर अनुमानित कर सकल प्राप्तियों, संपत्ति अथवा उपभोग के आधार पर लगाये गये हैं जो कर-योग्य आय के निहित स्तरों के सूचक हैं। मुद्रास्फीति के शिकार हो सकने वाले देशों ने यह भी पाया है कि वास्तविक कर-राजस्व को यथावत् रखने तथा मुद्रास्फीति से पैदा होने वाले अनौचित्यों से बचने के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनों प्रकार के करों का समायोजन आवश्यक है। अप्रत्यक्ष करों की दरों को मुद्रास्फीति से समायोजित न किया जाए तो राजस्व घाटे में वृद्धि हो जाती है जिससे मुद्रास्फीति को नियंत्रित करना कठिन हो जाता है। अगर वैयक्तिक कर की दरों को मुद्रास्फीति से समायोजित न किया जाये तो करयुक्त अनुषंगी हितलाभों में वृद्धि के लिए प्रेरणा उत्पन्न होती है। सूचकांकरहित कर-प्रणाली निगमित आयों पर देय करों की प्रभावी दरों को कम कर सकती है (ब्याज पर मिलने वाली अधिक कटौतियों के कारण) और (आयवर्ग के विसर्पण के कारण) उजरती आयों पर कर की दर बढ़ा सकती है।

यह सही है कि दूसरे देशों द्वारा किए गए कर-सुधार पूरी तरह भारत पर लागू नहीं किए जा सकते। फिर भी, भारत के लिए एक उपयुक्त प्रणाली की रचना करते समय उनके अनुभवों पर विचार करना आवश्यक है। किसी कारगर कर-प्रणाली की स्थिरता उसकी एक अहम शर्त होती है। भारतीय कर-प्रणाली में बहुत अधिक अस्थिरता पायी जाती रही है। इससे करचोरी, मुकद्दमेबाजी और प्रशासनिक स्वविवेक की संभावनाएं उत्पन्न होती हैं। अस्थिर प्रणाली निगमों और व्यक्तियों के आर्थिक व्यवहार पर भी प्रतिकूल प्रभाव डालती है कारण कि निवेशों या अन्य आर्थिक गतिविधियों से उत्पन्न करदेयता एक या दो वर्ष से अधिक समय के लिए निश्चित नहीं होती। हमें भावी संरचनागत सुधारों के कार्यक्रम पर सावधानी से विचार करना होगा और उसे लागू करने से पहले उस पर व्यापक बहस आवश्यक होगी।

अनुभव बताता है कि राजकोषीय सुधार कार्यक्रम के सफल क्रियान्वयन के लिए एक व्यापक राष्ट्रीय सहमति की आवश्यकता होती है।

## (ब) बजट और सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम

अनुमान है कि सार्वजनिक उद्यमों में कुल निवेश 300,000 करोड़ रुपये का है जो 1989-90 में देश के सकल राष्ट्रीय उत्पाद के लगभग बराबर है।[26] कुल निवेश का लगभग 75 प्रतिशत भाग केंद्रीय क्षेत्र में है। सार्वजनिक उद्यमों पर भारी निर्भरता का मूल तर्क 1956 के आद्यौगिक नीति संबंधी प्रस्ताव में प्रस्तुत किया गया था। प्रस्ताव में कहा गया था कि :

*राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में समाज के समाजवादी ढांचे की स्वीकृति और योजनाबद्ध तथा तीव्र विकास की आवश्यकता की मांग है कि बुनियादी और रणनीतिक महत्व के सभी उद्योग या लोकोपयोगी सेवाएं प्रदान करने वाले उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में हों। इसलिए एक व्यापकतर क्षेत्र में उद्योगों के भावी विकास का प्रत्यक्ष दायित्व राज्य को स्वीकार करना होगा।*

प्रस्ताव में इसे वांछनीय समझा गया था कि सार्वजनिक क्षेत्र 'अर्थव्यवस्था के शीर्ष' पर स्थित हो। उसकी धारणा के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र का शीर्षस्थ होना निम्नलिखित के लिए आवश्यक था : (अ) रणनीतिक क्षेत्रों में उत्पादन के साधनों का समाजीकरण, (ब) बड़े व्यापारिक घरानों की वृद्धि को रोकने के लिए एक जवाबी शक्ति उत्पन्न करना, (स) संतुलित क्षेत्रीय विकास सुनिश्चित करना, (द) आर्थिक अधिशेष उत्पन्न करना, और (य) व्यापक स्तर पर सहायक उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन देना।

निवेश को प्रोत्साहन देने के लिए सार्वजनिक उद्यमों पर निर्भर करना इसलिए अनिवार्य था कि बुनियादी उद्योगों और आधारिक संरचना से संबंधित उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक भारी संसाधन जुटाने की क्षमता निजी क्षेत्र में नहीं थी।[27]

यह बात माननी होगी कि सार्वजनिक निवेशों की संवृद्धि से अर्थव्यवस्था को महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुए हैं। सार्वजनिक उद्यमों ने आर्थिक विकास के लिए एक विशाल आधारिक संरचना खड़ी की और निजी क्षेत्र के लिए मांग का एक अहम स्रोत बन गया। इससे कुछ निजी निवेशों को सामाजिक रूप से वांछित दिशाओं में मोड़ने में भी सहायता मिली। निजी क्षेत्र की इजारेदारी की ताकत को नियंत्रित करने और क्षेत्रीय असंतुलन को कम करने में भी कुछ सीमा तक सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान रहा। सार्वजनिक उद्यमों में लागू वाजिब मजदूरियों और उदार कल्याणकारी प्रावधानों के कारण संगठित क्षेत्र के मजदूर वर्ग का जीवन-स्तर भी सुधरा जिससे निजी क्षेत्र के उद्यमों के लिए एक उदाहरण स्थापित हुआ। अर्थव्यवस्था के क्रोड (कोर) क्षेत्रों

में उत्पादन बढ़ाने में भी सार्वजनिक क्षेत्र का सार्थक योगदान रहा। मिसाल के लिए, कोयला उद्योग के राष्ट्रीयकरण के बाद चार-पांच वर्षों की संक्षिप्त अवधि में ही उसका उत्पादन लगभग 4 करोड़ टन बढ़ा। इसी प्रकार, ये सार्वजनिक क्षेत्र की ही तेल कंपनियां थीं जिन्होंने छठी पंचवर्षीय योजना में कच्चे तेल का उत्पादन तीनगुना करके तेल की कीमतों के दूसरे झटके को झेलने में सहायता पहुंचाई। उच्च प्रौद्योगिकी के दूसरे क्षेत्रों में भी ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जैसे, बिजली के उपकरणों के क्षेत्र में भेल (बी. एच. ई. एल.) और पेट्रोरसायनों के क्षेत्र में भारतीय पेट्रोरसायन लि. (आई. पी. सी. एल.)।

सार्वजनिक उद्यमों की स्पष्टतम असफलता वित्तीय क्षेत्र में रही है। एक अहम दोष यह है कि अनेक उद्यमों में क्षमता का अपेक्षाकृत कम उपयोग किया जाता रहा है। इससे पूंजी-निर्गत अनुपात बढ़ा है और पूंजी के उपयोग की दक्षता घटी है। अनेक उद्यमों के खराब वित्तीय परिणाम, काफी हद तक, निवेश संबंधी घटिया फैसलों के कारण रहे हैं। इनकी अभिव्यक्ति अनुपयुक्त स्थान निर्धारण (जैसे, नागालैंड कागज परियोजना), घटिया प्रौद्योगिकी (जैसे, शल्यचिकित्सा के उपकरणों का संयंत्र), अनुपयुक्त उत्पाद-मिश्र (जैसे, सेलम इस्पात संयंत्र) और आरोपित विपणन-व्यवस्थाओं (जैसे, कुद्रेमुख लौह अयस्क परियोजना) आदि में परिलक्षित होती है।

सार्वजनिक उद्यमों से व्यापार और सेवा से जुड़े दायित्वों समेत दूसरे कई दायित्व लेने को भी कहा जाता है। खाद्य-अर्थव्यवस्था में स्थायित्व लाने का काम भारतीय खाद्य निगम को सौंपा गया। कपास और पटसन के दामों में स्थिरता बनाए रखना भारतीय कपास निगम और भारतीय जूट निगम की जिम्मेदारी बन गयी। विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देना राज्य व्यापार निगम और खनिज एवं धातु व्यापार निगम की जिम्मेदारी बन गयी। दूसरे कई दबावों में आकर सार्वजनिक उद्यम अधिकाधिक अल्पकालिक और तदर्थ मांगों की पूर्ति के साधन बनते गए, जैसे व्यापक उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन, आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों में संवृद्धि को प्रोत्साहन तथा स्थानीय रूप से उपलब्ध कच्चे मालों का इस्तेमाल। इसके अलावा, निजी प्रबंध के अनेक रुग्ण उद्योगों को सरकार ने अपनी व्यवस्था में लिया ताकि उनमें कार्यरत श्रमिक बेराजगार न हों। इस अविवेकपूर्ण प्रसार के चलते आज सार्वजनिक क्षेत्र में तरह-तरह के उद्यम मौजूद हैं। 3000 करोड़ रुपये से लेकर कुछेक लाख रुपये तक के निवेश वाले उद्यम इनमें शामिल हैं। इनमें कार्यरत कर्मचारियों की संख्या भी 20 से लेकर 20,000 तक है।

सरकारी विभागों के पास इतने साधन नहीं हैं कि अर्थव्यवस्था के लगभग सभी क्षेत्रों में कार्यरत इतने बहुमुखी उद्यमों का प्रबंध कर सकें। सार्वजनिक क्षेत्र में खाली पड़े शीर्षस्थ पदों को भरने में सरकार की अयोग्यता इस प्रबंधकीय असफलता का द्योतक है। ये सभी नियुक्तियां सरकारी दायरे में आती हैं और उन पर मजदूर संघों

के दबावों या संसदीय छानबीन जैसी बाहरी बाधाएं लागू नहीं होतीं। कई पद्धतियों को आजमाया गया है लेकिन ये सरकार के अंदर निर्णय-प्रक्रिया में सुधार लाने में असफल रही हैं। कई समितियों ने व्यापक रिपोर्टें दी हैं लेकिन इन प्रयासों से कुछ खास हासिल नहीं हुआ है। वर्तमान दशक में सार्वजनिक उद्यमों के प्रबंध के लिए मूलतः नया दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। कार्मिक नीति, वित्त नीति और सार्वजनिक उद्यमों के नियंत्रण से जुड़े मुद्दों की संक्षिप्त विवेचना अध्याय 3 में की गयी है। सरकार की बजट नीति और प्रतियोगिता पर आधारित सार्वजनिक उद्यमों के पुनर्गठन से संबंधित दो मुद्दे ऐसे हैं जिन पर कुछ और विचार करना आवश्यक है।

जानोस कोर्नाय एक प्रमुख हंगेरियाई अर्थशास्त्री हैं। उन्होंने समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं के आर्थिक प्रबंध संबंधी साहित्य में नरम बजट बाध्यता (साफ्ट बजट कांस्ट्रेंट) की धारणा का समोवश किया था।[28] कोर्नाय का तर्क था कि 'नरम बजट' संलक्षण का संबंध आम तौर पर आर्थिक संगठनों के प्रति राज्य के पितृतुल्य व्यवहार से होता है। यह दृष्टिकोण यद्यपि समाजवादी प्रणालियों में अधिक स्पष्ट है लेकिन कठोरता की विभिन्न मात्राओं से युक्त मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में भी यह परिलक्षित होता है। चूंकि कोर्नाय की धारणा का अत्यधिक महत्त्व है, इसलिए इसके पूरे-पूरे निहितार्थों को यहां सामने रखना उपयोगी होगा। कोर्नाय (1990) के अनुसार :

> *बजट बाध्यता की 'नरमाई' तब सामने आती है जब व्यय और आय के सटीक संबंधों में ढील दी जाती है। कारण कि आय से व्यय की जो अधिकता होती है उसका भार किसी अन्य संस्था और खासतौर पर राज्य को उठाना पड़ता है। 'नरमाई' की एक और स्थिति यह है कि निर्णयकर्ता ऐसी बाहरी वित्तीय सहायता के प्रति अत्यधिक आशावान होता है और आशा की यह भावना उसके व्यवहार में दृढ़तापूर्वक घर कर लेती है (पृ. 21)।*

किसी सार्वजनिक उद्यम (या फिर, किसी निजी फर्म) के लिए बजट बाध्यता में सरकार कई प्रकार से नरमाई ला सकती है। इनमें ये उपाय शामिल हैं :

(क) **नरम सहायिकियां :** इनमें घट-बढ़ हो सकती है, ये निरवधि होती हैं और इन पर सौदेबाजी और जोड़तोड़ होती है। इनमें घाटों और लागत की बढ़ोतरी के स्वतः वित्तीयन की व्यवस्था भी शामिल हो सकती हैं।

(ख) **नरम कराधान :** इसका अभिप्राय ऐसी कर-प्रणाली से है जिसमें करों की दरें एकसमान नहीं होतीं बल्कि जिनको विभिन्न क्षेत्रों या विभिन्न व्यवस्थाओं की वित्तीय स्थिति के अनुसार घटाया-बढ़ाया जाता है। कर दायित्वों का पालन पूरी सख्ती से नहीं कराया जाता और कर से छूट पाने की संभावना हमेशा बनी रहती है। यहां स्पष्ट कर दिया जाये कि किसी कर-प्रणाली की नरमाई कर की दरों पर निर्भर नहीं

होती। दरें कम हों तो भी नियमों में एकरूपता होने पर और करों का भुगतान कड़ाई से कराए जाने पर कर-प्रणाली 'कठोर' हो सकती है।

(ग) **नरम उधार :** अगर ऋण के समझौते का पालन नहीं कराया जाता, अनियमित भुगतानों को भी बर्दाश्त किया जाता है और भुगतान-स्थगन तथा पुनर्निर्धारण की छूट दी जाती है, तो उधार प्रणाली नरम कही जायेगी। नरम उधार का प्रयोग अक्सर वित्तीय कठिनाई में फंसी फर्मों की सहायता के लिए किया जाता है जिसमें ऋण की चुकौती की कोई यथार्थ आशा नहीं होती।

(घ) **नरम प्रशासनिक कीमतें :** यह स्थिति तब आती है जब उद्यम अपनी दक्षता या बाजार की स्थिति पर ध्यान दिए बिना 'लागतों' की वसूली कर सकते हैं। बजट बाध्यता को नरम बनाने का एक वैकल्पिक उपाय यह है कि उद्यम को अपने घाटे या मुनाफे का ध्यान रखे बिना व्यय करने, प्रसार करने और निवेश करने की इजाजत दे दी जाती है।

कोर्नाय का कथन है कि बजट बाध्यता की कठोरता मात्र एक वित्तीय प्रश्न नहीं है। यह संरक्षक राज्य और संरक्षित उद्यम के बीच एक विशेष सामाजिक संबंध को प्रतिबिंबित करती है जहां राज्य 'संरक्षक' होता है और 'उद्यम' ग्राहक। बजट बाध्यता की नरमाई का तात्कालिक प्रभाव उद्यम के आर्थिक व्यवहार पर पड़ता है। घाटों की कोई चिंता नहीं होती और संसाधनों के कारगर उपयोग का कोई महत्व नहीं होता क्योंकि उस पर कोई भी बात निर्भर नहीं होती। उद्यम का अस्तित्व और प्रसार अपनी क्षमता और कार्य-परिणाम पर निर्भर न होकर बाहरी सहायता और निर्णयों पर निर्भर होता है। इसके अनेक महत्वपूर्ण आर्थिक परिणाम होते हैं। उद्यमों की कीमत संबंधी संवेदनशीलता घटती है और सापेक्ष कीमतों, ब्याज दरों और विनिमय दरों से तालमेल बिठाने की क्षमता कम होती है। इकाइयां प्रौद्योगिक परिवर्तनों और प्रतिकूल बाहरी स्थितियों के प्रति भी असंवेदी हो जाती हैं। एक और परिणाम यह होता है कि आगतों और निवेशों की मांग असीमित हो जाती है क्योंकि इन मांगों की पूर्ति उनके वित्तीय गुण-दोष पर नहीं, सरकार के फैसलों पर निर्भर होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'नरम बजट बाध्यता' का यह सिद्धांत भारतीय वस्तुस्थिति पर आश्चर्यजनक सटीकता के साथ लागू होता है। उद्यमों की बजट बाध्यता में नरमाई लाने के सारे उपाय भारत में अपनाए जाते रहे हैं। इसके आर्थिक परिणाम भी उतने ही स्पष्ट हैं। इन उद्यमों और उनके संचालकों का भविष्य पूरी तरह और केवल बाहरी शक्तियों पर निर्भर होता है न कि उनके आंतरिक कामकाज पर। बजट सहायिकियों, कर-छूटों और वरीयतामूलक ऋणों के सहारे घाटे में चलनेवाला कोई उद्यम, अथवा पूरा क्षेत्र ही, न केवल जीवित रह सकता है बल्कि अपना विस्तार भी कर सकता है। इस स्थिति में यह स्पष्ट है कि जब तक 'कठोर'

बजट बाध्यता का समावेश और व्यवहार नहीं किया जाता, सार्वजनिक उद्योगों में कोई ठोस प्रगति संभव नहीं है। सबसे पहले, घाटे में चल रहे उद्यमों को दी जानेवाली तरह-तरह की बजट और बजटेतर सहायताएं समाप्त कर दी जानी चाहिए। कोई घाटा हो तो उसे बैंकों से कार्यशील पूंजी के लिए ऋण लेकर सामान्य ढंग से पूरा किया जाना चाहिए जैसाकि अन्य उद्यम करते है। अगर उद्यम की वित्तीय स्थिति ऐसी है कि वह ऋण नहीं जुटा सकता तो इसके अलावा कोई उपाय नहीं होना चाहिए कि वह अपना काम काज कम करे, बंद हो जाए या किसी पुनर्वास योजना का सहारा ले। उसके बाद इक्विटी या विस्तार हेतु दिये गये ऋणों के रूप में अपने निवेशों पर सरकार को एक कठोर बजट बाध्यता लागू करनी चाहिए। सरकार को जोर देना चाहिए कि उसके निवेशों पर वाणिज्यिक दरों से प्रतिफल मिलना चाहिए और अगर न मिले तो प्रबंधमंडल बदल दिया जाना चाहिए।[29]

भारतीय परिस्थितियों में, तरह-तरह की खींचतान और दबावों के कारण, विधायी प्राधिकार के बिना किसी कठोर बजट बाध्यता को लागू करना कठिन हो सकता है। घाटे में चल रहे उद्यमों को आम तौर पर सरकार तथाकथित 'गैर-योजना ऋणों' के रूप में राजस्व सहायता प्रदान करती है। घाटे में चल रहे उद्यमों को अनुदान या गैर-योजना ऋण देने से केंद्र और राज्य सरकारों को रोकने के लिए कोई संविधान-संशोधन या कोई और उपयुक्त कानून आवश्यक होगा। रेलवे और डाक-तार जैसे विभागीय उद्यम इस प्रावधान के दायरे से बाहर रखे जा सकते हैं। बजट अनुशासन लागू करने के लिए एक कानूनी संशोधन के पक्ष और विपक्ष में दिए जाने वाले तर्कों की विवेचना हम कर चुके हैं। यह स्पष्ट है कि एक बहुदलीय लोकतंत्र में सभी दलों पर लागू होने वाला एक कानून अनुत्पादक बजट व्यय पर कारगर रोक लगा सकता है।

साथ ही, इन उद्यमों पर से वितरण और कीमत संबंधी सारे नियंत्रण हटा लेना आवश्यक है। इसके बिना किसी कठोर बजट बाध्यता को लागू कर सकना व्यावहारिक या उपयुक्त नहीं होगा। वितरण और कीमत-निर्धारण संबंधी फैसले उद्यमों पर ही छोड़ देने चाहिए और ये निर्णय प्रशासनिक मंत्रालयों से नहीं, बाजार के दबावों से उदभूत होने चाहिए। अतीत में उद्यमों के सापेक्षतः बुरे वित्तीय कामकाज का एक प्रमुख कारण यह रहा है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उत्पादों के कीमत-निर्धारण संबंधी फैसले लेने में देरी होती रही है। कीमत कम रखने के कारण भारी सहायिकियां देनी पड़ती हैं और वास्तविक संसाधन सार्वजनिक से निजी क्षेत्र को हस्तांतरित हो जाते हैं। लागतों पर कोई सरकारी नियंत्रण लागू नहीं होता जो बाजार के दबावों और सामूहिक सौदाकारी से निर्धारित होती हैं। दूसरी ओर, उत्पादों के कीमत-निर्धारण पर सरकारी नियंत्रण के कारण लाभदायकता कम होती है जिसके लिए सार्वजनिक उद्यम खुद उत्तरदायी नहीं है। यहां इस पर जोर देना आवश्यक है कि वितरण और

कीमत-निर्धारण पर से सरकार का नियंत्रण समाप्त होने पर आवश्यक नहीं कि कीमतें तेजी से बढ़ें या वितरण के स्वरूप में कोई अस्वीकार्य विकृति आये। वित्तीय और मौद्रिक नीतियां और प्रतियोगितापूर्ण वातावरण से यह सुनिश्चित हो सकता है कि कीमतें एक उपयुक्त स्तर पर बनी रहें और संसाधनों के उपयोग की दक्षता बढ़े। अगर वितरण संबंधी विशेष आवश्यकताएं हों या किसी विशेष समूह को संरक्षण देना आवश्यक हो तो सरकार के लिए बेहतर कार्रवाई यह होगी कि वह वितरण पर नियंत्रण लगाने के बजाय प्रत्यक्ष सहायिकी प्रदान करे।

## (स) सार्वजनिक उद्यमों का पुनर्गठन

औद्योगिक प्रतियोगित्व और औद्योगिक निष्पादन पर हाल के अनुसंधान बताते हैं कि दक्षता की वृद्धि के लिए 'दक्षता के प्रतियोगितामूलक प्रोत्साहनो' और समष्टिगत आर्थिक वातावरण की अपेक्षा स्वयं में स्वामित्व का महत्व कम है (लाल, 1990)। बिना किसी प्रतियोगिता के घरेलू बाजार में कार्यरत बड़ी इजारेदारियां अपनी दक्षता खोने लगती हैं और मांग के स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों या प्रौद्योगिक नवक्रियाओं के प्रति असंवेदनशील होती जाती हैं। उत्पादकता, निर्यात और प्रौद्योगिक नवक्रियाओं को प्रोत्साहन देने में जापान और कोरिया जैसे देशों की सफलता मुख्यतः उस सफलता के कारण है जो उन्होंने उत्पादन तथा अधिगम मे बड़े पैमाने की मितव्ययिताएं लाने तथा साथ ही, प्रतियोगिता सुनिश्चित करने और बड़े उद्यमों पर बाजार का अनुशासन लागू करने में प्राप्त की है। इसमें से अनेक सफल उद्यमों का गठन संगुटों (कांग्लोमेरेट्स) के रूप में किया गया है जो विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हैं और आपस में प्रतियोगिता करते हैं। विशालकाय 'चाइबोल' को प्रोत्साहन और संरक्षण देकर कोरिया इस रणनीति को सबसे आगे ले गया है।

कोरिया का उदाहरण, उपयुक्त संशोधनों के साथ, भारत के सार्वजनिक उद्यमों के पुनर्गठन के लिए एक उपयोगी आदर्श का काम कर सकता है। इन उद्यमों का गठन इस प्रकार करना होगा कि प्रतियोगिता का दबाव और बाजार का अनुशासन कम हुए बिना उत्पादन में बड़े पैमाने की मितव्ययिताएं प्राप्त की जा सकें। इसके लिए विद्यमान उद्यमों का विभिन्न समूहों में पुनर्गठन करके सार्वजनिक क्षेत्र में पांच या छह बहु-उत्पादी संगुट स्थापित किए जा सकते हैं। साथ ही, विशालकाय एकाधिकारी उद्यमों को चार-पांच ऐसी छोटी कंपनियों में तोड़ा जा सकता है जो आपस में खुलकर प्रतियोगिता करें। इन उपायों के द्वारा ऐसी व्यवस्था कर सकना संभव है जिसमें कई संगुट इस्पात, तेल, कोयला, दूरसंचार और अभियांत्रिकी जैसे विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करें। इन बहु-उत्पादी संगुटों के केंद्र में किसी विशेष उत्पाद वाली विशालतम कंपनी हो सकती हैं। मिसाल के लिए, संगुट 'अ' में विशालतम इस्पात संयंत्र ध्वजवाहक (फ्लैगशिप) कंपनी का कार्य कर सकता है और तेल, कोयला, और

दूसरे क्षेत्रों में कार्यरत अनेक दूसरी कंपनियां उससे जुड़ी हो सकती हैं। इसी प्रकार, एक 'तेल संगुट', एक 'कोयला संगुट' आदि भी हो सकते हैं जिनमें हरेक के साथ विभिन्न उत्पादसमूहों वाली अनेक कंपनियां जुड़ी हों। प्रत्येक संगुट को अपने व्यवसाय के प्रबंध की पूर्ण कार्यकारी स्वतंत्रता होनी चाहिए और उसके निदेशकमंडल को इसका अधिकार होना चाहिए कि वह आवश्यकतानुसार छोटी कंपनियों का संविलय या विक्रय कर सके, उत्पाद-मिश्र को बदल सके या दूसरे क्षेत्रों की ओर विविधीकरण कर सके। इन संगुटों पर उत्पादन संबंधी विभिन्न मंत्रालयों का प्रशासनिक नियंत्रण होना चाहिए। प्रशासक मंत्रालय का प्रमुख दायित्व उद्यम के कार्य-कलाप की वार्षिक समीक्षा करना और उस समीक्षा को संसद में प्रस्तुत करना होगा।

यह प्रणाली कारगर हो सके, इसके लिए सार्वजनिक क्षेत्र के संगुटों के प्रमुख लक्ष्यों का स्पष्ट निरूपण होना चाहिए। जहां तक विद्यमान उद्यमों और गतिविधियों का सवाल है, वित्तीय कार्यकलाप में सुधार और आगे निवेश के लिए अधिशेष पैदा करना अगले दशक के सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य होने चाहिए। देश एक भारी राजकोषीय संकट से गुजरता रहा है जिससे अर्थव्यवस्था के अनेक महत्वपूर्ण क्षेत्रों में पूंजी-निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इस प्रवृत्ति को पलटना वर्तमान दशक में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबधकमडलों का प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए। जहां तक नये निवेशों का प्रश्न है, योजना आयोग को चाहिए कि वह क्षेत्रीय विकीर्णन और न्यायोचित्त्ता के विचारों को ध्यान में रखकर प्राथमिकताओं का निर्धारण करे। संगुटों के प्रबंधकों के साथ इन प्राथमिकताओं पर विचारविमर्श भी किया जाना चाहिए। निवेश की समग्र प्राथमिकताओं के निर्णय तो आयोग को ही लेने चाहिए लेकिन कार्यकलाप और लाभदायकता के बारे में उनके निहितार्थो पर उद्यमों के विचार जनता और संसद को भी ज्ञात होने चाहिए।

इस प्रकार की व्यवस्था सार्वजनिक उद्यमों के प्रबंध के वर्तमान स्वरूप में आमूल परिवर्तन ला देगी। यह उन दो पुरानी मान्यताओं को भी बदल देगी जो पिछले 40 वर्षो से भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबंध का मार्गदर्शन करती रही हैं। आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि अगर मुनाफे हों तो अच्छा है लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र से उसकी 'सामाजिक' भूमिका (चाहे उसका कुछ भी अर्थ हो) को देखते हुए प्रायः यह आशा नहीं की जाती कि वह वित्तीय लाभ के लिए काम करेगा। इसी प्रकार, प्रतियोगिता को भी आयोजना का विरोधी माना जाता रहा है जो प्रत्येक उत्पाद के लिए औद्योगिक क्षमता के लक्ष्य निर्धारित करने तथा उत्पादकों की एक सीमित संख्या के बीच इस क्षमता को वितरित करने का काम करती रही है।

प्रतियोगिता के प्रति यह संदेहदृष्टि भारत की योजनाओं की एक मार्गदर्शक मान्यता रही है हालांकि बाद की योजनाओं में इस पर जोर कुछ कम हुआ है।

इस दृष्टिकोण का कारण इस रूप में समझा जा सकता है कि देश आयोजना के आरंभिक चरणों में जल्दी में था और मार्गदर्शन के लिए कोई खास अनुभव उपलब्ध नहीं थे। लेकिन उसके बाद प्राप्त अनुभवों तथा भारत और अन्य देशों में सार्वजनिक उद्यमों के कार्य-परिणामों से स्पष्ट होता है कि एकाधिकारी संरचनाएं और प्रबंध की समुचित संरचनाओं का अभाव भी इन उद्यमों के असंतोषप्रद व्यवहार के प्रमुख कारण रहे हैं।[30] समय आ गया है कि इससे पूरी तरह नाता तोड़ लिया जाये, पुराने सिद्धांतों को उलटा जाये और सार्वजनिक उद्यमों को प्रतियोगिता के आधार पर पुनर्गठित किया जाये। इस परिवर्तन को लागू करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि एक सार्वजनिक क्षेत्र पुनर्गठन आयोग स्थापित किया जाये जिसके विचारार्थ विषय सुनिर्दिष्ट हों और जिसे यह राजनीतिक अधिदेश प्राप्त हो कि वह एक विशेष समयसीमा में इस पुनर्गठन को लागू कर सके।

इस प्रकार की सांगठनिक संरचना उस चीज को समाप्त करेगी जिसे एक लेखक (मारिस, 1991) ने सरकार और सार्वजनिक उद्यमों का 'अपक्रियात्मक सपर्क' (डिस्फंक्शनल इंटरफेस) कहा है। प्रबंध का दायित्व पूरी तरह पेशेवर प्रबंधकों पर आयेगा और प्रतियोगिता के कारण जवाबदेही सुनिश्चित होगी। निश्चित ही यह नयी संरचना सारी समस्याओं का समाधान नहीं करेगी। लेकिन यह सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के अधिक प्रकार्यात्मक और दक्षतापूर्ण पुनर्गठन के लिए आवश्यक स्थितियां अवश्य उत्पन्न करेगी।

सार्वजनिक क्षेत्र की संवृद्धि की बुनियाद दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956) ने रखी थी। उसने भी सार्वजनिक क्षेत्र के संदर्भ में प्रयोगों और विकेंद्रीकरण की आवश्यकता स्वीकार की थी। योजना में कहा गया था कि :

> *अर्थव्यवस्था ऐसी एक विशालकाय वस्तु या संगठन वनकर रह जाये जिसमें रूपों या कार्यकलाप की पद्धतियो के बारे में प्रयोगों की कोई विशेष गुंजाइश न हो, यह न तो आवश्यक है और न ही वांछनीय। न ही सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार का अर्थ निर्णयकार्य और प्राधिकार प्रयोग का केंद्रीकरण होना चाहिए। लक्ष्य वास्तव में यह सुनिश्चित करना होना चाहिए कि दायित्वों का समुचित विकेंद्रीकरण हो तथा व्यापक मार्गदर्शक सिद्धांतों या मान्य नियमों के ढांचे के भीतर सार्वजनिक उद्यमों को कार्यकलाप की पूरी स्वतंत्रता प्राप्त हो। सार्वजनिक उद्यमों का संगठन और प्रबंध ऐसा क्षेत्र है जिसमें पर्याप्त प्रयोग आवश्यक होंगे (पृ. 23)।*

तब से 35 वर्ष बीत चुके हैं और इस वचन पर कर्म का समय अब और टाला नहीं जा सकता।

राजकोष की स्थिति में सुधार और सार्वजनिक उद्यमों की उत्पादकता में वृद्धि–वर्तमान दशक में बचत की दर बढ़ाने की रणनीति के ये दो प्रमुखतम तत्त्व हैं। इसके लिए सरकारी सहायिकियों की भूमिका, प्रशासन और उद्यमों के संगठन

पर आमूल पुनर्विचार की आवश्यकता है। भारतीय अर्थव्यवस्था का व्यवहार और भारत के विकास का स्वरूप पूरी तरह इस पर निर्भर होगा कि इस चुनौती का सामना कितनी सफलता और कितनी तीव्रता से किया जाता है।

## टिप्पणियां

1. विकासशील देशों में बचत के व्यवहार से जुड़े सैद्धांतिक मुद्दो की विवेचना के लिए डीटन (1989), गेर्सोवित्ज (1988) तथा हक और मोंटिएल (1989) देखें।

2. 1950-51 से 1986-87 के काल में भारत में दीर्घकालिक बचत-व्यवहार पर उमा दत्त रायचौधुरी (1990) ने दो प्राक्कल्पनाओं का परीक्षण किया है (अ) कि चालू वर्ष की आय घरेलू बचत के स्तर को प्रभावित करने वाला महत्वपूर्ण कारक है, और (ब) गृहस्थों की चालू वर्ष की बचत न केवल उनकी चालू वर्ष की आय से बल्कि प्रत्याशित औसत आय से भी प्रभावित होती है। दूसरे शब्दों में, बचत आय के एक संग्रथित 'स्थायी' घटक का फलन होती है (जो अल्पकालिक उतारचढावों से स्वतंत्र होता है) और साथ ही, यह एक 'संक्रमणशील' घटक का भी फलन होती है। उनका निष्कर्ष यह था कि द्वितीयोक्त प्राक्कल्पना बचत-व्यवहार की बेहतर व्याख्या करती है। फिर भी, उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि आंकड़ो की अनेक अनिश्चितताओ के कारण किसी ठोस नतीजे पर पहुंचना संभव नहीं है।

3. संवृद्धि-बचत-संबंध पर सैद्धांतिक साहित्य की विवेचना के लिए अध्याय 2 की टिप्पणियां देखें।

4. बचत की बाध्यता विकास की प्रमुख बाध्यता होती है—यह विचार विकास की रणनीति के भारतीय चयन का प्रमुख निर्धारक था। चक्रवर्ती (1987 अ, पृ. 9-10) देखें। 1960 में भारत यात्रा के दौरान लिखे गए एक दिलचस्प आलेख में कलेकी ने ऐसी कर-नीति के निरूपण को पर्याप्त महत्व दिया है जो अनावश्यक वस्तुओं के उपभोग पर नियंत्रण लगाए। आशा की जाती थी कि ऐसी कोई नीति निवेशों के लिए पर्याप्त संसाधन उपलब्ध कराएगी। चक्रवर्ती (1987 अ, पृ. 23-24) देखें।

5. भारत ने भी 1956 में निकोलस कालडोर की रिपोर्ट के बाद एक प्रत्यक्ष व्यय कर का प्रयोग किया था। लेकिन बहुत कम प्राप्ति और प्रशासनिक जटिलता के कारण इसे आगे चलकर त्याग दिया गया।

6. अध्याय 1 देखें।

7. यह दिलचस्प जानकारी है कि आवश्यक वस्तुओं की पर्याप्त आपूर्ति बनाए रखने के प्रश्न पर हमारे योजनाकारों ने कलेकी से थोड़ा भिन्न दृष्टिकोण अपनाया। कलेकी आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति की ऐसी संवृद्धि-दर सुनिश्चित करने को पर्याप्त महत्व देते थे जिसकी राष्ट्रीय आय की संवृद्धि-दर के साथ संगति हो।

8. भारत के सरकारी दस्तोवेजों में 'आवश्यक' और 'अनावश्यक' शब्दों का प्रयोग बहुत आम है, पर 'आवश्यक' वस्तुओं की सटीक परिभाषा में संदर्भ के अनुसार पर्याप्त लचीलापन हो सकता है। सटीक रूप में कहें तो आवश्यक वस्तु अधिनियम में अधिसूचित वस्तुओं की दृष्टि से,

आवश्यक वस्तुएं खाद्यान, दालों, खाद्य तेलों, मिट्टी का तेल, कपड़ा, वनस्पति और माचिस जैसी केवल पांच-छह औद्योगिक वस्तुओं तक ही सीमित हैं।

9. तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961, पृ. 127-30). अंग्रेजी संस्करण।

10. 1974-75 से 1979-90 के वर्षों के लिए वित्त मंत्रालय द्वारा प्रकाशित आर्थिक सर्वेक्षणों में औद्योगिक और लाइसेंस नीति के परिवर्तनों के विवरण उपलब्ध हैं। 1975-76 और 1976-77 में औद्योगिक लाइसेंस और आयात की नीतियों के उदारीकरण के लिए कुछ कदम उठाए गए थे (जैसे, लाइसेंसमुक्त क्षेत्र में मूल्य की सीमा बढ़ाना, आयातों के लिए 'स्वचालित' लाइसेंस की प्रणाली लागू करना और कार्यप्रणालियों को सरल बनाना)। 1977 में औद्योगिक नीति का एक नया वक्तव्य स्वीकार किया गया जिसमें औद्योगिक विकास में लघु क्षेत्र और विकेंद्रीकृत क्षेत्र की भूमिका पर जोर दिया गया था।

11. दृष्टिकोण के इस परिवर्तन का एक अच्छा संकेत मानवनिर्मित रेशो के उत्पादन के प्रक्षेपणों से प्राप्त होता है। पिछली योजनाओं ने प्रतिबंधात्मक उत्पादन लाइसेंस प्रणाली के द्वारा इसके उत्पादन को उपभोग की वृद्धि से काफी कम रखने की कोशिश की थी। छठी योजना में पालिएस्टर फिलामेंट धागों और स्टेपिल रेशों के उत्पादन को दोगुना अर्थात् लगभग 33,000 टन से बढ़ाकर 73,000 टन करने की व्यवस्था की गयी। अंततः यह व्यवस्था भी अत्यधिक अयथार्थवादी सिद्ध हुई।

12. राज (1986) समेत अनेक लेखकों का तर्क है कि सातवे दशक के मध्य के बाद औद्योगिक संवृद्धि में कमी का कारण पूजीगत मालों की मांग में आया गतिरोध और सार्वजनिक निवेश का निम्न स्तर था।

13. साहित्य की समीक्षा के लिए, और वास्तविक ब्याज-दर से स्तर तथा संवृद्धि-दर और बचत अनुपात जैसे कुछ समष्टिगत आर्थिक चरों के बीच 1971-80 के दौरान 64 विकासशील देशों में जो औसत संबंध पाए गए, उन पर अंतर्देशिक साक्ष्यों के लिए खटखटे (1988 अ) देखे।

14. खटखटे (1991) की गणनाओ में कीमतो और नामिक विनिमय दर में होनेवाले परिवर्तनो को भी ध्यान में रख गया है। विकासशील देशों में वास्तविक ब्याज दरों के स्तर के मापन में अवधारणा और आंकड़ों संबंधी अनेक समस्याएं है। खटखटे (1988 ब) देखें।

15. डोर्नबुश और रेनोसो (1989) ने व्यापकतर विकासमूलक आधारों पर मुद्रास्फीतिकारी वित्तीयन के इस्तेमाल के प्रति सावधान किया है। लेटिन अमरीका का अनुभव बताता है कि "आर्थिक विकास के चालक के रूप मे घाटे की वित्तव्यवस्था की प्रभाविता बहुत सीमित और असाधारण रूप से घातक होती है। मुद्रास्फीतिकारी वित्तीयन का अतिशय प्रयोग अपनी ही एक गति पकड़ लेता है जो विकास के प्रयासों को एक दशक या उससे अधिक पीछे धकेल सकता है" (पृ. 209)।

16. भारतीय संदर्भ में, भट्टी और शर्मा (1977) ने भी बचत-संवृद्धि की पहली शर्त के रूप में कीमतों की स्थिरता के महत्व पर जोर दिया है। उनके अध्ययन में 1950-51 से 1973-74 के काल में भारत के बचत-व्यवहार की पड़ताल की गयी है।

17. 1980-81 के बाद के आंकड़े पहले के आंकड़ो से पूरी तरह तुलनीय नहीं हैं क्योंकि उस वर्ष राष्ट्रीय आय लेखा सांख्यिकी की एक नयी शृंखला शुरू की गयी थी।

18. भारत में बजट व्यवहारों और लेखाकरण की प्रणाली के विवरण के लिए स्वरूप (1990) देखें।

19. इस अध्याय में आगे की सारी विवेचना केंद्र सरकार पर केंद्रित है। इस समस्या की प्रकृति और प्रस्तावित समाधानों को काफी हद तक राज्य सरकारों पर भी लागू किया जा सकता है।

20. सरकारी व्यय की स्वायत्त वृद्धि की प्रवृत्ति का एक आरंभिक निरूपण एडोल्फ वैगनर द्वारा किया गया था। वैगनर की भविष्योक्ति यह थी कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया के घटित होने पर "सरकारी व्यय का उत्पादन की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से बढ़ना अवश्यंभावी है।" पीकाक और वाइज़मैन (1967) देखें।

21. व्यय की वृद्धि को रोकने की असफलता कई दूसरे देशों का भी साझा अनुभव है। मिसाल के लिए, शिक (1990) का कथन है कि "सीधा-सादा तथ्य यह है कि औद्योगिक लोकतंत्र सार्वजनिक व्यय की वृद्धि को रोकने के लिए कोई विशेष कार्रवाई नहीं कर सके हैं" (पृ. 45)। वे यह भी कहते हैं कि सार्वजनिक वित्त पर अंकुश लगाने की असफलता मुख्यतः आर्थिक नहीं, राजनीतिक समस्या है। "व्यय में कटौती का मतलब सेवाओं में कमी, हितलाभो में कमी, अदायगियों के अधिकारों में कटौती और घाटों का आबंटन है। लोकनांत्रिक राजनीतिज्ञों के लिए इनमें से कोई भी काम आसान नहीं है" (पृ. 46)। शिक ने अमरीका में प्रकाशित राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान ब्यूरो के एक अध्ययन का हवाला दिया है जिसमें लोकतांत्रिक देशों के ऋण स. रा. उ. अनुपात का राजनीतिक शक्ति के विभिन्न परिमाणों से सहसंबंध स्थापित किया गया था। इसका निष्कर्ष जो कि बहुत आश्चर्यजनक नहीं है, यह था कि "मजबूत सरकारों के मामले में यह अनुपात कमजोर सरकारो की अपेक्षा कम होता है। अमरीका में जहां राजनीतिक दुर्बलता का कारण सरकार के विधायी और कार्यकारी अंगो के बीच शक्तियों का विभाजन है वहां दूसरे देशों में यह अस्थिर गठबधनों, अल्पमत सरकारों या बार-बार के चुनावों के कारण हो सकती है" (पृ. 51)।

22. चक्रवर्ती ने यह संभावना व्यक्त की है कि सार्वजनिक और निजी बचतों में अंतःसंबंध हो सकते हैं और घरेलू बचतों का व्यवहार संभव है कि सरकारी व्यय की प्रवृत्ति से असंबद्ध न हो। निजी क्षेत्र मे आय की उत्पत्ति पर सरकार के राजस्व घाटों का प्रभाव पड़ सकता है। यह बात सिद्धांत रूप मे सही तो है मगर भारत में इसका कोई प्रमाण नहीं है कि सरकार के बढ़ते राजस्व घाटों के कारण निजी क्षेत्र मे बचत के अनुपात में वृद्धि हुई हो। 1976-77 से 1980-81 के काल में घरेलू क्षेत्र का बचत अनुपात औसतन स. घ. उ. का 15.4 प्रतिशत था जबकि सरकार के राजस्व बजट मे अधिशेष की स्थिति थी। 1984-85 से 1988-89 के काल में भी यह अनुपात लगभग अपरिवर्तित रहा जबकि राजस्व घाटे बढ़ रहे थे।

23. पारिख और सूर्यनारायण (1991) ने अर्थव्यवस्था के लिए उर्वरक की क़ीमतों की वृद्धि के निहितार्थों की छानबीन की है। इसके लिए उन्होंने सामान्य संतुलन के एक मॉडल का उपयोग करते हुए अनुरूपण कार्य (साइम्यूलेशन) किया है। यह मॉडल आपूर्ति, आय, कीमतो और उपभोग के परिवर्तनों के कारण बताता है। उर्वरकों की कीमतों में 20 प्रतिशत की वृद्धि करने से सरकार के घाटे में 1000 करोड़ रुपये से अधिक की कमी होनी चाहिए। इस अध्ययन में कहा गया है कि उर्वरकों को प्राप्त सहायिकी की आंशिक या पूर्ण समाप्ति के कारण कृषि-उत्पादन की वृद्धि या गरीब किसानों की आय पर जो भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, उसकी अपेक्षा से अधिक क्षतिपूर्ति इस प्रकार हो सकती है कि इन संसाधनों के कुछ भाग का इस्तेमाल ग्रामीण निर्माण-कार्य के अतिरिक्त कार्यक्रमों और ग्रामीण सिंचाई में और भी निवेश के लिए किया जाये। यह नीतिसमूह उर्वरकों पर सहायिकी देने की नीति की अपेक्षा 'असंदिग्ध रूप से' श्रेष्ठतर है।

24. ऐसा ही एक प्रावधान इंडोनेशिया में किया गया है और अत्यधिक प्रभावी पाया गया है। अमरीका, पश्चिम जर्मनी और कनाडा में सरकार के ऋण लेने पर भिन्न-भिन्न प्रकार की सांविधिक सीमाएं हैं।

25. राजकोषीय नीति से संबद्ध साहित्य और प्रमुख प्रश्नों की हाल में एक समीक्षा आचार्य (1988) द्वारा की गयी है। आचार्य का आलेख सरकार द्वारा 1985 में घोषित दीर्घकालिक राजकोषीय नीति के प्रमुख लक्ष्यों का भी एक विवरण देता है।

26. स. रा. उ. के ये आंकड़े चालू कीमतों पर हैं जबकि निवेश के आंकड़े ऐतिहासिक लागतों पर हैं। इन आंकड़ों के इस्तेमाल का एकमात्र उद्देश्य अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र के आकार को दर्शाना है।

27. महलनवीस (1955) द्वारा दिया गया एक और दिलचस्प तर्क पूंजीगत माल के दाम कम रखने की आवश्यकता से संबंधित था। उनका कथन था कि "हमारी अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के द्रुत औद्योगीकरण के लिए पूंजीगत माल की लागत को यथासंभव कम रखना वांछनीय होगा। विचाराधीन पूंजीगत माल का प्रकार अंतिम उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन से जितना ही दूर होगा, दाम कम रखने की आवश्यकता भी उतनी ही अधिक होगी। निवेशमूलक वस्तुओं के उत्पादन की मशीनें बनानेवाली भारी मशीनें उपभोग के लक्ष्य से सबसे अधिक दूर हैं। इसलिए आवश्यक है कि सरकार को भारी मशीन उद्योग पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो ताकि वह राष्ट्रीय आवश्यकताओं को देखते हुए कीमतों का निर्धारण कर सके" (पृ. 51-52)।

28. कोर्नाय ने नरम बजट बाध्यता की धारणा का प्रतिपादन अपनी पुस्तक *इकनामिक्स ऑफ शार्टेज* (1980) में किया था जिसमें उन्होंने समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में दीर्घकालिक कमी का सिद्धांत प्रस्तुत किया था जिस पर खूब चर्चा हुई है। कोर्नाय की पुस्तक *विजन एंड रियलिटी, मार्केट एंड स्टेट* (1990) नरम बजट बाध्यता के सिद्धांत का एक पुनर्निरूपण और सटीक व्याख्या प्रस्तुत करती है।

29. भारतीय संदर्भ में निजीकरण के प्रश्न की विवेचना के लिए अध्याय 3 देखें।

30. कहने की जरूरत नहीं कि मात्र प्रतियोगिता से ही दक्षता सुनिश्चित नहीं हो जाती। 1990 में, सार्वजनिक उद्यम विभाग ने 43 उद्यमों को प्रतियोगितासमर्थ मगर दीर्घकालिक रूप से रुग्ण घोषित किया था। इनमें से 27 उद्यम निजी क्षेत्र के रुग्ण उद्यम थे जिनका सरकार ने अधिग्रहण किया था। शेष उद्यम गलत प्रौद्योगिकी, अनुपयुक्त स्थान-निर्धारण और मांग की कमी के कारण रुग्ण हुए थे। लेकिन प्रबंध की असफलता और नरम बजट बाध्यता के कारण उनके उपचार के उपाय नहीं किए जा सके।

## तालिका 5.1
## चालू और स्थिर कीमतों पर घरेलू (सकल और निवल) बचत के अनुपात (1980-81 से 1989-90 तक)

| *वर्ष* | *बाजार कीमतों पर स. घ. उ. के प्रतिशत के रूप में स. घ. बचतें* | | *बाजार कीमतों पर निवल घ. उ. के प्रतिशत के रूप में निवल घ. बचतें* | |
|---|---|---|---|---|
| | *चालू कीमतों पर* | *1980-81 की कीमतों पर* | *चालू कीमतों पर* | *1980-81 की कीमतों पर* |
| 1980-81 | 21.16 | 21.16 | 13.47 | 13.47 |
| 1981-82 | 20.99 | 20.80 | 13.11 | 13.06 |
| 1982-83 | 19.39 | 19.19 | 10.92 | 10.94 |
| 1983-84 | 19.55 | 19.08 | 11.30 | 11.14 |
| 1984-85 | 18.70 | 18.21 | 10.10 | 10.11 |
| 1985-86 | 20.44 | 19.71 | 11.61 | 11.53 |
| 1986-87 | 19.53 | 18.69 | 10.39 | 10.43 |
| 1987-88 | 19.64 | 19.04 | 10.52 | 10.66 |
| 1988-89 | 21.09 | 20.36 | 12.42 | 12.33 |
| 1989-90 | 21.66 | 20.81 | 12.68 | 12.69 |

*टिप्पणी : चालू कीमतों पर वित्तीय रूप में घरेलू क्षेत्र की बचतों को स्थिर कीमतों में परिवर्तित किया गया है। इसके लिए हमने निजी अंतिम उपभोग व्यय के अपस्फीतक का प्रयोग किया है। बचत के शेष सभी घटकों को कुल सकल घरेलू पूंजीनिर्माण के अपस्फीतक का प्रयोग करके स्थिर कीमतों में परिवर्तित किया गया है। देखें शेट्टी (1990)। तालिका में दिये गये आंकड़ों का पुनराकलन और अद्यतनीकरण शेट्टी द्वारा किया गया है जिसमें उन्होंने अधुनातक उपलब्ध आंकड़ों का प्रयोग किया है।*

*स्रोत : नेशनल एकांउट्स स्टेटिस्टिक्स, विभिन्न अंक।*

## तालिका 5.2

## भारत में सार्वजनिक क्षेत्र और घरेलू क्षेत्र की बचतें 1980-81 से 1989-90 तक

### (अ) सकल घरेलू बचतें (हजार करोड़ रु. में)

| *वर्ष* | *सार्वजनिक क्षेत्र* | | *घरेलू क्षेत्र* | |
|---|---|---|---|---|
| | *चालू कीमतों पर* | *1980-81 की कीमतों पर* | *चालू कीमतों पर* | *1980-81 की कीमतों पर* |
| 1980-81 | 4.7 | 4 7 | 21.8 | 21.8 |
| 1981-82 | 7.3 | 6.5 | 23.7 | 21.0 |
| 1982-83 | 7.8 | 6.4 | 23.7 | 19.2 |
| 1983-84 | 6.8 | 5.2 | 30.5 | 19.7 |
| 1984-85 | 6.5 | 4.6 | 32 6 | 21.8 |
| 1985-86 | 8.5 | 5.3 | 39.8 | 25.0 |
| 1986-87 | 8.0 | 4.6 | 44.2 | 25 7 |
| 1987-88 | 6.9 | 3.7 | 52 7 | 29.0 |
| 1988-89 | 7.7 | 3.8 | 67.4 | 34 6 |
| 1989-90 | 7.6 | 3.4 | 78.9 | 38.3 |

### (ब) निवल घरेलू बचतें (हजार करोड़ रु. में)

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 1980-81 | (–) 0.2 | (–) 0.2 | 16.4 | 16.4 |
| 1981-82 | 1.4 | 1.3 | 17 1 | 15.3 |
| 1982-83 | 0.8 | 0.7 | 16.1 | 13.5 |
| 1983-84 | (–) 1.3 | (–) 1 0 | 22 1 | 13.7 |
| 1984-85 | (–) 2.9 | (–) 2.0 | 23 1 | 15.5 |
| 1985-86 | (–) 2.9 | (–) 1.8 | 28.9 | 18.6 |
| 1986-87 | (–) 5.1 | (–) 2.9 | 32.0 | 19.1 |
| 1987-88 | (–) 8.1 | (–) 4.2 | 39.1 | 22.3 |
| 1988-89 | (–) 9.8 | (–) 4.7 | 52.1 | 27.6 |
| 1989-90 | (–) 13.2 | (–) 5.8 | 61.6 | 31.1 |

## (स) सकल और निवल घरेलू उत्पाद (हजार करोड़ रु. में)

| वर्ष | सकल घरेलू उत्पाद | | निवल घरेलू उत्पाद | |
|---|---|---|---|---|
| | चालू कीमतों पर | 1980-81 की कीमतों पर | चालू कीमतों पर | 1980-81 की कीमतों पर |
| 1980-81 | 135.8 | 135 8 | 123.7 | 123.7 |
| 1981-82 | 159 4 | 144.6 | 145.0 | 131.8 |
| 1982-83 | 177.6 | 149.9 | 160.7 | 136.3 |
| 1983-84 | 206.9 | 161.0 | 187 6 | 146.5 |
| 1984-85 | 230 7 | 167.0 | 208.6 | 151.6 |
| 1985-86 | 262 6 | 177.4 | 236.4 | 161.1 |
| 1986-87 | 293 4 | 185.9 | 263.4 | 168.5 |
| 1987-88 | 332.6 | 194 4 | 298.7 | 175.9 |
| 1988-89 | 395 0 | 212.6 | 355.9 | 193.3 |
| 1989-90 | 442.8 | 223.3 | 397.2 | 202.9 |

*टिप्पणी · स्थिर कीमतों पर गणना करने के लिए निम्न अपस्फीतकों का प्रयोग किया गया है : वित्तीय बचतो के लिए निजी उपभोग व्यय का अपस्फीतक और बचत के अन्य घटकों के लिए पूंजीनिर्माण के संगत अपस्फीतक (देखें शेट्टी, 1990) । सभी आंकडे पूर्णांकित कर दिये गये हैं।*

*स्रोत . नेशनल एकाउट्स स्टेटिस्टिक्स, विभिन्न अक ।*

## तालिका 5.3
## सरकार की चालू प्राप्तियां, चालू व्यय और बचत
## (बाजार कीमतों पर स. घ. उ. के प्रतिशत के रूप में)

| | 1970-71 | 1975-76 | 1980-81 | 1984-85 | 1989-90 |
|---|---|---|---|---|---|
| एक. चालू प्राप्तियां | 13.2 | 16 1 | 15.9 | 17.2 | 19.0 |
| इसके घटक इस प्रकार हैं . | | | | | |
| कर राजस्व | 11.5 | 14.6 | 15.0 | 15.8 | 17.4 |
| करेतर राजस्व | 1.7 | 1.5 | 0.9 | 1.4 | 1.6 |
| दो. चालू व्यय | 11.5 | 13.2 | 15.2 | 18.7 | 23.1 |
| इसके घटक इस प्रकार हैं · | | | | | |
| प्रतिरक्षा | 2.9 | 3.3 | 3.0 | 2.9 | 3.2 |
| ब्याज की अदायगी | 0.5 | 0 6 | 1 1 | 2.2 | 3.4 |
| सहायिकियां | 0.8 | 1.4 | 2.3 | 3.4 | 4.2 |
| अन्य | 7.3 | 7.9 | 8 3 | 10.2 | 12.3 |
| तीन. सरकारी बचतें | 1.7 | 2.9 | 0.7 | −1.5 | −4.1 |

*स्रोत : नेशनल एकाउंट्स स्टेटिस्टिक्स, विभिन्न अंक*

**तालिका 5.4**

**केंद्र के सार्वजनिक उद्यमों की रूपरेखा (प्रोफाइल)**

| | इकाई | *1980-81* | *1985-86* | *1988-89* | *1989-90* |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. कार्यरत सार्वजनिक उद्यमों की संख्या | संख्या | 163 | 211 | 226 | 227 |
| 2. निवेशित पूंजी | करोड़ रु. | 18207 | 42965 | 67629 | 84437 |
| 3. आवर्त (टर्नओवर) | करोड़ रु | 28635 | 62360 | 93137 | 106078 |
| 4. सकल शेष (मूल्यहास ब्याज और करों से पहले का लाभ) | करोड़ रु. | 2401 | 8230 | 13438 | 16410 |
| 5. मूल्यहास* | करोड़ रु. | 983 | 2983 | 4866 | 5787 |
| 6. ब्याज और करों के पहले का सकल लाभ | करोड़ रु. | 1418 | 5287 | 8572 | 10623 |
| 7. ब्याज | करोड़ रु. | 1399 | 3115 | 4167 | 5341 |
| 8. करों से पहले निवल लाभ | करोड़ रु. | 19 | 2172 | 4405 | 5282 |
| 9. कर | करोड़ रु. | 222 | 1000 | 1411 | 1500 |
| 10. करों के बाद निवल लाभ | करोड़ रु. | −203 | 1172 | 2994 | 3782 |
| 11. आंतरिक संसाधनों की उत्पत्ति (सकल) | करोड़ रु. | 1225 | 5068 | 8915 | 10772 |
| 12. निवेशित पूंजी से (करपश्चात्) निवल लाभ का अनुपात | प्रतिशत | −1.1 | 2.7 | 4.4 | 4.5 |

* : इसमें आस्थगित राजस्व व्यय भी शामिल है।

*स्रोत* : भारत सरकार, *इकानमिक सर्वे*, 1989-90 (अद्यतन की हुई)

## तालिका 5.5
## राज्यों और संघशासित क्षेत्रों के विभागीय वाणिज्यिक उपक्रमों के वित्तीय परिणाम
(करोड़ रु. में)

| | 1985-86 | 1988-89 | 1989-90 संशोधित अनुमान | 1990-91 बजट अनुमान |
|---|---|---|---|---|
| 1. विभागीय उपक्रम | | | | |
| (अ) वन | 497.70 | 414.35 | 447.94 | 536 49 |
| (ब) विद्युत परियोजनाएं | −75.04 | −84.19 | −48.34 | −48 55 |
| (स) सड़क और जल परिवहन सेवाएं | −25 65 | −56.51 | −77.66 | −79.67 |
| (द) दुग्ध विकास | −99.29 | −52.38 | −380.48 | −393.74 |
| (य) उद्योग | −14.10 | −10.09 | −130.28 | −77.18 |
| (र) खदान और खनिज | 40.06 | 51 83 | 53.57 | 57.59 |
| (ल) सिंचाई और परियोजनाएं (वाणिज्यिक) (व) बहुउद्देशीय नदी परियोजनाएं | −871.60 | −1840.79 | −1763.00 | −1922.96 |
| 2. लाभार्जक उपक्रमों के लाभ | 537.76 | 466.18 | 501.51 | 594.08 |
| 3. घाटा देनेवाले उपक्रमों के घाटे | −1085.68 | −2043.96 | −2399.76 | −2522.10 |
| **4. विभागीय उपक्रमों के निवल वित्तीय परिणाम** | **−547.92** | **−1577.78** | **−1898.25** | **−1928.02** |

*स्रोत* : भारत सरकार, *इकानमिक सर्वे*, 1989-90 (अद्यतन की हुई)

## तालिका 5.6

## केंद्र सरकार का राजस्व, मुद्रीकृत तथा राजकोषीय घाटा

(स. घ. उ. के प्रतिशत के रूप में)

| *वर्ष* | *राजकोषीय घाटा* | *मुद्रीकृत घाटा* | *राजस्व घाटा* |
|---|---|---|---|
| 1980-81 | 6.54 | 2.61 | 1.50 |
| 1981-82 | 5.44 | 2.01 | 0.24 |
| 1982-83 | 7.04 | 1.90 | 0.74 |
| 1983-84 | 6.74 | 1.91 | 1.23 |
| 1984-85 | 7.71 | 2.62 | 1.83 |
| 1985-86 | 9.29 | 2.36 | 2.12 |
| 1986-87 | 9.50 | 2.42 | 2.65 |
| 1987-88 | 8.50 | 1.97 | 2.75 |
| 1988-89 | 8.18 | 1.66 | 2.69 |
| 1989-90 | 8.64 | 3.12 | 2.81 |

*स्रोत : रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया बुलेटिन, जून 1990 (सप्लीमेंट)*

# उपसंहार

*भारत की आत्मा को जो मुक्ति मिली है, वह मात्र बंधनहीनता नहीं है। सतह-दर-सतह व्यथा और क्रूरता से ग्रस्त भारत में यह एक विक्षोभ के रूप में ही आ सकती थी। यह रोष और विद्रोह के रूप में ही आ सकती थी। आज भारत लाखों छोटे-छोटे विद्रोहों का देश है।*

*और यह अजीब विडंबना है कि इन विद्रोहों को चाहने मात्र से दबाया नहीं जा सकता। ये करोड़ों लोगों के लिए एक नये रास्ते की शुरुआत के अंग हैं। ये भारत के विकास के अंग हैं, उसके पुनर्जीवन के अंग हैं।*

*–वी. एस. नयपाल**

1991 के मध्य में अर्थव्यवस्था की अल्पकालिक संभावनाएं स्पष्ट रूप से निराशाजनक लगती हैं। फरवरी 1991 के अंत में प्रस्तुत किया जानेवाला बजट अल्पसूचना पर ही रोक दिया गया था। मार्च 1991 में केवल चार माह पहले बनी अल्पमत सरकार को इस्तीफा देना पड़ा। इन घटनाओं का प्रभाव यह हुआ कि देश के सामने भुगतान-संतुलन का जो भारी संकट मौजूद था, उससे निपटने के लिए कोई कारगर कदम नहीं उठाया जा सका। भारत अब विदेशी ऋणदाताओं और दानकर्ताओं की दया पर निर्भर था।

तात्कालिक आवश्यकता अतिरिक्त तरलता की है और तात्कालिक संकट का किसी-न-किसी रूप में समाधान आवश्यक है। अगर अतिरिक्त तरलता उपलब्ध हो

---

* इंडिया : ए मिलियन म्यूटिनीज नाउ, पृ. 517-18

तो रोजगार और उत्पादन की हानि के रूप में आनेवाली लागत को न्यूनतम रखा जा सकता है। अगर यह उपलब्ध नहीं हुई तो लेटिन अमरीका और अफ्रीका के अनेक विकासशील देशों की तरह भारत को भी भारी आर्थिक-सामाजिक लागतों का भार उठाते हुए कठिनाई के दलदल से किसी-न-किसी तरह पार होना पड़ेगा। भारत को वर्तमान संकट से पार होने के अलावा अपने आर्थिक स्वास्थ्य और अपनी छवि को पुनःस्थापित करने पर भी ध्यान देना पड़ेगा—अपनी नजरों में भी और बाकी दुनिया की नजरों में भी। आज की चुनौती यही है।

अंतर्राष्ट्रीय वातावरण विकासशील देशों के लिए प्रतिकूल है। नवें दशक में विश्व व्यापार की सवृद्धि की गति धीमी हुई (यह आठवें दशक के 6.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष के मुकाबले लगभग 4.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष रह गयी)। संकेत इसी के हैं कि यह प्रवृत्ति निकट भविष्य में भी जारी रहेगी। व्यापारिक बहुपक्षवाद के स्थान पर अब औद्योगिक देशों के द्विपक्षीय और क्षेत्रीय व्यापारिक गुट अधिकाधिक स्थापित होते जा रहे हैं। विकासशील देशों को प्राप्त होनेवाली निवल विदेशी सहायता घट रही है और उनमें से अनेक देशों के लिए अब विकसित देशों से ससाधनो का निवल हस्तातंरण ऋणात्मक है। विदेशी ऋणों की समस्या आर्थिक पुनर्जीवन की राह में बाधक बनी हुई है। अंतर्राष्ट्रीय बैंकिंग प्रणाली धन का एक अत्यधिक अनिश्चित स्रोत बन गयी है—उन विकासशील देशो के लिए भी जिनका कीर्तिमान शानदार रहा है। विनिमय बाजार अत्यधिक विस्फोटक और अनिश्चित हैं। विकासशील देशों की भुगतान-संतुलन की समस्या के समाधान के लिए अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधारों या नयी व्यवस्थाओं की रचना में शायद ही कोई प्रगति हुई हो। पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ आर्थिक हलचलों के दौर से गुजर रहे हैं। भारत के लिए इसकी खास प्रासंगिकता है क्योंकि भारत का अच्छा-खासा व्यापार इन देशों के साथ द्विपक्षीय आधार पर होता है। उत्तर-दक्षिण वार्ता जो अच्छे समय में भी प्रेरणादायक नहीं रही, अब एकदम मरी नहीं तो दब जरूर चुकी है।

इस वातावरण में समायोजन का भार भारत बल्कि अकेले भारत पर ही पडने की संभावना है। समायोजन के कष्टों को कम करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहायता आवश्यक तो है मगर उपयुक्त शर्तों पर, पर्याप्त मात्रा में और पर्याप्त लंबे काल के लिए इसके उपलब्ध होने की संभावना नहीं है। अफ्रीका और लेटिन अमरीका के अन्य विकासशील देशों का हाल का अनुभव यही है (हालांकि पश्चिमी शक्तियों के साथ इन देशों के राजनीतिक संबंध अधिक घनिष्ठ हैं)। अफ्रीका में, वास्तविक आय 1970 के मुकाबले 1990 में कोई 10 प्रतिशत कम थी। लेटिन अमरीका में 1980 से 1987 के बीच प्रतिव्यक्ति उपभोग का संचयी ह्रास अर्जेंटीना में –8.4, बोलीविया में –36.4, चिली में –15.4, मेक्सिको में –18.9 और वेनेजुएला में –32.2 प्रतिशत था। अत्यधिक ऋणग्रस्त विकासशील देशों में मुद्रास्फीति की दर का भारी त्वरण

भी इस काल की विशेषता थी। 15 अत्यधिक ऋणग्रस्त देशों के समूह में नवें दशक के दौरान मुद्रास्फीति की औसत दर लगभग 150 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, जबकि 1970-81 में यह दर 39 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी (डोर्नबुश, 1989)। बाह्य संकट से समायोजन के लिए हमेशा ही घरेलू उपभोग मे स्वैच्छिक या बलात् कटौती करनी पड़ी। इससे उत्पादन, रोजगार और कीमतों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। हाल के इतिहास का एक और सबक यह है कि सुधारमूलक कार्रवाई में देरी होने पर हमेशा ही समायोजन की लागतें अनुपात से अधिक बढ़ जाती हैं। अधिक विदेशी धन पाने की आशा मे, या घरेलू राजनीतिक कारणों से, आवश्यक कार्रवाई में देरी करने वाले देशों को हमेशा ही दूसरों के मुकाबले आय मे अधिक गिरावटे झेलनी पड़ी हैं।

सौभाग्य से, दूसरे कई विकासशील देशों के मुकाबले भारत की भुगतान संतुलन की समस्याएं अपेक्षाकृत कम कठिन हैं। जैसा कि पहले (अध्याय 4 में) कहा गया है, यह स. रा. उ. का लगभग एक या डेढ़ प्रतिशत है और असह्य सामाजिक-राजनीतिक बोझ डाले बिना अगले दो-तीन वर्षो में इसका समाधान संभव है। 'वास्तविक' अर्थव्यवस्था का लचीलापन एक और लाभकर तत्व है। भुगतान-संतुलन के संकट के बावजूद 1990-91 मे औद्योगिक उत्पादन 8.4 प्रतिशत की दर से बढ़ा। 1984-85 से 1990-91 तक के सात वर्षो में औद्योगिक उत्पादन की औसत वार्षिक सवृद्धि-दर 8 प्रतिशत से अधिक रही है जो विकासशील देशों की अधिकतम दरों में से है। 1990-91 में खेतिहर उत्पादन ने भी एक कीर्तिमान स्थापित किया और (1987-88 के भयानक सूखे के बाद) खाद्यान्न का भंडार एक बार फिर संतोषप्रद स्तर पर है। 1986-87 और 1990-91 के बीच निर्यातों में वास्तविक वृद्धि 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक रही है जबकि नवें दशक के पूर्वार्ध में यह एक प्रतिशत प्रतिवर्ष से कम थी। ये अनुकूल विकासक्रम हैं जो समायोजन की लागतें घटाने मे सहायक होते हैं।

भारत के अपने अनुभवों और सैद्धांतिक-अनुभवाश्रित अनुसंधानों के परिणामों के प्रकाश मे मैंने पिछले अध्यायों मे नीतिगत सुधारों के लिए प्राथमिकता के अनेक क्षेत्रों की पहचान करने के प्रयास किए हैं। यहां मैं इन सभी तत्वो को एकजुट करके कार्रवाई के एक ऐसे कार्यक्रम का सुझाव देना चाहूंगा जो वर्तमान दशक में दीर्घकालिक संवृद्धि का आधार तैयार कर सके। ऐसा कार्यक्रम तीव्रता से लागू किया जा सकता है और **यह वर्तमान राजनीतिक-आर्थिक प्रणाली की बाध्यताओं की सीमा में ही रहेगा**। इसके लिए विस्तृत तर्क प्रासंगिक अध्यायों में दिए जा चुके हैं।

## 1. विदेशी मुद्रा

**हाल की घटनाओं ने बाहरी झटकों के सामने हमारी अर्थव्यवस्था की असहायता और भारत के भुगतान-संतुलन की अंतर्निहित कमजोरी को पर्याप्त स्पष्ट कर दिया है।**

भुगतान-संतुलन की गंभीर समस्या का प्राकट्य बहुत पहले से अपेक्षित था लेकिन 1988 के बाद हुए राजनीतिक घटनाक्रमों के कारण उपचारमूलक उपाय नहीं किए जा सके। अर्थव्यवस्था को इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी है। आज की सबसे तात्कालिक प्राथमिकता यह है कि व्यापार घाटे को अधिक प्रबंधनीय स्तरों तक घटाने के उपाय किए जायें। इस बात के पर्याप्त साक्ष्य हैं कि भारत की प्रोत्साहन-संरचना घरेलू बिक्रियों के अधिक अनुकूल है और निर्यातविरोधी रुझान से ग्रस्त है (अध्याय 4 देखें)। जो भी आयात उदारीकरण हुआ वह 'अंतर्मुखी' रहा है और उससे घरेलू बाजार के वास्ते घरेलू उत्पादन के लिए आवश्यक अप्रतियोगी कच्चे मालों, घटकों और पूंजीगत मालों के आयातों को प्रोत्साहन मिला है। पिछले चार वर्षों में निर्यातों को अधिक लाभकर बनाने के प्रयास किये गये हैं। यह प्रक्रिया अभी बहुत आगे तक जानी चाहिए और, अन्य संरचनागत सुधारों के अलावा, आयातों और निर्यातों के बीच एक स्पष्ट बाजार-आधारित संबंध स्थापित किया जाना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति की एक विधि अध्याय 4 में सुझायी गयी है। कच्चे तेल, पेट्रोलियम उत्पादो और उर्वरकों के आयात की वृद्धि पर प्रतिबंध लगाने के अलावा कोई और विकल्प नहीं है। इसे मांग और आपूर्ति के पक्षों में कई उपायों के योग द्वारा कार्यान्वित किया जा सकता है। अगले दो-तीन वर्षों में, जब तक व्यापार का बेहतर संतुलन स्थापित नहीं होता, देश को आवश्यक होने पर, इन वस्तुओं की कमी को भी झेलना होगा। वर्तमान उपभोग के लिए अधिकाधिक ऋण लेने की अपेक्षा ऐसा करना आर्थिक रूप से कम खर्चीला साबित होगा। पहले बताये गये कारणों से, इसकी भी अब कोई गुंजाइश नहीं है कि घरेलू बाजार के लिए लंबे परिपक्वता काल की परियोजनाओं के वास्ते वाणिज्यिक ऋण लिए जाएं।

## 2. सार्वजनिक ऋण

अनेक अध्ययनों ने भारत के सार्वजनिक ऋण (विदेशी ऋण सहित) के चिंताजनक परिदृश्य को असंदिग्ध रूप से स्थापित किया है। राजस्व और पूंजीगत खातों में बढ़ते घाटों के वित्तीयन के लिए भारत आंतरिक और बाह्य, दोनों स्रोतों से ऋण लेता रहा है। देश को वित्तीय विनाश के गड्ढे में धकेले बिना इस प्रक्रिया को बहुत देर तक जारी नहीं रखा जा सकता। अन्य देशों के इतिहास से इस बात के पर्याप्त अनुभवाश्रित साक्ष्य मिलते हैं कि अगर स्थिति में स्थायित्व नहीं लाया गया तो हमारे सामने, अतिस्फीति (हाइपर-इनफ्लेशन) समेत, उच्च मुद्रास्फीति की आशंका मौजूद है। भारत के स. रा. उ. के अनुपात के रूप में उसका विदेशी ऋण लेटिन अमरीका तथा अन्य क्षेत्रों के भारी ऋणग्रस्त देशों की अपेक्षा अभी भी कम है। लेकिन निर्यातों की तुलना में यह ऋण लेटिन अमरीकी ऊंचाइयों को छूने लगा है। नये ऋणों पर औसत ब्याज दर तथा ब्याजेतर चालू लेखा घाटों जैसे अन्य सभी चर जो ऋण-सेवा

की क्षमता को प्रभावित करते हैं, हाल के वर्षों में भारत के लिए अत्यधिक प्रतिकूल रहे हैं (अध्याय 4)। हमें विदेशी ऋण की संवृद्धि-दर घटानी होगी और इसे निर्यातों की संवृद्धि-दर से काफी कम रखना होगा ताकि ऋण-निर्यात अनुपात को अगले पांच वर्षों में पर्याप्त घटाया जा सके।

## 3. राजकोषीय संतुलन

सार्वजनिक ऋण और भुगतान-संतुलन के समुचित प्रबंधन के लिए राजस्व घाटों को कम करने की दृढ़ कार्रवाई आवश्यक है। मध्यकालिक लक्ष्य यह होना चाहिए कि राजस्व घाटों को एकदम समाप्त कर दिया जाए ताकि चालू व्यय के वास्ते सरकार द्वारा ऋण लेने की कोई आवश्यकता न रहे। कुछ समय से सरकार व्यय को नियंत्रित करने की आवश्यकता स्वीकार करती रही है लेकिन राजनीतिक-अर्थशास्त्रीय कारणों से इस दिशा में कोई प्रगति संभव नहीं हुई है। पिछले कुछ वर्षों में स्थिति सुधरने की जगह और बिगड़ी है हालांकि राजकोषीय समस्या के समाधान की आवश्यकता के प्रति जनता की और राजनीतिक चेतना बढ़ी है। जैसाकि अध्याय 5 में सुझाया गया है, व्यय-नियंत्रण के लिए संसद द्वारा अनुमोदित एक 'नीतिगत' दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। अनुभव बताता है कि भारत जैसे किसी बहुदलीय लोकतंत्र में राजस्व घाटों की समाप्ति के लिए ऐसे सांविधानिक संशोधन से कम किसी उपाय से काम नहीं चलने वाला है जो वर्तमान और भावी, सभी सरकारों पर लागू हो। व्यय-नियंत्रण के अलावा, कर के आधार को व्यापकतर बनाने, कर-प्रणाली को सरल बनाने तथा राजस्व प्रशासन में सुधार लाने के उपाय भी बजट घाटों में कमी के किसी भी कार्यक्रम के महत्वपूर्ण अंग होते हैं। एक समान नियमों वाली अपेक्षाकृत अधिक पारदर्शी प्रणाली से और अपेक्षाकृत कम उत्पाद-विभेदन से कर-प्रणाली की उत्फुल्लता बढ़ेगी।

## 4. सार्वजनिक क्षेत्र

सार्वजनिक क्षेत्र का प्रबंध एक बुनियादी मुद्दा है। इसके विशाल आकार को देखते हुए, उत्पादकता बढ़ाए बिना निवेश के लिए उपलब्ध बचतों में पर्याप्त वृद्धि करना संभव नहीं है। भारत में पूंजी बाजार का आकार (ऐतिहासिक लागतों पर) सार्वजनिक क्षेत्र की कुल परिसंपत्तियों का मात्र एक प्रतिशत है। इस कारण यह स्पष्ट है कि निकट भविष्य में सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों का पूर्णरूपेण निजीकरण भारतीय संदर्भ में व्यावहारिक नहीं होगा। फिर भी, सभी वाणिज्यिक उद्यमों से यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि वे अपनी भावी संवृद्धि के लिए वित्त और पूंजी बाजारों से ईक्विटी और ऋण जुटाएं। बीमार और कम लाभदायक छोटी इकाइयों को सार्वजनिक रूप से बेच दिया जाना चाहिए। इन उपायों के अलावा, भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की

समस्याओं का समाधान हमें मुख्यतः सार्वजनिक स्वामित्व के ढांचे में ही ढूंढना होगा। प्रशासन को चुस्त बनाने और सार्वजनिक क्षेत्र का उचित रीति से प्रबंध करने (अध्याय 3) के अलावा, सार्वजनिक क्षेत्र पर एक 'कठोर' बजट बाध्यता का आरोपण भी आवश्यक है। केंद्र और राज्य सरकारों को कानून के द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों के घाटों की भरपाई करने से रोका जाना चाहिए। इसकी कोई तुक नहीं है कि सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के घाटों और साथ ही, अपने राजस्व घाटों के वित्तीयन के लिए भारी लागत पर ऋण लेती जाए। इस संदर्भ में आज की स्थिति सातवें या आठवें दशक की स्थिति से मूलतः भिन्न है जब राजस्व बजट में अधिशेष हुआ करता था। भविष्य में, सार्वजनिक क्षेत्र को अपनी ऋण-आवश्यकताएं पूरी करने के लिए सामान्य नीति के अंतर्गत बैंकिंग और वित्तव्यवस्था की विद्यमान प्रणालियों पर निर्भर रहना चाहिए। जैसाकि पिछले अध्याय में कहा गया है, एक कठोर बजट बाध्यता केवल सरकार के लिए राजस्व बचाने का साधन नहीं होती बल्कि 'उत्पादक' दक्षता को उत्प्रेरित करने का महत्वपूर्ण साधन भी होती है। सार्वजनिक उद्यमों को प्रतियोगी आधारों पर पुनर्गठित करने की आवश्यकता है। ग्रेट ब्रिटेन में और अन्यत्र निजीकरण पर जो अनुभवाश्रित अनुसंधान हुए हैं उनसे पता चलता है कि 'आबंटन संबंधी' दक्षता के लिए स्वामित्व का स्वय में इतना महत्व नहीं होता जितना प्रतियोगी वातावरण का होता है। कोरियाई संगुट (तथाकथित 'चाइबोल') प्रतियोगिता के दबाव और बाजार के अनुशासन में कमी किए बिना उत्पादन में बड़े पैमाने की मितव्ययिताएं लाने के लिए एक उपयोगी आदर्श प्रस्तुत करते हैं। एकाधिकारी और भीमकाय उद्यमों को कई अलग-अलग कंपनियों में तोड़ देना चाहिए और उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र के बहु-उत्पादी संगुटों के अंग बन जाना चाहिए। इन संगुटों को कंपनियों को बेचने या उनका विलय करने की स्वतंत्रता समेत कामकाज की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। सार्वजनिक उद्यमों पर से वितरण और कीमत संबंधी नियंत्रण समाप्त किए जाने चाहिए (अध्याय 5)।

## 5. प्रतियोगिता

उत्पादन और आबंटन की अदक्षताएं सार्वजनिक क्षेत्र तक सीमित न होकर पूरी अर्थव्यवस्था की विशेषता हैं। अंतर्देशिक अनुसंधानों और उद्योगवार अध्ययन से पता चलता है कि अर्थव्यवस्था में संसाधनों के उपयोग और आबंटन की दक्षता बढ़ाने के लिए प्रतियोगी वातावरण अनिवार्य है। अतीत में, औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली तथा (राजकोषीय नीति समेत) समष्टिगत आर्थिक नीतियों के कारण दक्षता की प्रतियोगिता-जन्य प्रेरणाएं उत्पन्न नहीं हो सकीं। इस प्रवृत्ति को पलटा जाना चाहिए। क्षमता पर आधारित औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली समाप्त की जानी चाहिए। संसाधनों के लिए आवश्यक संकेत देने के वास्ते राजकोषीय, वित्तीय और प्रशुल्क नीतियों का

इस्तेमाल किया जाना चाहिए (अध्याय 3)। विदेशी वित्त की कठिनाइयों को देखते हुए निकट भविष्य में ऐसा आयात उदारीकरण व्यावहारिक नहीं होगा जो सं. घ. उ. से आयातों के अनुपात को बढ़ाए। लेकिन (आगतों और निर्गतों, दोनों के संदर्भ में) विभिन्न उद्योगों के बीच प्रशुल्कों में अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता लाकर अदक्ष विनिर्माण को प्राप्त सरंक्षण की प्रभावी दरें कम की जा सकती हैं। आयात की नीति को सरल, पारदर्शी और एक समान बनाना भी आवश्यक है। आगे से, प्रशुल्क प्रणाली लागत पर आधारित नहीं होनी चाहिए और अदक्ष तथा प्रतियोगिता में असमर्थ उत्पादन को सहारा देने के लिए कोई भी वित्तीय सहायिकी या रियायती उधार नहीं दिया जाना चाहिए।

## 6. नियंत्रण

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय से चली आ रही भौतिक और स्वविवेकी नियंत्रणों की प्रणाली अब अपनी उपयोगिता खो चुकी है। आर्थिक गतिविधियों को वांछित दिशाओं में मोडने तथा ससाधनो का इ्ष्टतम उपयोग सुनिश्चित करने के लिए इन विधियों को कभी जितना कारगर माना जाता था, ये उससे बहुत कम कारगर साबित हुई हैं। प्रशासनिक कठिनाइयों और सूचना की खामियों को देखते हुए ये नियंत्रण तेजी से बदल रहे प्रौद्योगिक और अंतर्राष्ट्रीय वातावरण का सामना करने मे असफल रहे हैं। इनसे भ्रष्टाचार तथा अधिशेषजीविता जैसी आर्थिक रूप मे अपव्ययकारी गतिविधियों का जन्म हुआ है। उत्पादन और अतर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रत्यक्ष भौतिक नियत्रणों के स्थान पर अभेदात्मक राजकोषीय, उधार संबंधी और वित्तीय नियंत्रण लगाए जाने चाहिए। इससे राजकीय हस्तक्षेप की गुणवत्ता सुधरेगी और उसकी प्रभाविता बढ़ेगी। कोरिया और जापान जैसे कई दूसरे अत्यधिक हस्तक्षेपवादी मगर आर्थिक रूप से सफल देशों का यही अनुभव रहा है। कई सरकारी समितियों ने राजकीय हस्तक्षेप की अभेदात्मक विधियों को अपनाने की सिफारिश की है मगर इस दिशा में वास्तविक प्रगति नगण्य रही है। इस स्थिति को दृढ़तापूर्वक बदल देना आज की एक प्रमुख प्राथमिकता है।

## 7. विकेंद्रीकरण

यह राजनीतिक और आर्थिक, दोनो प्रकार की आवश्यकता है। राजनीतिक दृष्टि से देखें तो मजबूत क्षेत्रीय दलों का उदय होने और केंद्र तथा राज्यों मे कई अलग-अलग राजनीतिक दलों के सत्तासीन होने से राजसत्ता का विकेंद्रीकरण आवश्यक हो गया है। प्रसंगवश, विकेंद्रीकरण का एक लाभ यह भी होगा कि कई परस्पर प्रतिस्पर्धी शक्तियों के पैदा होने से केंद्र में प्रबल गठबंधनों की शक्ति कम होगी। आर्थिक दृष्टि से देखें तो अतिकेंद्रीकरण अदक्षता का तथा उत्पादन से प्रशासन की ओर संसाधनों

के हस्तांतरण का एक महत्वपूर्ण कारण होता है (कोर्नाय, 1959)। दो स्तरों पर कार्रवाई करना आवश्यक है : जो कार्यकलाप राज्य सरकारों का दायित्व हैं (जैसे, ग्रामीण विकास, शिक्षा और सामाजिक सेवाओं में निवेश), उनकी आयोजना और वित्तीयन का भार केंद्र से लेकर राज्यों को सौंप दिया जाना चाहिए और उधर, राज्यों को भी चाहिए कि वे स्थानीय आयोजना का दायित्व स्थानीय निकायों को सौंप दें। पिछले अनुभवों से यह सिद्ध नहीं होता कि इन क्षेत्रों की केंद्रीकृत या उच्चस्तरीय आयोजना से अनिवार्यतः बेहतर और अधिक कारगर आयोजना संभव होती है। आठवी योजना की तैयारी के संदर्भ में योजना प्रक्रिया के विकेंद्रीकरण की विस्तृत विवेचना की गयी है (घोष, 1991)। इसके पक्ष में राजनीतिक सहमति भी विद्यमान प्रतीत होती है। वित्तीय संस्थाओं समेत सार्वजनिक क्षेत्र में निर्णय-प्रक्रिया का भी सरकारी सचिवालयों से उद्यमों की ओर विकेंद्रीकरण किया जाना चाहिए। अगर ऊपर सुझाए गये ढंग से सार्वजनिक उद्यमों पर कठोर बजट बाध्यता लागू की जाये और अगर ये उद्यम सरकारी बजट पर कम निर्भर रहें तो प्रभावी विकेंद्रीकरण अवश्य संभव है।

## 8. साक्षरता

स्वयं में एक साध्य तथा उत्पादन की संवृद्धि-दर बढ़ाने के साधन, दोनों रूपो में साक्षरता का महत्व आर्थिक साहित्य में बहुत पहले से स्वीकार किया जाता रहा है। इस क्षेत्र में भारत के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है। देश की लगभग आधी जनसंख्या अभी भी निरक्षर है। कई राज्यों में और विशेषकर स्त्री-वर्ग के लिए, निरक्षरता के अनुपात बहुत अधिक हैं। साक्षरता कार्यक्रम के सफल क्रियान्वयन का एक ज्वलंत उदाहरण केरल है जहां 1991 की जनगणना के प्रारंभिक परिणामों के अनुसार, साक्षरता का अनुपात 91 प्रतिशत तक पहुंच चुका है। केरल का उदाहरण दिखाता है कि किसी निर्धन देश में भी पूर्ण साक्षरता का लक्ष्य पाया जा सकता है और यह कि इस लक्ष्य को पाने की तकनीकें भी उपलब्ध हैं (जैसे, व्यापक साक्षरता अभियानों के द्वारा)। इस बात के भी प्रमाण हैं कि साक्षरता और खासतौर पर स्त्री-साक्षरता की ऊंची दरें जनसंख्या-वृद्धि की नीची दरों से जुड़ी होती हैं जिनको पाना भारत का एक प्रमुख विकासमूलक लक्ष्य है। केरल में साक्षरता की ऊंची दरों के कारण जनसंख्या-वृद्धि की दर औसत से कम हो गयी है (पूरे भारत के लिए यह औसत दर 2.11 प्रतिशत है जबकि केरल के लिए यह केवल 1.31 प्रतिशत है)। साक्षरता की ऊंची दरें कई दूसरे स्वास्थ्य और सामाजिक सूचकांकों जैसे, शिशु मृत्यु-दरों की गिरावट से भी जुड़ी होती हैं। दूसरी ओर, (मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश जैसे) कई राज्यों में साक्षरता की अत्यंत नीची दरों के साथ जनसंख्या-वृद्धि की औसत से ऊंची दरें और स्वास्थ्य सूचकांकों के क्षेत्र में घटिया कारगुजारियां भी जुड़ी पायी

जाती हैं। वर्तमान दशक में पूर्ण साक्षरता पाना हमारे राष्ट्रीय विकास का लक्ष्य होना चाहिए (उसी प्रकार जैसे 1965-67 के विनाशकारी सूखे के बाद खाद्य में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना राष्ट्रीय योजनाकार्य का प्रमुख लक्ष्य बन गया था)।

## 9. खाद्य और निर्धनता

यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि राजकोष और भुगतान-संतुलन संबंधी सुधारों का कार्यक्रम सामाजिक लागतों को जन्म देगा। अनुभव से यह भी पता चलता है कि जब तक प्रतिपूरक नीतियां नहीं अपनायी जातीं, घरेलू अवशोषण में होने वाली कमी समाज के खुशहाल वर्गों की अपेक्षा निर्धन वर्ग को अधिक प्रभावित करती है। व्यय घटाने के किसी भी कार्यक्रम में सरकार के लिए उपभोग के बजाय निवेश को घटाना अधिक आसान होता है। निवेश की कटौती से रोजगार पर तथा वस्तुओं और सेवाओं की मांग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। चूंकि संगठित क्षेत्र के कर्मचारियों को श्रम कानूनों और सामाजिक सुरक्षा के अन्य उपायों का संरक्षण प्राप्त होता है, इसलिए समायोजन का अनुपात से कहीं अधिक बोझ असंगठित क्षेत्र के मजदूरों पर पड़ता है। इसी प्रकार, व्यय की कटौती प्रशासनिक या औद्योगिक क्षेत्रों के बजाय सामाजिक क्षेत्रों पर अधिक गंभीर प्रभाव डालती है। मिसाल के लिए, अभी खुलने वाले विद्यालयों या नये अस्पतालों के व्यय मे कटौती करना स्थापनाधीन औद्योगिक संयंत्रों के एकमुश्त निवेशों में कटौती करने से अधिक आसान है। द्वितीयोक्त प्रकार की परियोजनाओं के संदर्भ में संगठित गुटों के हित अपेक्षाकृत अधिक प्रबल होते हैं और उनकी शक्ति भी अधिक होती है। लेटिन अमरीका और अफ्रीका के कई देशो में नवें दशक के दौरान समग्र व्यय की अपेक्षा सामाजिक क्षेत्रों के प्रतिव्यक्ति व्यय में अधिक तेजी से कमी आयी। लेटिन अमरीका और अफ्रीका के स्थिरीकरण कार्यक्रमों के पिछले अनुभवों से यह भी पता चलता है कि जो कार्यक्रम गरीबों को संरक्षण देने में नाकाम रहते हैं और जो समायोजन के बोझ का समाज के विभिन्न वर्गों के बीच न्यायोचित वितरण नहीं करते, वे हमेशा ही अपने द्वारा उत्पन्न सामाजिक-राजनीतिक तनावों के कारण कठिनाईग्रस्त हो जाते हैं। यह जरूरी है कि भारत में राजकोषीय घाटों को कम करने की रणनीति में इस पहलू को अनदेखा न किया जाये। खाद्य सहायिकियां जारी रहनी चाहिए। अन्य आर्थिक सहायताओं की कटौती तथा लागतों की बेहतर वसूली से प्राप्त अतिरिक्त राजस्व का एक भाग ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमों के विस्तार के लिए खर्च किया जाना चाहिए। सूखों के दौरान खाद्य की उपलब्धता बढ़ाने के लिए ग्रामीण सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमों का सफलता के साथ प्रयोग हुआ है। राजकोषीय समायोजन के काल में भी इससे मिलता-जुलता दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है।

## 10. प्रशासन

जैसाकि अध्याय 1 में कहा गया है, भारत तथा अन्य देशों में, स्वातंत्र्योत्तर काल में, राज़्य का व्यापक हस्तक्षेप उत्पादन और व्यापार के औपनिवेशिक स्वरूपों को बदलने के लिए आवश्यक था। इसके लाभदायक परिणाम हुए। संवृद्धि-दर में तेजी आयी और निर्धनता का परिमाण घटाने में प्रगति हुई। लेकिन कालांतर में विभिन्न दबावों और आवश्यकताओं के कारण राज्य के कार्यक्षेत्र का सभी दिशाओं में विस्तार हुआ। राज्य का यह अतिप्रसार आज एक समस्या बन गया है और उपलब्ध प्रबंधकीय तथा प्रशासनिक क्षमताएं इसके लिए कम पड़ गयी हैं। विलंब और दायित्वों की परस्पर-व्याप्ति की आर्थिक लागते बहुत अधिक रही हैं और इन्हें भारतीय योजनाओं में आठवें दशक के आरंभ से ही स्वीकार किया जाता रहा है। राज्य के अतिविस्तार ने विभिन्न प्रकार की लाबियों और गठबंधनों को जन्म दिया है जिनके कारण समूचे समाज के हित में राज्य की स्वायत्त हस्तक्षेप की क्षमता कम हुई है। सार्वजनिक सेवाओं की राजकोषीय लागतों की वृद्धि के साथ ही उनकी गुणवत्ता गिरी है। आज यह स्पष्ट है कि राज्य का आकार घटाना और प्रशासनतंत्र को अधिक कामकाजी बनाना वर्तमान दशक की एक प्रमुख प्राथमिकता है। इस द्वितीयोक्त लक्ष्य को तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक सभी स्तरों पर राज्य के कार्यकलाप का दायरा घटाया नहीं जाता और उसे सामाजिक रूप से आवश्यक और लाभदायक कार्यकलाप तक ही सीमित नहीं रखा जाता। आयोजना के विकेंद्रीकरण, सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबंध तथा नीतिगत साधनों के चयन के बारे में इससे पहले जो सुझाव दिये गये हैं, उनमें से कई इस लक्ष्य की प्राप्ति में योगदान दे सकते हैं।

प्राथमिकताओं की यह सूची अनिवार्यतः चयनात्मक है। दूसरे महत्वपूर्ण लक्ष्य और प्राथमिकताएं भी हैं। लेकिन यह संभव है कि अगर भारत वर्तमान दशक में यहां सुझाए गये कार्यक्रमों को लागू करने मे सफल होता है तो शेष सभी लक्ष्यों को पूरा करना अपेक्षाकृत आसान हो जायेगा। रास्ता कठिनाइयों से भरा है मगर यह आशाओं और अवसरों से भी भरा हुआ है। भारत की वर्तमान कठिनाइयों के कारण न तो अतीत की अच्छी-खासी उपलब्धियों पर आंच आनी चाहिए और न ही हमारा भविष्य का सपना धूमिल होना चाहिए।

# संदर्भ-सूची


अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (1987): थ्योरेटिकल एस्पेक्ट्स आफ दि डिजाइन आफ फंड-सपोर्टेड एडजस्टमेंट प्रोग्राम्स, ओकेजनल पेपर संख्या55, वाशिंगटन डी. सी.

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक (1987). *पेपर्स प्रजेंटेड ऐट दि सिम्पोजियम आन ग्रोथ ओरिएंटेड एडजस्टमेंट प्रोग्राम्स*, 25-27 फरवरी, 1987. वाशिंगटन डी. सी.

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक तथा अन्य (1990) : *दि इकानमी आफ दि यू. एस. एस. आर. : समरी एंड रिकमेंडेशंस*, वाशिंगटन डी. सी.

अग्रवाल, एम. (1988) . ए कंपेरेटिव एनालिसिस आफ इंडियाज एक्सपोर्ट परफारमेंस, 1965-80. *इंडियन इकानमिक रिव्यू*, खंड 23, अंक 2, पृ. 231-61

अय्यर, आर. आर. (1991) : *ए ग्रामर आफ पब्लिक इंटरप्राइजेज : एक्सरसाइजेज इन क्लैरिफिकेशन*, नयी दिल्ली : नीति अनुसंधान केंद्र

अलवी, एच. (1972): दि स्टेट इन पोस्ट-कोलोनियल सोसायटीज–पाकिस्तान एंड बंगलादेश, *न्यू लेफ्ट रिव्यू*, अंक 74, जुलाई-अगस्त, पृ. 59-81

अहरोनी, वाई. (1986) : *दि इवोल्यूशन एंड मैनेजमेंट आफ स्टेट-ओंड इंटरप्राइजेज*, कैंब्रिज, मैसाचुसेट्स : बालिंगर

अहलूवालिया, आई. जे. (1985) : *इंडस्ट्रियल ग्रोथ इन इंडिया : स्टैगनेशन सिंस दि मिड-सिक्सटीज*, दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

अहलूवालिया, एम. एस. (1986) : बैलेंस आफ पेमेंट एडजस्टमेंट्स इन इंडिया, 1970-71 टू 1983-84, वर्ल्ड डवलपमेंट, खंड 14, अंक 8

आचार्य, एस. और सहयोगी (1985) : *एस्पेक्ट्स आफ ब्लैक इकानमी इन इंडिया*, नयी दिल्ली : राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त एवं नीति संस्थान (1986 में पुनर्मुद्रित)

आचार्य, एस. (1988) ; इंडियाज फिस्कल पालिसी, आर. लूकस और जी. पपनेक द्वारा संपादित *दि इंडियन इकानमी : रिसेंट डवलपमेंट एंड फ्यूचर प्रास्पेक्ट्स* (दक्षिण और दक्षिणपूर्व एशिया पर विशेष वेस्टव्यू अध्ययन) में संकलित

आदिशेषैया, एम. एस. (1988) : आफ प्लान्स, प्लानिंग एंड बियांड, पांचवां सी. डी. देशमुख स्मृति व्याख्यान (14 जनवरी 1988). फाइनांशियल एक्सप्रेस, 15-26 जनवरी 1988 में पुनर्मुद्रित

ईटन, जे. (1989) : फारेन पब्लिक कैपिटल फ्लोज, एच. चेनरी और टी. एन. श्रीनिवासन द्वारा संपादित *हैंडबुक आफ डवलपमेंट इकानमिक्स, खंड* 2, एम्सटर्डम : नार्थ हालैंड में संकलित

उजावा, एच. (1965) : आप्टिमम टेकनीकल चेंज इन ऐन एग्रेगेटिव माडल आफ इकानमिक ग्रोथ, *इंटरनेशनल इकानमिक रिव्यू*, 6, पृ. 18-31

एंग्लेड, सी. और फोर्टिन, सी. (1987) : दि रोल आफ स्टेट इन लेटिन अमेरिकाज स्ट्रेटेजिक आप्शंस, *सी.ई.पी.ए.एल. रिव्यू*, अंक 31, अप्रैल, लेटिन अमरीका और कैरिबियन के लिए संयुक्त राष्ट्र आर्थिक आयोग, सांतियागो, चिली।

एंडो, ए. और मोडिग्लियानी, एफ. (1963) : दि लाइफ-साइकल हाई पोथीसिस आफ सेविंग : एग्रेगेट इंप्लिकेशेंस एंड टेस्ट्स, *अमेरिकन इकानमिक* रिव्यू (मार्च 1963), पृ. 55-84

ऐरो, के. जे. (1962) : दि इकानमिक इंप्लिकेशंस आफ लर्निंग बाई डुइंग, *रिव्यू आफ इकानमिक स्टडीज*, खंड 29 (जून), पृ. 661-69

ओटानी, आई. और विलानुएवा, डी. (1989) : थ्योरेटिकल एस्पेक्ट्स आफ ग्रोथ इन डवलपिंग कंट्रीज : एक्सटर्नल डेट डायनामिक्स एंड दि रोल आफ ह्यूमन कैपिटल, *स्टाफ पेपर्स*, वाशिंगटन, डी. सी. : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, खंड 36 (जून) पृ. 307-42

ओल्सों, एम. (1982) : *दि राइज एंड डिक्लाइन आफ नेशंस*, न्यू हैवेन : येल यूनिवर्सिटी प्रेस

कार्डोसो, ई. ए. और डोर्नबुश, आर. (1989) : फारेन प्राइवेट कैपिलट इनफ्लोज, एच. चेनरी और टी. एन. श्रीनिवासन द्वारा संपादित *हैंडबुक आफ डवलपमेंट इकानमिक्स*, खंड 2, एम्सटर्डम : नार्थ हालैंड में संकलित

किंडिलबर्गर, सी. पी. (1980) : गवर्नमेंट पालिसीज एंड चेंजिंग शेयर्स इन वर्ल्ड ट्रेड, *अमेरिकन इकानमिक रिव्यू*, खंड 70, अंक 2

किर्कपैट्रिक, सी. (1989) : सम बैकग्राउंड आबजर्वेशंस आन प्राइवेटाइजेशन, वी. वी. रामानुजम् द्वारा संपादित *प्राइवेटाइजेशन इन डवलपिंग कंट्रीज*, लंदन : रुटलेज में संकलित

कुक, पी. और किर्कपैट्रिक, सी. (सं.) (1988) : *प्राइवेटाइजेशन इन लेस डवलपिंग कंट्रीज*, ब्राइटन : व्हीटशीफ प्रेस

कुज्नेट्स, एस. (1955) : टुवर्डस ए थ्योरी आफ इकानमिक ग्रोथ, आर. लेवाशमान द्वारा संपादित *नेशनल पालिसी फार इकानमिक वेल्फेयर ऐट होम एंड एब्राड*, न्यूयार्क : डबलडे एंड कंपनी में संकलित

कुरियन, सी. टी. (1987) : मैनेजिंग दि इकानमी, बारहवें भारतीय समाज विज्ञान कांग्रेस, मैसूर के खंड 5 का अध्यक्षीय भाषण, *दि इकानमिक टाइम्स*, 12-13 अगस्त, में पुनर्मुद्रित

कुरियन, सी. टी. (1989) : इंडियन इकानमी इन दि 1980ज एंड 1990ज, *इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 15 अप्रैल

क्रुगमैन, पाल आर. (1987) : दि नैरो मूविंगबैंड, दि डच डिजीज एंड दि कंपिटेटिव कांसेक्वेंसेज आफ मिसेज थैचर, *जर्नल आफ इकानमिक डवलपमेंट*, खंड 27, पृ. 41-45

कूपर, आर. एन. (1971) : डिवैल्यूएशन एंड एग्रेगेट डिमांड इन एंड रिसिविंग कंट्रीज, जे. भगवती आदि द्वारा संपादित *ट्रेड, बैलेंस आफ पेमेंट्स एंड* ग्रोथ, एम्सटर्डम : नार्थ हालैंड में संकलित

क्रूगर, ए. ओ (1974) : दि पोलिटिकल इकानमी आफ दि रेंट-सीकिंग सोसायटी, *अमेरिकन इकानमिक रिव्यू, खंड* 64 अंक 3, पृ. 291-303

क्रूगर, ए. ओ. (1978) : *फारेन ट्रेड रेजीम्स एंड इकानमिक डवलपमेंट : लिबरलाइजेशन अटेम्प्ट्स एंड कांसेक्वेंसेज*, कैंब्रिज, मैसाचुसेट्स : बालिंगर

क्रूगर, ए. ओ. (1982) : *ट्रेड एंड इम्प्लायमेंट इन डवलपिंग कंट्रीज : सिनथीसिस एंड कानक्लूजंस*, शिकागो : यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस

क्रूगर, ए. ओ. (1990) : गवर्नमेंट फेलियर्स इन डवलपमेंट, *जर्नल आफ इकानमिक पर्सपेक्टिव*, खंड 4, अंक 3

**के**, जे. ए. और थाम्पसन, डी. जे, (1986) : प्राइवेटाइजेशन : ए पालिसी इन सर्च आफ ए रेशनल, *दि इकानमिक जर्नल*, खंड 96, मार्च, पृ. 18-32

केनेडी, पी. (1989) : *दि राइज एंड फाल आफ दि ग्रेट पावर्स*, न्यूयार्क : विंटेज बुक्स

केलकर, वी., कुमार, आर. और नांगिया, आर. (1990) : इंडियाज इंडस्ट्रियल इकानमी : पालिसीज, परफारमेंस एंड रिफार्म्स, नयी दिल्ली (अनुलेखित)

केलकर, वी. और कुमार, आर. (1990) : इंडस्ट्रियल ग्रोथ इन दि एटीज : इमर्जिंग पालिसी इशूज, *इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 27 जनवरी, खंड 25

कैनबर, आर. (1988) : दि प्रिंसिपल्स आफ टार्जेटिंग, विकास अर्थशास्त्र अनुसंधान केंद्र, वार्विक विश्वविद्यालय, ग्रेट ब्रिटेन (अनुलेखित)

कोचनेक, स्टैनले ए. (1985) : दि पोलिटिक्स आफ रेगुलेशन : राजीव्स न्यू मंत्राज, *जर्नल आफ कामनवेल्थ एंड कंपेरेटिव पोलिटिक्स*, खंड 22, नवंबर 1985

कोर्नाय, जे. (1959) : *ओवरसेंट्रलाइजेशन इन इकानमिक एडमिनिस्ट्रेशन : ए क्रिटिकल एनालिसिस बेस्ड आन एक्सपेरिएंस इन हंगेरियन लाइट इंडस्ट्री*, आक्सफोर्ड : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

कोर्नाय, जे. (1980) : *इकानमिक्स आफ शार्टेज*, एम्सटर्डम : नार्थ हालैंड

**कोर्नाय**, जे. (1990) विजन एंड रियालिटी, मार्केट एंड स्टेट, न्यूयार्क : रुटलेज

**कोलेटा**, एन. जे. और सुटन, एम. (1988) : एचीविंग एंड सस्टेनिंग यूनिवर्सल प्राइमरी एजुकेशन : ए स्टडी आफ इंटरनेशनल एक्सपेरिएंसेज रेलेवेंट टू इंडिया, वाशिंगटन डी. सी. : विश्व बैंक (अनुलेखित)

कोहली, ए. (1989) : पोलिटिक्स आफ इकानमिक लिबरलाइजेशन इन इंडिया, *वर्ल्ड डवलपमेंट*, खंड 17, अंक 13

क्लाइन, डब्ल्यू. आर. (1984) . *इंटरनेशनल डेट : सिस्टेमिक रिस्क एंड पालिसी रिस्पांस*, वाशिंगटन डी. सी. : अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र संस्थान

खटखटे, डी. आर. (1988 अ) : एसेसिंग दि इम्पैक्ट आफ इनटेरेस्ट रेट्स इन लेस डवलपिंग कंट्रीज, *वर्ल्ड डवलपमेंट*, खंड 16, अंक 5, पृ. 577-88

**खटखटे**, डी. आर. (1988 ब) : एसेसिंग दि लेविल आफ इनटेरेस्ट रेट्स इन लेस डवलपिंग कंट्रीज, *इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 9 जुलाई 1988, पृ. 1427-32

खटखटे, डी. आर. (1991) : मैनेजमेंट आफ इकानमिक पावर इन इंडिया, वाशिंगटन डी. सी. (अनुलेखित)

गाइहा, आर. (1989) : पावर्टी, एग्रिकल्चरल प्रोडक्शन एंड प्राइसेज इन रूरल इंडिया–ए रिफार्मूलेशन, *कैंब्रिज जर्नल आफ इकानमिक्स*, खड 13, अंक 2

ग्रासमैन, जी. आर. और हेल्पमैन, ई. (1989) : *कंपेरेटिव एडवांटेज* एंड लांग-रन ग्रोथ, एन. बी. ई. आर. वर्किंग पेपर संख्या 2809, कैंब्रिज : राष्ट्रीय आर्थिक अनुसंधान ब्यूरो

गुप्त, एस. पी. (1989) : *प्लानिंग एंड डवलपमेंट इन इंडिया*, नयी दिल्ली : एलाइड पब्लिशर्स

गुहन, एस. (1991) : स्टेट फाइनांसेज इन तमिलनाडु 1960-90 : ए सर्वे, राजकीय वित्त पर एक सेमिनार (19-20अप्रैल 1991) में प्रस्तुत आलेख, नयी दिल्ली : राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त एवं नीति संस्थान (अनुलेखित)

गेर्शेनक्रान, ए. (1962) : *इकानमिक बैकवर्डनेस इन हिस्टारिकल पर्सपेक्टिव*, कैंब्रिज : हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

गेर्सोविट्ज, एम. (1988) : सेविंग्स एंड डवलपमेंट, एच चेनरी और टी. एन. श्रीनिवासन द्वारा संपादित *हैंडबुक आफ डवलपमेंट इकानमिक्स*, एम्सटर्डम : नार्थ हालैंड में संकलित

**गैलब्रेथ**, जे. के. (1991) : इकानमिक्स इन दि सेंचुरी एहेड, *दि इकानमिक जर्नल, जनवरी*, **खंड** 101,

अंक 404

गैलहर, जे. और राबिंसन, आर. (1953) : दि इंपीरियलिज्म आफ फ्री ट्रेड, *दि इकानमिक हिस्टरी रिव्यू*, खंड 6, अंक 1 (दूसरी शृंखला)

गैलेनसन, डब्ल्यू. और लाइबेंस्टाइन, एच. (1955) : इनवेस्टमेंट क्राइटेरिया, प्रोडक्शन एंड इकानमिक डवलपमेंट, *क्वार्टरली जर्नल आफ इकानमिक्स*, खंड 69, पृ. 343-70

घोष, ए. के. (1989) : रूरल पावर्टी एंड रिलेटिव प्राइसेज इन इंडिया, *कैंब्रिज जर्नल आफ इकानमिक्स*, खंड 13, अंक 2

घोष, ए. के. (1991) : एट्थ प्लान : चैलेंजेज एंड पासिबिलिटीज, *इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, खंड 26, पृ. 807-14

चक्रवर्ती, एस. (1974) : रिफ्लेक्शंस आन दि ग्रोथ प्रोसेस इन दि इंडियन इकानमी, सी. डी. वधवा द्वारा संपादित (1977), *सम प्राब्लम्स आफ इंडियाज इकानमिक पालिसी*, नयी दिल्ली : टाटा मैकग्रा-हिल में पुनर्मुद्रित

चक्रवर्ती, एस. (1987 अ) : *डवलपमेंट प्लानिंग : दि इंडियन एक्सपेरिएंस*, आक्सफोर्ड : क्लैरेंडन प्रेस

चक्रवर्ती, एस. (1987 ब) : मार्क्सिस्ट इकानमिक्स एंड कंटेम्पोरेरी डवलपिंग इकानमीज, *कैंब्रिज जर्नल आफ इकानमिक्स*, खंड 11, अंक 3

चक्रवर्ती, एस. (1990) : उद्घाटन भाषण, यू. दत्त रायचौधुरी और ए. बागची द्वारा संपादित *डोमेस्टिक सेविंग्स इन इंडिया : ट्रेड्स एंड इशूज*, राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त एवं नीति संस्थान, नयी दिल्ली : विकास में संकलित

चेनरी, एच., शिशिदो, एस. और वतनबे, टी. (1962) : दि पैटर्न आफ जैपनीज ग्रोथ, 1914-1954, इकानोमेट्रिका, जनवरी

चेलय्या आर. जे. (1989) : स्ट्रैटेजी फार दि नाइनटीज, भारतीय व्यापार चैंबर, बंबई (अनुलेखित)

चेलय्या, आर. जे. (1991) : दि ग्रोथ आफ इंडियन पब्लिक डेट : डाइमेंशंस आफ दि प्राब्लम्स एंड करेक्टिव मेजर्स, नयी दिल्ली : राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त संस्थान (अनुलेखित)

जालान, बी. (1975) : *एस्सेज इन डवलपमेंट पालिसी*, नयी दिल्ली : मैकमिलन

जोंस, सी. और रोमर, एम. (1989) : एडीटर्स इंट्रोडक्शन : माडलिंग एंड मेजरिंग पैरेलल मार्केट्स इन डवलपिंग कंट्रीज, *वर्ल्ड डवलपमेंट*, खंड 17, अंक 12, पृ. 1861-70

जोसेफ, जे. के. (1989) : ग्रोथ परफारमेंस आफ इंडियन इलेक्ट्रानिक्स अंडर लिबरलाइजेशन, *इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, खंड 24, अंक 33

टेलर, एल. (1988) : *वेराइटीज आफ स्टेबिलाइजेशन एक्सपेरिएंस : टुवर्ड्स सेंसिबिल मैक्रोइकानमिक्स इन दि थर्ड वर्ल्ड*, विकास-अर्थशास्त्र में व्यापक अध्ययन, आक्सफोर्ड : क्लैरेंडन प्रेस

टोय, जे. (1988) : पोलिटिकल इकानमी एंड दि एनालिसिस आफ इंडियन डवलपमेंट, *माडर्न एशियन स्टडीज*, खंड 22 अंक 1

डीटन, ए. (1989) : *सेविंग्स इन डवलपिंग कंट्रीज : थ्योरी एंड रिव्यू*, विश्व बैंक द्वारा विकास-अर्थशास्त्र पर प्रायोजित पहले वार्षिक सम्मेलन (वाशिंगटन डी. सी., 7-28 अप्रैल) में प्रस्तुत आलेख

डेनिसन, ई. एफ. (1962) : एजुकेशन, इकानमिक ग्रोथ एंड गैप्स इन इनफार्मेशन, *जर्नल आफ पोलिटिकल इकानमी*, खंड 70, सप्लीमेंट

डेनून, डी. बी. एच. (1986) : *डिवैल्यूएशन अंडर प्रेशर : इंडिया, इंडोनेशिया एंड घाना*, कैंब्रिज : एम. आई. टी. प्रेस

डोर्नबुश, आर. और फिशर, एस. (1985) : दि वर्ल्ड डेट प्राब्लम : ओरिजिन्स एंड प्रास्पेक्ट्स, *जर्नल आफ डवलपमेंट प्लानिंग, संयुक्त राष्ट्र, अंक* 16

**डोर्नबुश**, आर. (1989): *दि रोड टू इकानमिक रिकवरी*, अंतर्राष्ट्रीय ऋणों पर बीसवीं सदी कोष कार्यकारी दल पर बैकग्राउंड पेपर, न्यूयार्क : प्रायोरिटी प्रेस पब्लिकेशंस

डोर्नबुश, आर. और रेनोसो, ए. (1989) : फाइनांशियल फैक्टर्स इन इकानमिक डवलपमेंट, *अमेरिकन इकानमिक रिव्यू*, खंड 79, अंक 2, पृ. 204-9

थर्स्क, डब्ल्यू. आर. (1990) : रिसेंट एक्सपेरिएंस विद टैक्स रिफार्म इन डवलपिंग कंट्रीज, *रिसर्च इकानमिशे* खंड 44, अंक 2-3

दत्तचौधुरी, एम. (1990) : मार्केट फेलियर एंड गवर्नमेंट फेलियर, *जर्नल आफ इकानमिक पर्सपेक्टिव्स*, खंड 4. अंक 3

दत्त रायचौधुरी, यू. (1990) : सेविंग्स बिहेवियर इन हाउसहोल्ड्स : ट्रेंड्स एंड पैटर्न, स्वयं और ए. बागजी द्वारा संपादित *डोमेस्टिक सेविंग्स इन इंडिया : ट्रेंड्स एंड इशूज*, नयी दिल्ली : विकास में संकलित

दांडेकर, वी. एम. (1988) : इंडियन इकानमी सिंस इंडिपेंडेंस, *इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 23 अप्रैल 1988, खंड 23

दियाज—अलेजांद्रो, सी. एफ. (1970) : *एस्सेज आन दि इकानमिक हिस्टरी आफ दि अर्जेंटाइन रिपब्लिक*, न्यू हैवेन : येल यूनिवर्सिटी प्रेस

दियाज—अलेजांद्रो, सी. एफ. (1975) : ट्रेड पालिसीज एंड इकानमिक डवलपमेंट, पीटर बी. केनन द्वारा संपादित *इंटरनेशनल ट्रेड एंड फाइनांस : फ्रंटियर्स* फार रिसर्च, कैंब्रिज : कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस में संकलित

**देब्रे**, आर. (1967) : प्राब्लम्स आफ रिवाल्यूशनरी स्ट्रैटेजी इन लेटिन अमेरिका, *न्यू लेफ्ट रिव्यू*, अंक 45, सितंबर-अक्तूबर

दे मत्तोस, सी. ए. (1987) : दि स्टेट डिसिजन-मेकिंग एंड प्लानिंग इन लेटिन अमेरिका, *सी. ई. पी. ए. एल. रिव्यू*, अंक 31, अप्रैल, लेटिन अमरीका और कैरिबियन के लिए संयुक्त राष्ट्र आर्थिक आयोग, सांतियागो, चिली

देसाई, ए. वी. आदि (1990) : इंडियाज एक्सपोर्ट परफारमेंस एंड पालिसी, नयी दिल्ली : राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक अनुसंधान परिषद (अनुलेखित)

धर, पी. एन. (1989) : कांस्ट्रेंट्स आन ग्रोथ : रिफ्लेक्शंस आन दि इंडियन एक्सपेरिएंस, दिल्ली : आर्थिक संवृद्धि संस्थान (अनुलेखित)

नंदी, ए. (1989) . दि पोलिटिकल कल्चर आफ दि इंडियन स्टेट, *दाहदेलस*, अमरीकी कला-विज्ञान अकादमी की पत्रिका, खंड 118, अंक 4

नय्यर, डी. (1976) : *इंडियाज एक्सपोर्ट्स एंड एक्सपोर्ट पालिसीज इन दि 1960 ज*, कैंब्रिज : कैंब्रिज यूनिवसिर्टी प्रेस

नय्यर, डी. (1978) : इंडस्ट्रियल डवलपमेंट इन इंडिया, *इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली* (विशेषांक), खंड 13, पृ. 1265-78

नुर्क्स, आर. (1953) : *प्राब्लम्स आफ कैपिटल फार्मेशन इन डवलपिंग कंट्रीज*, आक्सफोर्ड : बेसिल ब्लैकवेल

नुर्क्स, आर. (1959) : पैटर्न आफ *ट्रेड एंड डवलपमेंट*, *विकसेल व्याख्यान*, *एस. हेबरलर* और आर. एम. स्टर्न द्वारा संपादित *इक्विलिब्रियम एंड ग्रोथ इन दि वर्ल्ड इकानमी*, कैंब्रिज : मेसाचुसेट्स, 1961 में संकलित

नुनेनकैंप, पी. (1986) : स्टेट इंटरप्राइजेज इन डवलपिंग कंट्रीज, *इंटर-इकानमिक्स*, जुलाई-अगस्त, पृ. 186-93

**पंचमुखी, वी. आर.** (1978) : *ट्रेड पालिसीज आफ इंडिया : ए क्वांटिटेटिव एनालिसिस*, दिल्ली : कांसेप्ट

पब्लिशिंग हाउस

पटनायक, पी. (1987) : ए पर्सपेक्टिव आन दि रीसेंट फेज आफ इंडियन इकानमिक डवलपमेंट, विकास के चार दशकों पर *सोशल साइंटिस्ट* सेमिनार, नवंबर 1987 में प्रस्तुत आलेख

**पटेल**, आई. जी. (1985) : *आन दि इकानमिक्स आफ डवलपमेंट : टुवर्ड्स ए* कंसेंसस, स्टेम्प स्मृति व्याख्यान, लंदन विश्वविद्यालय

पटेल, आई जी. (1987) : आन टेकिंग इंडिया इनटू दि ट्वेंटी-फर्स्ट सेंचुरी, किंग्स्ले मार्टिन स्मृति व्याख्यान, नवंबर 1986, *माडर्न एशियन स्टडीज,* खंड 21, अंक 2 में पुनर्मुद्रित

पारिख, के. और सूर्यनारायण, एम. एच. (1991) : फर्टीलाइजर सब्सिडी : *आल्टरनेटिव्स एंड इंप्लिकेशंस,* बंबई : इंदिरा गांधी विकास अनुसंधान संस्थान (अनुलेखित)

पिंस्ट्रप-एंडरसन, पी. (1988) : फूड *सब्सिडीज इन डवलपिंग कंट्रीज : कास्ट्स, बेनेफिट्स एंड पालिसी आप्शंस,* बाल्टिमोर : जान हाप्किंस प्रेस

पियर्सन आयोग (1969) : *पार्टनर्स इन डवलपमेंट,* न्यूयार्क : प्रेगर

**पीकाक**, ए. टी. और वाइजमैन, जे. (1967) : *दि ग्रोथ आफ पब्लिक एक्सपेंडीचर इन दि यूनाइटेड किंग्डम,* लंदन : एलेन एंड अनविन

**पैक**, एच. और वेस्टफाल, एल. ई. (1986) : इंडस्ट्रियल स्ट्रैटेजी एंड टेक्नोलाजिकल चेंज : थ्योरी वर्सस रियालिटी, *जर्नल आफ डवलपमेंट इकानमिक्स,* 22, पृ. 87-128

**पैटन** कलबर्टसन, डब्ल्यू. (1989) : इंपीरिकल रेगुलारिटीज इन ब्लैक मार्केट्स फार करेंसी, *वर्ल्ड डवलपमेंट,* खंड 17, अंक 12, पृ. 1907-19

**पोलक**, जे. जे. (1957) : मानीटरी एनालिसिस आफ इनकम फार्मेशन एंड पेमेंट्स प्राब्लम्स, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, स्टाफ पेपर्स, खंड 5, अं. मु. कोष (1977) : *दि मानीटरी एप्रोच टू दि बैलेंस आफ पेमेंट्स,* वाशिंगटन डी. सी. में पुनर्मुद्रित

**प्रेबिश**, आर. (1950) : *दि इकानमिक डवलपमेंट आफ लेटिन अमेरिका,* संयुक्त राष्ट्र

**फिंडले**, आर. (1986) : ट्रेड, डवलपमेंट एंड दि स्टेट, आर्थिक संवृद्धि केंद्र, येल विश्वविद्यालय (अनुलेखित)

**फिशलो**, ए. (1985) दि स्टेट आफ लेटिन अमेरिकन इकानमिक्स, *इकानमिक एंड सोशल प्रोग्रेस इन लेटिन अमेरिका,* वाशिंगटन डी. सी. : अंतःअमरीकी विकास बैंक में संकलित

फिशलो, ए. (1990) : दि लेटिन अमेरिकन स्टेट, *जर्नल आफ इकानमिक पर्सपेक्टिव्स,* खंड 4, अंक 3

फील्ड्स, जी. (1984) : इम्प्लायमेंट, इनकम डिस्ट्रीब्यूशन एंड इकानमिक ग्रोथ इन सैवन स्माल ओपेन इकानमीज, *इकानमिक जर्नल,* मार्च 1984, खंड 94

फेडर, जी . (1983) : आन एक्सपोर्ट्स एंड इकानमिक ग्रोथ, *जर्नल आफ डवलपमेंट इकानमिक्स,* खंड 12

**फ्रांजमैन**, एम. और किंग, के. (1984) : *टेक्नोलाजिकल कैपेबिलिटी इन दि थर्ड वर्ल्ड,* न्यूयार्क : सेंट मार्टिन्स प्रेस

**बजाज**, जे. एल. और अग्रवाल, ओ. पी. (1991) : स्टेट फाइनांसेज : उत्तर प्रदेश राजकीय वित्त पर आयोजित सेमिनार में प्रस्तुत आलेख (19-20 अप्रैल), नयी दिल्ली : राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त एवं नीति संस्थान (अनुलेखित)

**बर्ग्समैन**, जे. (1970) : ब्राजील : इंडस्ट्रियलाइजेशन एंड ट्रेड पालिसीज, लंदन : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (आ. स. वि. संगठन के लिए)

**बर्धन**, पी. के. (1984) : *दि पोलिटिकल इकानमी आफ डवलपमेंट इन इंडिया,* दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

बर्धन, पी. के. (1988) : आल्टरनेटिव एप्रोचेज टू डवलपमेंट इकानमिक्स, एच. चेनरी और टी. एन. श्रीनिवासन द्वारा संपादित *हैंडबुक आफ डवलपमेंट इकानमिक्स*, खंड 1, एम्सटर्डम : नार्थ हालैंड में संकलित

बर्धन, पी. के. (1990) : सिम्पोजियम आन दि स्टेट एंड इकानमिक डवलपमेंट, *जर्नल आफ इकानमिक पर्सपेक्टिव्स*, खंड 4, अंक 3

बलासा, वी. (1978) : एक्सपोर्ट्स एंड इकानमिक ग्रोथ : फरदर एविडेंस, *जर्नल आफ डवलपमेंट इकानमिक्स*, खंड 5

बलावा, वी. (1990) : आउटवर्ड ओरिएंटेशन, एच. चेनरी और टी. एन. श्रीनिवासन द्वारा संपादित *हैंडबुक आफ डवलपमेंट इकानमिक्स*, खंड 2, एम्सटर्डम : नार्थ हालैंड में संकलित

बागची, ए. और सेन, टी. (1991) : बजटरी ट्रेंड्स एंड प्लान फिनांसिंग ऐट दि स्टेट्स ड्यूरिंग सिक्स्थ एंड सैंवथ पलान्स : ऐन ओवरव्यू, राजकीय वित्त पर आयोजित सेमिनार (19-20 अप्रैल 1991) में प्रस्तुत आलेख, नयी दिल्ली : राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त एवं नीति संस्थान (अनुलेखित)

बार्टोली, जी. (1989) : फिस्कल एक्सपेंशन एंड एक्सटर्नल करेंट एकाउंट इम्बैलेंसेज, आई ब्लेजर और की-युंग चू द्वारा संपादित *फिस्कल पालिसी, स्टेबिलाइजेशन एंड ग्रोथ इन डवलपिंग कंट्रीज*, वाशिंगटन डी. सी. : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में संकलित

बावेर, पी. टी. और यामी, बी. एस. (1957) : *दि इकानमिक्स आफ डवलपिंग कंट्रीज, कैंब्रिज : कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस*

*बिस्वास, बी. और नंदी, एस.* (1986) : दि ब्लैक मार्केट एक्सचेंज रेट इन ए डवलपिंग इकानमी : दि केस आफ इंडिया, *दि इंडियन इकानमिक जर्नल*, खंड 33, अंक 3. पृ. 23-33

बुखेनन, जे. एम. (1991) : इकानमिक्स इन दि पोस्ट-सोशलिस्ट सेंचुरी, *दि इकानमिक जर्नल*, खंड 101, अंक 404, पृ. 15-21

बैरोश, पी. (1975) : *दि इकानमिक डवलपमेंट आफ दि थर्ड सिंस 1990*, बर्कले : यूनिवर्सिटी आफ कैलीफोर्निया प्रेस

बैरोश, पी. (1982) : इंटरनेशनल इंडस्ट्रियलाइजेशन लेविल्स फ्राम 1750 टू *1980, दि जर्नल आफ यूरोपियन इकानमिक हिस्ट्री*, खंड 11, अंक 2

ब्यूटर, डब्ल्यू. एच. और पटेल, यू. आर. (1990) : डेट, डेफिसिट एंड इनफ्लेशन : ऐन एप्लिकेशन टू दि पब्लिक फाइनासेंज आफ इंडिया, अर्थशास्त्र विभाग, येल विश्वविद्यालय, न्यू हैवेन (अनुलेखित)

ब्रूटन, एच. (1990) : इंपोर्ट सब्सटीट्यूशन, एच. चेनरी और टी. एन. श्रीनिवासन द्वारा संपादित *हैंडबुक आफ डवलपमेंट इकानमिक्स*, खंड 2, एम्सटर्डम : नार्थ हालैंड में संकलित।

ब्लिस, सी. (1990) : ट्रेड एंड डवलपमेंट, एच. चेनरी और टी. एन. श्रीनिवासन द्वारा संपादित *हैंडबुक आफ डवलपमेंट इकानमिक्स*, खंड 2, एम्सटर्डम : नार्थ हालेंड में संकलित

भगवती, जे. और देसोई, पी. (1970) : *इंडिया : प्लानिंग फार इंडस्ट्रियलाइजेशन*, लंदन; आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (आ. स. वि. संगठन के लिए)

भगवती, जें. (1974) : *इल्लिगल ट्रांजक्शंस इन इंटरनेशनल ट्रेड*, एम्सटर्डम : नार्थ हालैंड

भगवती, जे. (1978) : *एनाटमी एंड कांसेक्वेंसेज आफ एक्सचेंज कंट्रोल रेजीम्स*, कैंब्रिज, मेसाचुसेट्स : वालिंगर

भगवती, जे. (1982) : डायरेक्टली अनप्रोडक्टिव प्राफिट-सीकिंग (डी. यू. पी.) एक्टिविटीज, *जर्नल आफ पोलिटिकल इकानमी*, खंड 90, पृ. 988

भगवती, जे. (1986) : *इनवेस्टिंग एब्राड, डिस्कशन पेपर्स शृंखला, संख्या* 319, कोलंबिया विश्वविद्यालय

(अनुलेखित)

भगवती, जे. (1987) : इंडियन इकानमिक परफारमेंस एंड पालिसी डिजाइन, सातवां सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास स्मृति व्याख्यान, बंबई : भारतीय बैंकर संस्थान, *बिजनेस स्टैंडर्स*, कलकत्ता, 24-26 दिसंबर में पुनर्मुद्रित

भगवती, जे. (1988 अ) : पावर्टी एंड पब्लिक पालिसी, *वर्ल्ड डवलपमेंट*, खंड 16, अंक 5

भगवती, जे. (1988 ब) : एक्सपोर्ट-प्रोमोटिंग ट्रेड स्ट्रेटेजी : इशूज एंड एविडेंस, *दि वर्ल्ड बैंक रिसर्च आब्जर्वर*, खंड 3, अंक 1

भट्टी, आई. जेड़ और शर्मा, एम. टी. आर. (1977) : सेविंग्स बिहेवियर इन इंडिया एंड इंप्लिकेशंस फार पालिसी, सी. डी. बघवा द्वारा संपादित *सम प्राब्लम्स आफ इंडियाज इकानमिक पालिसी*, नयी दिल्ली : टाटा मैकग्रा-हिल में संकलित

भारत सरकार (1951) : *फर्स्ट फाइव-इयर प्लान, 1951-56*. नयी दिल्ली : योजना आयोग

भारत सरकार (1956) : *सैकंड फाइव-इयर प्लान, 1956-61*. नयी दिल्ली : योजना आयोग

भारत सरकार (1961) : *थर्ड फाइव-इयर प्लान, 1961-66*. नयी दिल्ली : योजना आयोग

भारत सरकार (1964) : *रिपोर्ट आफ दि इंडस्ट्रियल डवलपमेंट प्रोसिजर्स कमेटी* (अध्यक्ष : टी. स्वामीनाथन्) नयी दिल्ली

भारत सरकार (1965) : *रिपोर्ट आफ दि मोनोपोलीज इनक्वायरी कमीशन*, दिल्ली

भारत सरकार (1967) : *फाइनल रिपोर्ट आन इंडस्ट्रियल प्लानिंग एंड लाइसेंसिंग पालिसी* (अध्यक्ष : आर. के. हजारी), नयी दिल्ली

भारत सरकार (1969) : *रिपोर्ट आफ दि इंडस्ट्रियल लाइसेंसिंग पालिसी इन्क्वायरी कमेटी* (अध्यक्ष : एस. दत्त), नयी दिल्ली

भारत सरकार (1970) : फोर्थ फाइव-इयर प्लान, 1969-74, नयी दिल्ली : योजना आयोग

भारत सरकार (1976) : फिफ्थ फाइव-इयर प्लान, 1974-79, नयी दिल्ली : योजना आयोग

भारत सरकार (1978 अ) : *रिपोर्ट आफ दि हाई पावर्ड कमेटी आन कंपनीज एंड एम. आर. टी. पी. एक्ट्स* (अध्यक्ष : आर. सच्चर), नयी दिल्ली

भारत सरकार (1978 ब) *रिपोर्ट आफ दि कमेटी आन इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट पालिसीज एंड प्रोसिजर्स* (अध्यक्ष, पी. सी. एलेक्जेंडर) वाणिज्य मंत्रालय, जनवरी

भारत सरकार (1979) : *रिपोर्ट आफ दि कमेटी आन कंट्रोल्स एंड सब्सिडीज* (अध्यक्ष : वी० दाग्ली), दिल्ली

भारत सरकार (1981) : *सिक्स्थ फाइव-इयर प्लान*, 1980-85. नयी दिल्ली : योजना आयोग

भारत सरकार (1984) : *रिपोर्ट आफ दि कमेटी आन ट्रेड पालिसीज* (अध्यक्ष : आबिद हुसैन), नयी दिल्ली : वाणिज्य मंत्रालय

भारत सरकार (1985 अ) : *रिपोर्ट आफ दि कमेटी टू एक्जामिन प्रिंसिपल्स आफ ए पासिबिल शिफ्ट फ्राम फिजिकल टू फाइनांशियल कंट्रोल्स* (अध्यक्ष : एन. नरसिंह), नयी दिल्ली : वित्त मंत्रालय

भारत सरकार (1985 ब) : *लांग-टर्म फिस्कल पालिसी*, नयी दिल्ली : वित्त मंत्रालय

भारत सरकार (1985 स) : *सैवथ फाइव-इयर प्लान*, 1985-90, खंड 1, नयी दिल्ली : योजना आयोग

भारत सरकार (1986 अ) : एडमिनिस्टर्ड प्राइस पालिसी : ए डिस्कशन पेपर, नयी दिल्ली : वित्त मंत्रालय

भारत सरकार (1986 ब) : *नेशनल पालिसी आन एजुकेशन*, नयी दिल्ली : मानव संसाधन विकास मंत्रालय

भारत सरकार (1990) : *बजट स्पीचेज आफ यूनियन फाइनांस मिनिस्टर्स, 1947-48 टू 1990-91*, नयी दिल्ली : वित्त मंत्रालय

भारतीय रिजर्व बैंक (1982) : *कैपिटल फार्मेशन एंड सेविंग इन इंडिया, 1950-51 टू 1979-80*, भारत

सरकार द्वारा बचतों के बारे में गठित कार्यकारी दल (अध्यक्ष : के. एन. राजा) की रिपोर्ट, बंबई

भारतीय रिजर्व बैंक (1990) : *रिपोर्ट आन करेंसी एंड फाइनांस* 1989-90, बंबई

मधुर, एस, (1990) : हाउसहोल्ड सेविंग्स इन फाइनांशियल एसेट्स, नयी दिल्ली : योजना आयोग (अनुलेखित)

महलनवीस, पी. सी. (1953) : सम आब्जर्वेशंस आन दि प्रोसेस आफ ग्रोथ आफ नेशनल इनकम, *संख्या*, खंड 12, पृ. 307-12

महलनवीस, पी. सी. (1955) : *ड्राफ्ट रिकमेंडेशंस फार दि फार्मूलेशन आफ दि सैकंड फाइव-इयर प्लान, 1956-61*, योजना आयोग

महलनवीस, पी. सी. (1960) : आपरेशनल रिसर्च माडल्स यूज्ड फार प्लानिंग इन इंडिया, पी. के. बोस और एम. मुखर्जी द्वारा संपादित *पेपर्स आन प्लानिंग*, कलकत्ता में पुनर्मुद्रित

माइकेली, एम. (1977) : एक्सपोर्ट्स एंड ग्रोथ : ऐन इम्पीरिकल इनवेस्टीगेशन, *जर्नल आफ डवलपमेंट इकानमिक्स*, खंड 4

मायर, जी. एम. (1990) : ट्रेड पालिसी एंड डवलपमेंट, एम. स्काट और डी. लाल द्वारा संपादित *पब्लिक पालिसी एंड इकानमिक डवलपमेंट : एस्सेज इन आनर आफ इयान लिटिल*, आक्सफोर्ड : क्लैरेंडन प्रेस में संकलित

मारिस, एस. (1991) : दि होल्डिंग कंपनी, परफारमेंस कांट्रेक्ट्स एंड टास्क ओरिएंटेशन : क्लीयरिंग दि ग्राउंड, सार्वजनिक उद्यम संस्थान, हैदराबाद : उस्मानिया विश्वविद्यालय (अनुलेखित)

मित्र, ए. (1977) : *टर्म्स आफ ट्रेड एंड क्लास रिलेशंस*, लंदन : फ्रैंक कास

मिश्र, एस. (1991) : इंडियाज टेक्सटाइल सेक्टर, नयी दिल्ली : नीति अनुसंधान केंद्र (अनुलेखित)

मुंडल, एस. और गोविंदराव, एम. (1990) : दि वाल्यूम एंड कंपोजिशन आफ गवर्नमेंट सब्सिडीज इन इंडिया : नयी दिल्ली : राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त एवं नीति संस्थान (अनुलेखित)

मुखर्जी, एम. (1969) : *दि नेशनल इनकम आफ इंडिया, ट्रेंड्स एंड स्ट्रक्चर, कलकत्ता*

मुनेल, ए. (1988) कमेंट्स आन एंड्रयूज, विलियम डी. एंड डेविड एफ. ब्रैडफोर्ड, सेविंग्स इनसेंटिव्स इन ए हाइब्रिड इनकम टैक्स, एच. जे. आरों आदि द्वारा संपादित *अनईजी कंप्रोमाइज : प्राब्लम्स आफ ए हाइब्रिड इनकम कंजम्पशन टैक्स*, वाशिंगटन : दि बुकिंग्स इंस्टीट्यूशन, पृ. 169-300 में संकलित

मुलजी एस. (1990) : विजन एंड रियालिटी आफ पब्लिक सेक्टर मैनेजमेंट : दि इंडियन एक्सपेरिएंस, एम. स्काट और डी. लाल द्वारा संपादित *पब्लिक पालिसी एंड इकानमिक डवलपमेंट*, आक्सफोर्ड : क्लैरेंडन प्रेस में संकलित

मैकार्थी, एफ., टेलर, एल. और तलाती, सी. (1987) : ट्रेड पैटर्न्स इन डवलपिंग कंट्रीज, 1964-82, *जर्नल आफ डवलपमेंट इकानमिक्स, खंड* 27. अंक 1-2. पृ. 5-39

मैकिनान, आर. आई. (1973) : *मनी एंड कैपिटल इन इकानमिक डवलपमेंट*, वाशिंगटन डी. सी. : दि ब्रुकिंग्स इंस्टीट्यूशन

मोडिग्लियानी, एफ. (1970) : दि लाइफ साइकल हाइपोथीसिस आफ सेविंग एंड इंटर-कंट्री डिफरेंसेज इन दि सेविंग रेशियो, डब्ल्यू . ए. एल्टिस आदि द्वारा संपादित *इंडक्शन, ग्रोथ एंड ट्रेड : एस्सेज इन आनर आफ सर राय हेरोद*, लंदन : क्लैरेंडन प्रेस में संकलित

मोहन, आर. और अग्रवाल वी. (1990) : कमांड्स एंड कंट्रोल्स : प्लानिंग फार इंडियन इंडस्ट्रियल डवलपमेंट, 1951-1990, *जर्नल आफ कंपेरेटिव इकानमिक्स*, खंड 14, पृ. 681-712

रंगराजन, सी. आदि (1989) : डायनामिक्स आफ इंटरएक्शन बिटवीन गवर्नमेंट डेफिसिट एंड डोमेस्टिक डेट इन इंडिया, *रिजर्व बैंक आफ इंडिया ओकेजनल पेपर्स*, खंड 10, अंक 3

रांगराजन, सी. आदि (1990) : दि बैलेंस आफ पेमेंट्स सिनारियो, सातवां जी. एल. मेहता स्मृति व्याख्यान, बंबई : भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान

राज, के. एन. (1984) : सम आब्जर्वेशंस आन इकानमिक ग्रोथ इन इंडिया ओवर दि पीरियड 1952-53 टू 1982-83, *इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, खंड 19, 13 अक्तूबर

राज, के. एन. (1986) : *न्यू इकानमिक पालिसी*, दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

रामनाथन्, वी. वी. (1989) : *प्रोइवेटाइजेशन इन डवलपिंग कंट्रीज*, लंदन : रुटलेज

राय, टी. और सेन, के. (1991) : चेंजेज इन सेविंग रेट एंड इट्स इंप्लिकेशंस फार ग्रोथ, *इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, खंड 26, अंक 20, 20 अप्रैल, पृ. 1055-58

राव, के. सी. एस. और माघवीलता, के. (1990) : प्रोडक्टिविटी एंड आपरेटिंग एफिशिएंसी इन पब्लिक इंटरप्राइजेज : ए स्टडी, प्रज्ञान, खंड 19, अंक 1

राव, वी. के. आर. वी. (1983) : *इंडियाज नेशनल इनकम, 1950-80 : ऐन एनालिसिस आफ इकानमिक ग्रोथ एंड चेंज*, दिल्ली : सेज पब्लिकेशंस

रुडोल्फ, एल. और रुडोल्फ, एस. (1987) : *इन परसूट आफ लक्ष्मी : दि पालिटिकल इकानमी आफ दि इंडियन स्टेट, बंबई :* ओरिएंट लांगमैन

रुबिन, बी. आर. (1985) : इकानमिक लिबरलाइजेशन एंड दि इंडियन स्टेट, *थर्ड वर्ल्ड क्वार्टरली*, खंड 7, अंक 4

रेड्डी, वाई. वी. (1989) : प्राइवेटाइजेशन इन इंडिया, वी. वी. रामनाथन् द्वारा संपादित *प्राइवेटाइजेशन इन डवलपिंग कंट्रीज*, लंदन : रुटलेज में संकलित

रोजेंस्टाइन-रोडन, पी. एन. (1943) : प्राब्लम्स आफ इंडस्ट्रियलाइजेशन इन ईस्टर्न एंड साउथ-ईस्टर्न यूरोप, *इकानमिक जर्नल*, खंड 53, पृ. 202-11

रोडरिक, डी. (1990) : हाउ शुड स्ट्रक्चरल प्रोग्राम्स बी डिजाइंड, *वर्ल्ड डवलपमेंट*, खंड 18, अंक 7, पृ. 933-47

रोमर, पी. एम. (1986) : इनक्रीजिंग रिटर्न्स एंड लांग-टर्म ग्रोथ, *जर्नल आफ पोलिटिकल इकानमी*, खंड 94, पृ. 1002-37

रोमर, पी. एम. (1987) : क्रेजी एक्सप्लेनेशंस फार दि प्रोडक्टिविटी स्लोडाउन, एस. फिशर द्वारा संपादित *एन. बी. ई. आर. मैक्रोइकानमिक्स एनुअल*, कैंब्रिज, मैसाचुसेट्स : एम. आई. टी. प्रेस

रोसी, एन. (1988) : गवर्नमेंट स्पेंडिंग, दि रियल इनटेरेस्ट रेट एंड दि बिहेवियर आफ लिक्विडिटी-कांस्ट्रेंड कंज्यूमर्स इन डवलपिंग कंट्रीज, *स्टाफ पेपर्स*, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, खंड 35. मार्च, पृ. 104-40

लव, जे. (1980) : राउल प्रेबिश एंड दि ओरिजिंस आफ दि डाक्ट्रिन आफ अनइक्वल एक्सजेंच, *लेटिन अमेरिकन रिसर्च रिव्यू*, खंड 15, नवंबर

लाकवुड, डब्ल्यू. डब्ल्यू. (1954) : *दि इकानमिक डवलपमेंट आफ जापान*, प्रिसंटन : प्रिसंटन यूनिवर्सिटी प्रेस

लाल, एस. (1990) : *बिल्डिंग इंडस्ट्रियल कंपीटेटिवनेस इन डवलपिंग कंट्रीज*, पेरिस : आर्थिक सहयोग-विकास संगठन

लाल, एस. और स्ट्रीटेन, पी. (1977) : *फारेन इनवेस्टमेंट, ट्रांसनेशनल्स एंड डवलपिंग कंट्रीज*, लंदन : मैकमिलन

लाल, डी. (1990) : इंटरनेशनल कैपिटल फ्लोज एंड इकानमिक डवलपमेंट, एम. स्काट और डी. लाल द्वारा संपादित *पब्लिक पालिसी एंड* इकानमिक डवलपमेंट : एस्सेज इन आनर आफ इयान लिटिल, *आक्सफोर्ड :* क्लैरेंडन प्रेस में संकलित

लिटिल, आई. एम. डी. और क्लिफोर्ड, जे. एम. (1965) : *इंटरनेशनल एड*, शिकागो : एल्डाइन पब्लिशिंग कंपनी

लिटिल, आई. एम. डी., शितोव्स्की, टी. और स्काट, एम. (1970) : *इंडस्ट्री एंड ट्रेड इन सम डवलपिंग कंट्रीज : ए कंपेरेटिव स्टडी*, लंदन : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (आ. स. वि. संगठन के लिए)

लेवी, वी. (1981) : आन एस्टीमेटिंग एफिशिएंसी डिफरेंशियल्स बिटवीन पब्लिक एंड प्राइवेट सेक्टर्स इन ए डवलपिंग कंट्री–इराक, *जर्नल आफ कंपेरेटिव इकानमिक्स*, खंड 5

ल्यूईस, डब्ल्यू. ए. (1954) : इकानमिक डवलपमेंट विद अनलिमिटेड सप्लाइज आफ लेबर, ए. एन. अग्रवाल और एस. पी. सिंह द्वारा संपादित *दि इकानमिक्स आफ अंडरडवलपमेंट*, लंदन : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस में संकलित

ल्यूईस, डब्ल्यू. ए. (1962) : एजुकेशन एंड इकानमिक डवलपमेंट, *इंटरनेशनल सोशल साइंस जर्नल*, पेरिस, खंड 14, पृ. 685-99

ल्यूईस डब्ल्यू, ए. (1978) : *ग्रोथ एंड फ्लक्चुएशंस*, लंदन : जार्ज एलेन एंड अनविन

विकर्स, जे. और येरो, जी. (1988) : *प्राइवेटाइजेशन : ऐन इकानमिक एनालिसिस*, कैंब्रिज : एम. आई. टी. प्रेस

विश्व बैंक (1987अ) : *कोरिया : मैनेजिंग दि इंडस्ट्रियल ट्रांजिशन*, खंड 1. वाशिंगटन डी. सी.

विश्व बैंक (1987ब) *वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट*, वाशिंगटन डी. सी.

विश्व बैंक (1988) : *टार्जेटेड प्रोग्राम्स फार दि पुअर ड्यूरिंग स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट*, निर्धनता और समायोजन पर एक संगोष्ठी का सारसंक्षेप, वाशिंगटन डी. सी.

विश्व बैंक (1990) : *वर्ल्ड डवलपमेंट रिपोर्ट*, वाशिंगटन डी. सी.

वुल्फ, एम. (1982) : *इंडियाज एक्सपोर्ट्स*, आक्सफोर्ड : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (विश्व बैंक के लिए)

वेंटी, एस. एफ. और वाइज, डी. ए. (1987) : आई.आर.ए'स. एंड सेविंग्स, एम. फेल्डस्टाइन द्वारा संपादित *दि इफेक्ट्स आफ टैक्सेशन आन कैपिटल एक्यूमुलेशन*, शिकागो : यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस, पृ. 7-48 में संकलित

वेस्टफाल, एल. ई. (1990) : इंडस्ट्रियल पालिसी इन ऐन एक्सपोर्ट-प्रोपेल्ड इकानमी : लेसन्स फ्राम साउथ कोरियाज एक्सपेरिएंस, *जर्नल आफ इकानमिक पर्सपेक्टिव्स*, खंड 4, अंक 3

शिक, ए. (1990) : व्हाई दि डेफिसिट परसिस्ट्स ऐज ए बजट प्राब्लम : रोल आफ पोलिटिकल इंस्टीट्यूशंस, ए. प्रेमचंद द्वारा संपादित *गवर्नमेंट फाइनांशियल मैनेजमेंट : इशू एंड कंट्री स्टडीज*, वाशिगंटन डी. सी. : अं. मु. कोष में संकलित

शितोव्स्की, टी. (1954) : टू कांसेप्ट्स आफ एक्सटर्नल इकानमोज, *जर्नल आफ पोलिटिकल इकानमी*, खंड 62

शुल्ज, टी. (1963) : द *इकानमिक वैल्यू आफ ऐजूकेशन*, न्यूयार्क, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस

शुल्ज, टी. (1988) : एजुकेशन इनवेस्टमेंट्स एंड रिटर्न्स, ए. चेनरी और टी. एन. श्रीनिवासन द्वारा संपादित *हैंडबुक आफ डवलपमेंट इकानमिक्स*, खंड 1, एम्सटर्डम : नार्थ हालैंड में संकलित

शेट्टी, एस. एल. (1990) : ओवरआल एस्पेक्ट्स आफ सेविंग्स : मेजरमेंट आफ सेविंग्स इन रीयल टर्म्स, यू. दत्त रायचौधुरी और ए. बागची द्वारा संपादित *डोमेस्टिक सेविंग्स इन इंडिया : ट्रेंड्स एंड इशूज*, नयी दिल्ली : विकास में संकलित

शेषन, ए. (1987) : *दि बर्डन आफ डोमेस्टिक डेट इन इंडिया*, रिजर्व बैंक आफ इंडिया ओकेजनल पेपर्स, खंड 8, अंक 1

शैपिरो, ए. और टेलर, एल. (1990) : दि स्टेट एंड इंडस्ट्रियल स्ट्रैटेजी, *वर्ल्ड डवलपमेंट*, खंड 18, अंक 6, पृ. 861-78

श्रीनिवासन, टी. एन. (1985) : नियो-क्लासिकल पोलिटिकल इकानमी, दि स्टेट एंड इकानमिक डवलपमेंट, *एशियन डवलपमेंट रिव्यू*, पृ. 38-58

सकारोपाउलस, जी. (1984) : दि कंट्रीब्यूशन आफ एजुकेशन टू इकानमिक ग्रोथ : इंटरनेशनल कंपेरिजन, जान डब्ल्यू. केंड्रिक द्वारा संपादित इंटरनेशनल *कंपेरिजंस आफ प्रोडक्टिविटी एंड काजेज आफ दि स्लोडाउन*, कैंब्रिज : बालिंगर में संकलित

सकारोपाउलस, जी. (1988) : एजुकेशन एंड डवलपमेंट : ए रिव्यू, *वर्ल्ड बैंक रिसर्च आब्जर्वर*, विश्व बैंक, वाशिंगटन डी. सी., खंड 3, अंक 1, जनवरी, पृ. 99-116

सरकार, एच. और पंडा, एम. (1990) : शार्ट टर्म फोरकास्टिंग एंड पालिसी एनालिसिस थ्रू ए स्ट्रक्चरल मैक्रो-इकानमिक माडल फार इंडिया, अंतर्देशिक प्रतिकृति प्रणाली पर यू. एन. डी. पी.–ई. एस. सी. ए. पी. सेमिनार (बैंकाक, जनवरी) में प्रस्तुत आलेख

समर्स, एल. एच. और कैरोल, सी. (1989) : दि ग्रोथ-सेविंग नेक्सस, बचत पर एन. बी. ई. आर. सम्मेलन, माउई में प्रस्तुत आलेख

साहू, आर. (1988) : दि ग्रीन रिवाल्यूशन एंड इंडस्ट्रियल ग्रोथ इन इंडिया : ए टेल आफ टू पैराडाक्सेज एंड हाफ, *इकानमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 16 अप्रैल, खंड 23

सिंगर, एच. (1950) : दि डिस्ट्रिब्यूशन आफ गेन्स बिटवीन इनवेस्टिंग एंड बारोइंग कंट्रीज, *अमेरिकन इकानमिक रिव्यू*, आलेख और कार्यवाइयां, खंड 40, पृ. 473-85

सिंह, एम. (1964) : *इंडियाज एक्सपोर्ट ट्रैंड्स एंड दि प्रास्पेक्ट्स आफ सेल्फसस्टेंड ग्रोथ, आक्सफोर्ड* : कलैरेंडन प्रेस

सिंह, एम. (1986) : *दि क्वेस्ट फार इक्विटी इन डवलपमेंट*, आर. आर. काले स्मृति व्याख्यान, पूना

सुंदरम, आर. एम. (1987) : *ग्रोथ एंड इनकम डिस्ट्रिब्यूशन इन इंडिया : पालिसी परफारमेंस सिंस इंडिपेंडेंस*, दिल्ली : सेज पब्लिकेशंस

सुंदरम, आर. एम. (1990) : *इकानमिक ग्रोथ इन थ्योरी एंड प्रेक्टिस*, लंदन : मैकमिलन

सेन, ए. (1983) : डवलपमेंट : व्हिच वे नाउ ? *दि इकानमिक जर्नल*, खंड 93

सेन, ए. (1989) : इंडियन डवलपमेंट : लेसंस एंड नान-लेसंस, *दाइदेलस*, अमरीकी कलाविज्ञान अकादमी की पत्रिका, खंड 118, अंक 4

सैक्स, जे. डी. (1987) : ट्रेड एंड एक्सचेंज रेट पालिसीज इन ग्रोथ-ओरिएंटेड एडजस्टमेंट प्रोग्राम्स, वृद्धिमुखी समायोजन कार्यक्रमों पर आयोजित सेमिनार (विश्व बैंक, वाशिंगटन डी. सी., 25-27 फरवरी) में प्रस्तुत आलेख (अनुलेखित)

सैक्स, जे. डी. (1989) : *डवलपिंग कंट्री डेट एंड दि वर्ल्ड इकानमी*, शिकागो : दि यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस

सोलोव, आर. एम. (1956) : ए कंट्रीब्यूशन टू दि थ्योरी आफ इकानमिक ग्रोथ, क्वार्टरली जर्नल आफ इकानमिक्स, खंड 32, पृ. 65-94

सौल, जे. (1979) : दि स्टेट एंड रिवाल्यूशन इन ईस्टर्न अफ्रीका, हाइनमैन एंड मंथली रिव्यू प्रेस, डेविड हेल्ड आदि (1983) द्वारा संपादित *स्टेट्स एंड सोसायटी*, आक्सफोर्ड : मार्टिन राबर्टसन में संकलित

स्काट, एम. और लाल, डी. (1990) : पब्लिक पालिसी एंड इकानमिक डवलपमेंट, आक्सफोर्ड : क्लैरेंडन प्रेस

स्टर्न, एन. (1991) : दि डिटरमिनेंट्स आफ ग्रोथ, *दि इकानमिक जर्नल*, खंड 101, अंक 404, पृ. 122-23

स्टिगलिट्ज, जे. ई. (1991) : ऐनदर सेंचुरी आफ इकानमिक साइंस, *दि इकानमिक जर्नल*, खंड 101, अंक 404

स्ट्रीटेन, पी. (1981) : *डवलपमेंट पर्सपेक्टिव्स*, लंदन : मैकमिलन

स्ट्रीटेन, पी. (1986) : सफरिंग फ्राम सक्सेस, फाक्सले, मैकफर्सन और औडोनेल द्वारा संपादित *डवलपमेंट, डेमोक्रेसी एंड दि आर्ट आफ ट्रेसपासिंग*, नोत्र देम : यूनिवर्सिटी आफ नोत्र देम प्रेस

स्मिथ, आर. (1989) : फैक्टर्स अफेक्टिंग सेविंग, पालिसी टूल्स एंड टैक्स रिफार्म, *आई. एम. एफ. वर्किंग पेपर*, संख्या 89/47, अं. मु. कोष, 23 मई

स्वरूप, डी. (1990) : इंडिया : डवलपमेंट्स इन गवर्नमेंट एकाउंटिंग एंउ फाइनांशियल मैनेजमेंट, ए. प्रेमचंद द्वारा संपादित *गवर्नमेंट एंड फाइनांशियल मैनेजमेंट : इशूज एंड कंट्री स्टडीज*, वाशिंगटन डी. सी. : अं. मु. कोष में संकलित

हक, एन. और मोंटिएल, पी. (1989) : कंजम्पशन इन डवलपिंग कंट्रीज : टेस्ट्स फार फाइनाइट होराइजन्स एंड लिक्विडिटी कंस्ट्रेंट्स, *रिव्यू आफ इकानमिक्स एंड स्टेटिस्टिक्स*, खंड 71

हर्शमैन,ए. ओ. (1968) : दि पोलिटिकल इकानमी आफ इम्पोर्ट सब्सटिट्यूटिंग इंडस्ट्रियलाइजेशन इन लेटिन अमेरिका, *क्वार्टरली जर्नल आफ इकानमिक्स*, खंड 82, अंक 1

हर्शमैन, ए. ओ. (1980) : दि वेल्फेयर स्टेट इन ट्रबल : सिस्टेमिक क्राइसिस आर ग्रोइंग पेन्स, *दि अमेरिकन इकानमिक रिव्यू*, खंड 72, अंक 2

हर्शमैन ए. ओ. (1982) : *शिफ्टिंग इनवाल्वमेंट्स : प्राइवेट इनटेरेस्ट एंड पब्लिक एक्शन*, आक्सफोर्ड : मार्टिन राबर्टसन

हर्शमैन,ए. ओ. (1987) : दि पोलिटिकल इकानमी आफ लेटिन अमेरिकन डवलपमेंट : सैवन एक्सरसाइजेज इन रिट्रास्पेक्शन, *लेटिन अमेरिकन रिसर्च रिव्यू*, खंड 22, अंक 3

हाउथेकर, एच. एस. (1965) : आन सम डिटरमिनेंट्स आफ सेविंग इन डवलप्ड एंड अंडरडवलप्ड कंट्रीज, ई. ए. जी. राबिंसन द्वारा संपादित *प्राब्लम्स आफ इकानमिक डवलपमेंट*, लंदन : मैकमिलन में संकलित

हेबरलर, जी. (1959) : इंटरनेशनल ट्रेड एंड इकानमिक डवलपमेंट, जी. मायर द्वारा संपादित *लीडिंग इशूज इन इकानमिक डवलपमेंट* (तीसरा संस्करण), दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस में पुनर्मुद्रित

हेलाइनर, जी. के. (1990) : ट्रेड स्ट्रैटेजी इन मीडियम-टर्म एडजस्टमेंट, *वर्ल्ड डवलपमेंट*, खंड 18, अंक 6, पृ. 879-97

हेस्टन, ए. और समर्स, आर. (1980) : कंपेरेटिव इंडियन इकानमिक ग्रोथ : 1870 टू 1970, *अमेरिकन इकानमिक रिव्यू*, खंड 70, अंक 2

हेस्टन, ए. (1983) : नेशनल इनकम, डी. कुमार और एम. देसाई द्वारा संपादित *दि कैंब्रिज इकानमिक हिस्टरी आफ इंडिया*, खंड 2, कैंब्रिज : यूनिवर्सिटी प्रेस में संकलित

हैंसन, ए. एच. (1963) : दि क्राइसिस आफ इंडियन प्लानिंग, *पोलिटिकल क्वार्टरली*, अक्तूबर-दिसंबर, स्वयं द्वारा संपादित *प्लानिंग एंड पोलिटिशियंस*, लंदन : रुटलेज एंड केगन पाल में पुनर्मुद्रित

हैमिल्टन, सी. (1989) : दि इरिलिवेंस आफ इकानमिक लिबरलाइजेशन इन दि थर्ड वर्ल्ड, *वर्ल्ड डवलपमेंट*, खंड 10, अंक 17, पृ. 1523-30

हैरिस, जे. (1987) : दि स्टेट इन रिट्रीट ? व्हाई हैज इंडिया एक्सपेरिएंस्ड सच हाफ-हर्टेड लिबरलाइजेशन इन दि 1980ज ?, *आई. डी. एस. बुलेटिन, ससेक्स*, खंड 18, अंक 4

हैवमैन, आर. एच. और वुल्फ, बी. (1984) : स्कूलिंग एंड इकानमिक वेलबीइंग : दि रोल आफ नान-मार्केट इफेक्ट्स, *जर्नल आफ ह्यूमन रिसोर्सेज*, खंड 19, अंक 3, पृ. 377-407

# अनुक्रमणिका

मुद्रक : डी.आर.प्रिंटर्स एण्ड कन्वर्टर्स प्रा. लि., बी–30, सैक्टर–9, नोएडा (फोन–914-521715)